मानव और संस्कृति

युलिआन ब्रोमलेय, रोमान पोदोल्नी

देवास् वाम् यामुन् इच्छन्ति

तेषाम् अन्यतमं देवम् पतिं

तेषाम् एव प्रभावेन प्रविवि

IMP

MONS

युलिआन ब्रोमलेय
रोमान पोदोल्नी

प्रगति प्रकाशन • मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लि.
चमेलीवाला मार्केट, एम.आई. रोड, जयपुर-302001

सूचना तो प्रदान करती ही है, साथ ही यह विचारोत्तेजक भी है। यही नहीं, मेरे विचार में, इसे पढ़कर पाठकों को अपने आचार-व्यवहार में, लोगों के प्रति, प्रकृति के प्रति अपने रुख में बहुत-सी बातों पर पुनर्विचार करने की भी प्रेरणा मिलेगी। इस प्रसंग में 'प्रेम और परिवार', 'संस्कृति और पारिस्थितिकी' तथा 'भविष्य के लिए परंपराएं' शीर्षक अध्याय उल्लेखनीय हैं।

पुस्तक में अनेक बार इस बात की चर्चा की गयी है कि किस प्रकार पुरातन का स्थान अभिनूतन लेता है। यहां यह कहना होगा कि सामाजिक विकास के पथ पर बढ़ रहे देशों के लिए लाक्षणिक दो सामाजिक-सांस्कृतिक परिघटनाओं पर हमें एकसाथ खुशी होती है—प्रगति के मार्ग में बाधक संस्थाओं के क्रमशः लुप्त होने पर तथा, इसके साथ-साथ, उन संस्थाओं के संरक्षण पर जिन्हें नष्ट नहीं होने देना चाहिए।

नृजातिविज्ञान, जो प्रस्तुत पुस्तक के लेखकों के अध्ययन का प्रमुख क्षेत्र है, अन्य ज्ञान-शाखाओं की तुलना में ऐसा विज्ञान है जिस पर थोड़े-से ही विशेषज्ञ काम करते हैं। 'मानव और संस्कृति' जैसी पुस्तक लिखने के लिए तो प्राचीन और अर्वाचीन लोकाचार और प्रथाओं, नैतिक मानकों और क़ानूनों, अपने परिवेश के प्रति मनुष्य के रुख, कला की विभिन्न विधाओं और रूपों तथा अन्य अनेक बातों का ज्ञान संचित होना आवश्यक है। पुस्तक में इसका प्रमुख विषय स्पष्टतः निरूपित किया गया है और अनेक रूपों में उसका अनुशीलन किया गया है। यह है "द्वितीय प्रकृति", अर्थात संस्कृति का विषय, उसकी विविधता और एकता का, उस सबका, जो मानव द्वारा निर्मित है और जिसमें हम नयी-नयी मंज़िलें जोड़ते जाते हैं। पुस्तक के पहले पृष्ठों पर यह आह्वान ध्वनित हुआ है कि "यदि कोई वर्तमान को समझना चाहता है तो उसे पहले अतीत को समझना होगा, जो इस वर्तमान को पोषित करता है"। मेरे विचार में, यह अत्यंत सारगर्भित आह्वान है। ये शब्द पृथ्वी के सभी लोगों को संबोधित हैं, विशेषतः उन सार्वजनिक और राजकीय संगठनों को, जिन्हें जनता ने सांस्कृतिक स्मारकों के संरक्षण का उदात्त कार्य सौंपा है। यह कार्य सर्वत्र ही एक सर्वजनीन हेतु होना चाहिए, वैसे ही जैसे प्रकृति की रक्षा का कार्य, हमारी इस जननी की रक्षा का कार्य, जो कोटि-कोटि वर्षों से हमें पोषित करती आयी है, हमें सांस लेने के लिए वायु, जीवन के लिए हरियाली और जल, हर्ष और स्वास्थ्य प्रदान करती है।

लेखकों के इन शब्दों से मैं पूर्णतः सहमत हूं कि "आज, जबकि मानवजाति की संस्कृति, उसकी सभ्यता के तापनाभिकीय ज्वाला में भस्म हो जाने का खतरा है, यह बात नितांत महत्वपूर्ण है कि सभी लोग उसकी अद्वितीयता को समझें"।

* * *

पुस्तक के लेखक – सोवियत विज्ञान अकादमी के नृजातिविज्ञान संस्थान के डायरेक्टर अकादमीशियन युलिआन ब्रोमलेय और लेखक रोमान पोदोल्नी – इस कृति में अपने प्रयासों में अनुपम तालमेल विठा पाये हैं।

सातवें दशक से अकादमीशियन युलिआन ब्रोमलेय की वैज्ञानिक रुचि मुख्यतः व्यापक नृजातीय समस्याओं की ओर अभिमुख रही है। इतिहास, नृजातिविज्ञान और समाजविज्ञान का सहसंबंध, जाति (जन) की परिभाषा जैसे गंभीर सैद्धांतिक विषयों पर उनकी पुस्तकें और लेख छपे हैं। सोवियत संघ और दूसरे देशों में नृजातिविज्ञान के विकास पर उनकी दसियों कृतियां प्रकाशित हुई हैं, इनमें से अनेक में विदेशी वैज्ञानिकों ने गहरी रुचि ली है और इनके अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। युलिआन ब्रोमलेय ने अनेक अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेसों में भाग लिया है, व्यापकतम अभिरुचियों के शोधकर्ता के नाते उनकी ख्याति वर्ष प्रति वर्ष बढ़ रही है। वह अंतर्राष्ट्रीय नृविज्ञान और नृजातिविज्ञान संघ के उपाध्यक्ष हैं।

संगठनात्मक-वैज्ञानिक कार्य की ओर भी युलिआन ब्रोमलेय बहुत ध्यान देते हैं। नृजातिविज्ञान संस्थान का, जिसकी मास्को और लेनिनग्राद में दो शाखाएं हैं, संचालन करते हुए वह संस्कृति की विभिन्न समस्याओं पर रचनाओं की मालाएं प्रकाशित करने में पहल लेते हैं, बहुखंडीय कृतियों तथा लेख-संग्रहों का संपादन करते हैं, हमारे देश के और दूसरे देशों के नृजातिविज्ञानियों, पुरातत्वविदों और समाजविज्ञानियों के साथ व्यापक संपर्क रखते हैं, समसामयिक विज्ञान के विकास की अग्रिम पंक्ति में रहते हैं। इस सबके फलस्वरूप भी प्रस्तुत पुस्तक की सामग्री इतनी विपुल बन पायी है और उसमें समसामयिक मूल्यांकन प्रतिबिंबित हुए हैं।

युलिआन ब्रोमलेय के सहलेखक हैं रोमान पोदोल्नी। उन्होंने इतिहास की शिक्षा पायी है और पिछले प्रायः पच्चीस वर्षों से 'ज्नानिये – सीला' (ज्ञान ही शक्ति है) नामक पत्रिका के संपादकमंडल में काम कर रहे हैं। इस पत्रिका में विज्ञान

की विभिन्न शाखाओं से संबंधित प्रश्नों पर सुबोध लेख छपते हैं, जो पाठकों को सोवियत और विदेशी वैज्ञानिकों की नवीनतम उपलब्धियों से अवगत कराते हैं। यह हमारे देश की एक बहुत लोकप्रिय पत्रिका है। भौतिकी और रसायन, खगोल-विज्ञान और भूगोल, जीवविज्ञान और आयुर्विज्ञान, इतिहास और पुरातत्व पर हज़ारों लेख यहां प्रकाशनार्थ आते हैं।

ऐसी पत्रिका के वातावरण में काम करते हुए, वैज्ञानिकों के बीच उठते-बैठते हुए रोमान पोदोल्नी नये अनुसंधानों में सदा गहरी रुचि लेते रहे हैं। अपनी पुस्तकों में वह पाठकों को विज्ञान के समसामयिक विकास और उपलब्धियों के बारे में सुबोध और सरस शैली में बताते हैं। इतिहास और नृविज्ञान की ओर वह सदा विशेष ध्यान देते आये हैं, इन विषयों पर उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं। इस प्रकार दो लेखकों का सहबंध बना है: 'मानव और संस्कृति' में पाठक हमारे देश के एक प्रमुख वैज्ञानिक का गहन ज्ञान और एक अनुभवी लेखक की सुरुचिपूर्ण शैली पायेंगे।

नताल्या गूसेवा,
नेहरू पुरस्कार विजेता

लेखकीय

इस पुस्तक में हम संस्कृति पर विचार करेंगे, उस संस्कृति पर, जो नाना-रूपी, विविधतापूर्ण, यहां तक कि अंतर्विरोधमय होते हुए भी एक है। चर्चा दिक् और काल में संस्कृति के विकास की होगी। व्यापकतम अर्थ में संस्कृति वह सब है, जिसका निर्माण मानवजाति ने किया है और कर रही है—श्रम के औज़ारों से लेकर घर-गृहस्थी की वस्तुओं तक, रीति-रिवाजों और रहन-सहन के ढंग से लेकर विज्ञान और कला, धर्म और अनीश्वरवाद, नैतिकता और दर्शन तक।

यह वह सोपान है जिसका मानवजाति अनवरत निर्माण करती आयी है—जोश और उमंग से भरकर, कठिनाइयों से जूझते हुए, दुख में भी और सुख में भी। संस्कृति में जीवन है, स्पंदन है, वह हमारे साथ-साथ परिष्कृत होती है और हमें भी परिष्कृत करती है।

इस प्रकार, मानव संस्कृति का रचयिता है और साथ ही उसकी रचना भी। इसीलिए हमने पुस्तक का यह शीर्षक चुना है—'मानव और संस्कृति'।

हम यह समझते हैं कि संस्कृति के प्रकार्यों का, मानवजाति ने जो कुछ बनाया है उसकी उत्पत्ति का और सारी पृथ्वी पर उसके प्रसार का प्रश्न वास्तव में एक अथाह विषय है। इस पर सुव्यवस्थित ढंग से प्रकाश डालने के लिए हज़ारों नहीं तो सैकड़ों खंड लिखने होंगे। प्रस्तुत पुस्तक तैयार करते समय हमने अपने सम्मुख यह कार्यभार रखा कि ठोस, जीवंत और विश्वासोत्पादक उदाहरण देकर यह दिखायें कि अपनी सारी विविधता के साथ-साथ मानवजाति की संस्कृति में एकता है और उसका विकास एकसमान नियमों के अनुसार होता है।

माननीय पाठक कृपया यह न सोचें कि इस पुस्तक में वे दत्त विषय से संबंधित सभी समस्याओं का विवरण पायेंगे। ऐसा तो संक्षेप में भी कर पाना कठिन है। हम तो उन्हें उस संस्कृति की झलक दिखाना चाहते हैं, जो सैकड़ों देशों में, सहस्रों वर्षों के दौरान कोटि-कोटि लोगों के कार्यों और ज्ञान से बनती है। हम चाहते हैं कि पाठक विश्व-संस्कृति के साथ अपनी संपृक्तता अनुभव कर पायें, कि सारी मानवजाति के समान हेतु में, संसार के सभी जनगण के श्रम और संघर्ष के निरंतर बढ़ते परिणाम में वे अपने स्थान को समझ पायें।

आज जबकि तापनाभिकीय युद्ध की आग में मानव-संस्कृति के, मानवजाति की सभ्यता के होम हो जाने का खतरा मंडरा रहा है, ऐसे में, हमारे विचार में, यह बात विशेषतः महत्वपूर्ण है कि सभी लोग अपनी संस्कृति की एकता और अद्वितीयता को समझें।
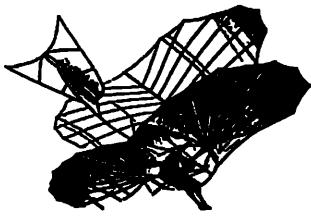
“द्वितीय प्रकृति”

अस्तित्वमान रहने के लिए मानव-समाज प्राकृतिक परिवेश के साथ द्रव्य, ऊर्जा और सूचना का विनिमय करता है। इस विनिमय के दो प्रमुख रूप हैं। पहले रूप का लक्षण है मानव द्वारा प्राकृतिक संसाधनों – वायु, जल, विभिन्न वनस्पतियों और जीवों, खनिजों, इत्यादि – का प्रत्यक्ष प्रयोग। प्रकृति के साथ इस प्रकार के भौतिक संबंधों का आधार हैं मनुष्य की शरीरक्रियात्मक आवश्यकताएं। प्राकृतिक परिवेश के साथ मानव के दूसरे प्रकार के भौतिक संबंध पूरी तरह से उसकी लक्ष्यबद्ध सक्रियता, अर्थात श्रम, के माध्यम से बनते हैं, दूसरे शब्दों में, ये संबंध श्रम द्वारा व्यवहित होते हैं। इन संबंधों का मर्म यह है कि लोग उस चीज़ की रचना करते हैं, जो प्रकृति में तैयार रूप में नहीं पायी जाती। ऐसा वे अपने विशेष, लक्ष्यबद्ध उत्पादन-कार्यकलाप की मदद से करते हैं, जो प्रकृति की विभिन्न सामग्रियों को मनुष्य की निश्चित आवश्यकताओं के अनुकूल बनाता है। प्रकृति के साथ सक्रिय सहसंबंध की यह लक्ष्यबद्ध विधि केवल मानव के लिए, या सही-सही कहा जाये तो मानव-समाज के लिए लाक्षणिक है। इस सक्रियता का परिणाम है “मानवीकृत” प्रकृति का प्रकट होना, जिसमें स्वयं मनुष्य की प्रकृति भी आती है। गोर्की के शब्दों में, श्रम द्वारा निर्मित यह “द्वितीय प्रकृति” ही “सच्चे और सही अर्थ में संस्कृति” है।

मानवजाति के इतिहास की गति के साथ-साथ इस “द्वितीय प्रकृति” का परिमाण निरंतर बढ़ता जाता है।

पुरातत्व में एक धारणा है – सांस्कृतिक परत। ज़मीन की उस परत को वैज्ञानिक सांस्कृतिक परत कहते हैं, जिसमें मनुष्य के कार्यकलाप के चिह्न मिले हों। उन गुफाओं में, जहां आदि लोग रहते थे, तथा लोगों के प्राचीनतम डेरों के स्थानों पर वैज्ञानिकों को पत्थर के औज़ार, राख, जानवरों की हड्डियां, बर्तनों के टुकड़े, आभूषण, इत्यादि मिलते हैं। इन खोजों की मदद से वे यह पता लगाते हैं कि अति प्राचीन काल में मानव-समूहों का उत्पादन कार्यकलाप क्या था और आत्मिक जीवन कैसा था।

पृथ्वी के हर कोने में, यहां तक कि दक्षिणध्रुव प्रदेश में, आज मानव के कार्यकलाप के चिह्न पाये जा सकते हैं। खेदवश, ये सभी ऐसे नहीं हैं, जिन पर हम गर्व कर सकें।

संस्कृति अंतरिक्ष में भी पहुंच रही है: अंतरिक्ष स्टेशन, मंगल, शुक्र, बृहस्पति की ओर भेजे गये राकेट, इन ग्रहों का अध्ययन करनेवाले उपकरण, सौर मंडल के दूरवर्ती भागों तथा तारों की ओर जा रही रेडियो-तरंगें – यह सब भी मानव-निर्मित है।

यहां हम उस क्षति का प्रश्न नहीं उठायेंगे, जो मनुष्य अपने कार्यकलाप से प्रकृति को प्रायः पहुंचाता है। लगता तो यही है कि मानवजाति ने इस ख़तरे को समझ लिया है और पर्यावरण के प्रति अपने ग़लत रुख़ के विरुद्ध संघर्ष की उसने घोषणा कर दी है।

मानवजाति की सृजनात्मक संभावनाएं दिन-प्रतिदिन बढ़ रही हैं। मानव-बुद्धि वह एकमात्र शक्ति है, जो प्रकृति की सभी शक्तियों का संज्ञान पा सकती है और उनका उपयोग कर सकती है।

मानव के हैं दो संसार।
एक ने है रचा मानव को,
दूसरे को रचता आया है मानव –
अपनी शक्ति और सामर्थ्य लगाता
आदिकाल से।

निकोलाई ज़ाबोलोत्स्की

संस्कृति की संतान

प्रकृति के साथ अपनी अन्योन्यक्रिया में मानव रॉबिन्सन क्रूज़ो की भांति एक अकेला नहीं होता। इस अन्योन्यक्रिया में वह एक सामाजिक जीव होता है, जो समुदाय के दूसरे सदस्यों के साथ निश्चित प्रकार के संबंधों, सर्वप्रथम उत्पादन संबंधों, से जुड़ा होता है। समाज के विकास के वैज्ञानिक सिद्धांत के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स ने ज़ोर देकर कहा है: "उत्पादन करने के लिए हमें एक दूसरे के साथ ख़ास ढंग के संबंध और रिश्ते क़ायम करने होते हैं, और केवल इन सामा-

जिक संबंधों और रिश्तों के तहत काम करते हुए हम प्रकृति पर अपने प्रभाव का उपयोग करते हैं...।"

मानवजाति का विकास किन्हीं आदर्श परिस्थितियों में नहीं हुआ। आधुनिक लोगों के प्राचीन पूर्वज एक दूसरे का सहारा लेकर ही, पहले आदिम यूथ में और फिर गोत्र एवं क़बीले में संगठित होकर ही अपना अस्तित्व बनाये रखने में सफल रहे। उनके लिए जीवन अत्यंत कठिन था, लेकिन वे एकाकी नहीं थे।

मानव-समाज के विकास का इतिहास संज्ञान का एक रोचक क्षेत्र ही नहीं, बल्कि विचारों के उग्र संघर्ष का अखाड़ा भी है। जैव से सामाजिक में छलांग कैसे लगी, स्वतोस्फूर्त ढंग से, आंतरिक उद्‌विकास के फलस्वरूप, या किसी बाह्य, परम शक्ति के प्रभाव में? मार्क्सवाद ने उस प्रमुख शर्त का पता लगाया है, जो मनुष्य को पशु से अलग करनेवाली सीमा-रेखा पार कर पाने के लिए आवश्यक थी। मानवजाति की उत्पत्ति की यह प्रमुख शर्त है श्रम।

पशु से मानव बनने की "छलांग" कब लगी?

२०वीं शती में नृविज्ञान की सबसे बड़ी सनसनी थी तंज़ानिया के ओल्डुवाई दर्रे में अंग्रेज़ पुरातत्वविद लुईस लिकी द्वारा तथाकथित होमो हैबिलिस – कुशल मानव – के अवशेषों की खोज। इस खोज से मानव-वंश की उत्पत्ति के समय के बारे में अब तक की धारणाएं बदल गयीं। अब जबकि ओल्डुवाई दर्रे में एकत्रित सामग्री का दसियों विशेषज्ञ विस्तार से अध्ययन कर चुके हैं, इसे एक प्रमाणित तथ्य माना जा सकता है कि औज़ारों की मदद से औज़ार बनानेवाला प्राचीनतम जीव पिथिकैन्थ्रोपस नहीं, बल्कि "होमो हैबिलिस" था। इसका अर्थ है कि मानव-जाति कहीं अधिक पुरानी है। वैसे तो "कुशल मानवों" को लेकर वैज्ञानिकों में अभी तक विवाद चल रहा है, कुछ विशेषज्ञ उन्हें प्राग्मानव ही मानते हैं, मानव-वंश का आरंभ वे पिथिकैन्थ्रोपस से ही हुआ समझते हैं। उधर सत्तरोत्तर दशक में कुछ और नृवैज्ञानिक खोजें हुई हैं, जिनमें पिथिकैन्थ्रोपस की खोजें भी हैं। इनसे यह पता चलता है कि ये भी कहीं अधिक पहले – लगभग बीस लाख वर्ष पहले ही – अस्तित्वमान थे। बात का सार यह है कि मानवजाति की अब तक जो आयु मानी जाती थी, उससे वह कहीं अधिक बड़ी है।

"होमो हैबिलिस" और पिथिकैन्थ्रोपस से होमो सेपिएन्स (आधुनिक मानव) तक मानवजाति के विकास में श्रम की अपार भूमिका का जीवंत प्रमाण यह तथ्य है कि इस प्रक्रिया के साथ-साथ, पुरातत्व के साक्ष्यों के अनुसार, श्रम के औज़ारों

तथा उन्हें बनाने की विधि में क्रमिक परिष्कार हुआ है। हमारे पूर्वजों में आये शारीरिक परिवर्तन श्रम संबंधी कार्यकलापों के विकास के साथ अटूट रूप से जुड़े हुए थे: हाथ का परिष्कार हुआ, मस्तिष्क का आकार बढ़ा तथा उसकी संरचना अधिक जटिल हुई। अंतोक्त का आधुनिक मानव के निरूपण में विशेष महत्व है। कोई चीज़ बनाने से पहले मनुष्य अपने विचारों में उसकी कल्पना करता है, उस चीज़ का एक बिंब मनुष्य के मस्तिष्क में बनता है। यह यथार्थ जगत के प्रतिबिंवन का विशेष रूप है, जो भौतिक उत्पादन के लिए अनिवार्य है। पशुओं में ऐसे प्रतिबिंबन की क्षमता नहीं होती है।

मनुष्य को न तो मधुमक्खियों की तरह अपना घर बनाने और न ही बीजू की तरह सुरंग खोदने की योग्यता अपने पूर्वजों से मिलती है। किसी भी अन्य स्तनपोषी जीव की तुलना में मनुष्य में जन्मजात, निरोपाधि प्रतिवर्तों का भंडार बहुत कम होता है। लेकिन सोपाधि प्रतिवर्त पाने, सूचना संचित करने की उसकी योग्यता कल्पनातीत है। मानव-मस्तिष्क में अपने चारों ओर के संसार का तथा स्वयं मानव का संज्ञान पाने की अपरिमित क्षमता है।

दसियों लाख वर्ष तक श्रम के औज़ारों का परिष्कार होता रहा और मानव-मस्तिष्क का विकास भी जारी रहा है। इन दो अपृथक प्रक्रियाओं में से कौन-सी अधिक तीव्र गति से होती रही?

जहां तक नृवैज्ञानिक और पुरातत्वीय खोजों से पता चलता है, आरंभ में मस्तिष्क तथा श्रम के औज़ारों के विकास की गति प्राय: एकसमान रही। कुछ युगों में मस्तिष्क का परिष्कार मानव द्वारा बनाये जा रहे औज़ारों के परिष्कार से अधिक तीव्र गति से हुआ। सुविदित है कि लाखों वर्ष तक व्यापकतम भूभागों में प्रस्तर तकनीक वहुत कम बदली, औज़ारों में गुणात्मक सुधार नगण्य ही रहे, लेकिन इन औज़ारों के निर्माताओं का मस्तिष्क अपरिवर्तित नहीं रहा । अनघड़ औज़ार बनाने के लिए मस्तिष्क के ऐसे विकास की, शायद, कोई आवश्यकता नहीं थी, लेकिन जटिल प्राकृतिक परिस्थितियों में इनका उपयोग अधिक व्यापक बनाने के लिए, प्रत्यक्षत:, ऐसा विकास आवश्यक था। वैसे तो उद्विकास का कोई लक्ष्य नहीं होता है, यहां "के लिए" की चर्चा मात्र भाषायी सुविधा हेतु की गयी है।

मस्तिष्क का विकास इसलिए नहीं हुआ कि उसके स्वामी ऐसा चाहते थे, और न ही इसलिए कि कोई बाहरी शक्ति मानव का ऐसा विकास देखना चाहती

थी। सच्चाई तो बस यह है कि अधिक परिष्कृत मस्तिष्कवाले लोग अधिक मात्रा में तथा अधिक अच्छा आहार पा सकते थे, ख़तरों से अधिक आसानी से बचते थे, इत्यादि।

होमो सेपिएन्स की उत्पत्ति के पश्चात मस्तिष्क में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन आने बंद हो गये, लेकिन औज़ारों का परिष्कार द्रुत गति से होता रहा है, और यह गति आज भी तीव्रतर होती जा रही है। मनुष्य के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह न केवल प्रकृति के, बल्कि स्वयं अपने सर्जन, अपनी रचना – संस्कृति – के अनुकूल अपने को ढाले, सामाजिक जीवन के नये मानकों का पालन करे। मात्र प्रकृति ने ही नहीं, अपितु संस्कृति ने भी मनुष्य के सम्मुख यह दृढ़ मांग रखी: अधिक बुद्धिमान बनो, अधिक ध्यान से काम करो, सीखो और याद करो, अन्यथा तुम्हारा अस्तित्व नहीं रहेगा। इस अर्थ में मानवजाति के बारे में कहा जा सकता है कि उसने स्वयं अपने को उद्विकास के शीर्षस्थल पर आसन्न किया है।

> शक्तियां महान असंख्य हैं जगत में,
> हो जो मनुष्य से बढ़कर –
> ऐसी कोई शक्ति नहीं प्रकृति में।
>
> **सोफ़ोक्लीज़**

प्रकृति का सच्चा अधिपति बनकर मानव अपने अस्तित्व की परिस्थितियों को स्वयं प्रकृति द्वारा इन्हें बदलने की गति से कहीं अधिक तेज़ी से बदलने लगा। और अब मानवजाति के लिए यह विशेषतः आवश्यक हो गया कि वह न केवल प्रकृति के अनुरूप, बल्कि स्वयं अपने, मानव-समाज के अनुरूप अपने को ढाले। यहां मानवजाति की एक सबसे बड़ी उपलब्धि थी परस्पर सहायता, मैत्री और भाईचारे की भावना का प्रकट होना। उत्खननों में ऐसे आदि लोगों के अवशेष मिलते हैं, जो कभी पंगु हो गये थे, और इसके बाद भी दसियों वर्ष तक जीवित रहे। पशुओं के बीच ऐसे अपाहिजों का मरना तय था। लेकिन लोगों ने उन्हें बचा लिया, उनकी टहल की। प्राकृतिक वरण की भूमिका अब घटती जा रही थी, उसका नाता मुख्यतः ऐसी बातों से रह गया था, जैसे कि इस या उस रोग को सहने की क्षमता, सीधी सौर-किरणें या ठंड सहने की क्षमता, इत्यादि।

अब यह सवाल उठ सकता है: आज से दसियों हज़ार साल पहले क्रोमेगनॉन मानव को ऐसे मस्तिष्क की क्या आवश्यकता थी जो कि हमारे समसामयिक मानव के मस्तिष्क से ज़रा भी भिन्न नहीं था, उस मानव के मस्तिष्क से, जो साक्षर है, जो अपने रचे विज्ञान के बल पर तारों को छू रहा है?

अन्य बातों के अलावा इसका एक कारण यह है कि आदिम समाज के प्रत्येक वयस्क सदस्य को वह सब याद रखना होता था, जो उसके समुदाय को अपने क्षेत्र के पशु-पक्षियों और वनस्पतियों के बारे में ज्ञात होता था, वह सब, जो उसे बचपन से ही गोत्र और क़बीले के बारे में, भूत-प्रेतों और टोटेमों (गणचिह्नों) के बारे में, आसपास के इलाक़ों और वहां बसे क़बीलों के बारे में बताया जाता था। इस विशाल सूचना-भंडार में जटिल रक्त-संबंधों, रिश्तों-नातों के बारे में जानकारी का भी महत्वपूर्ण स्थान होता था, क्योंकि गोत्र में लोगों के बीच प्राय: सभी सामाजिक एवं उत्पादन संबंध इन्हीं संबंधों का रूप ग्रहण करते थे।

हमारे समसामयिक मानव को अपने समाज के सूचना-भंडार का अपेक्षाकृत अल्प अंश ही अपनी स्मृति में बनाये रखना होता है, इस भंडार के वर्ष-प्रतिवर्ष बढ़ने के साथ-साथ यह अंश कम होता जाता है। विशेषज्ञों का कहना है कि मानव-मस्तिष्क में चिंतन के लिए उत्तरदायी भाग – प्रांतस्था (कार्टेक्स) – की तंत्रिकोशिकाओं के बड़े अंश का आधुनिक मानव उपयोग नहीं करता। हो सकता है कि यह संकट की स्थिति के लिए आरक्षित भंडार हो, या फिर ये तंत्रिकोशिकाएं किसी न किसी तरह चिंतन में भाग लेती हों और आदि मानव से हमें मिली यह निधि भविष्य में काम आये। बहरहाल, मानवजाति का और विकासमान समष्टि के सदस्य के नाते प्रत्येक व्यक्ति का बौद्धिक विकास जारी है, क्योंकि, एंगेल्स के शब्दों में, "ज्यों-ज्यों मनुष्य प्रकृति को बदलना सीखता गया, त्यों-त्यों उसकी बुद्धि का विकास होता गया"। प्रकृति को बदलने की हमारी योग्यता तो आज भी बढ़ती जा रही है। और मनुष्य बढ़ती सांस्कृतिक धरोहर को आधार बनाकर अपनी बुद्धि का निरंतर अधिक उपयोग करना सीख रहा है।

संस्कृति की चर्चा करते हुए हम सर्वप्रथम इतिहास से संबंधित विषयों की सामग्री को लेते हैं, सो हम चाहते हैं कि माननीय पाठक इन ज्ञान-शाखाओं की बहुपक्षीयता को ही नहीं, उनकी गहराई और विस्तार को भी ध्यान में रखें।

हममें से प्रत्येक मानव के पीछे पूरी मानवजाति का, हमारी अपनी जाति का अतीत है। हमारे आचार-व्यवहार और विचारों में इतिहास व्याप्त है, इति-

हास हमारी बहुत-सी आदतें और अभिरुचियां निर्धारित करता है, हमें जीवन की पद्धति विशेष प्रदान करता है, हमारा व्यवसाय तय करता है। इतिहास के ही प्रभाव में हमारा विश्वबोध बनता है। हमारे नामों के पीछे भी इतिहास है।

एक नज़र अपने आसपास

आइये, हम आपको एक रूसी पुरुष और एक रूसी स्त्री से मिलाते हैं। पुरुष का नाम है पावेल अलेक्सान्द्रोविच कुज़्नेत्सोव और स्त्री का नाम है लीदिया व्लादी-मिरोव्ना मेर्कुलोवा।

रूसी लोगों के लिए ये आम, प्रचलित नाम हैं। लेकिन "पावेल" नाम प्राचीन लैटिन भाषा से अनेक भाषाओं में आया है। लैटिन में इसका अर्थ था "नन्हा"। "अलेक्सान्द्र" प्राचीन यूनानी नाम है। इसका अर्थ है "त्राता"।

"अलेक्सान्द्रोविच" – पैतृक नाम है, इसका अर्थ है "अलेक्सान्द्र का बेटा"। नाम के साथ पैतृक नाम सभी देशों में नहीं जोड़ा जाता है। अंग्रेज़, जर्मन, फ़्रांसीसी तथा अन्य बहुत-से जनगण पैतृक नाम के बिना ही काम चलाते हैं। साथ ही कई ऐसे जनगण भी हैं, जिनके यहां न केवल बेटे के नाम के साथ पिता का नाम जुड़ता है, बल्कि पिता के नाम के साथ भी बेटे का नाम जुड़ता है।

"कुज़्नेत्सोव" रूस में एक सर्वाधिक प्रचलित कुलनाम है। ठेठ अंग्रेज़ी कुलनाम "स्मिथ", जर्मन "श्मिदृत", एस्तोनियाई "सेप्प" – ये सभी "लौहार" हैं। लौहार का व्यवसाय बहुत महत्वपूर्ण था, अक्सर यह पेशा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता था (कई देशों में पुराने ज़माने में और कहीं-कहीं तो अब भी लौहारों के पूरे कुटुंब होते हैं, कुछ निश्चित परिवारों के सदस्यों को ही यह आवश्यक, कठिन और प्राय: पवित्र माना जानेवाला काम करने की इजाज़त होती है), सो यह समझना कठिन नहीं कि "लौहार" शब्द से बने कुलनाम अनेक जनगण में इतने प्रचलित क्यों हैं।

वैसे तो, लोगों का अपने नाम के साथ कुलनाम लगाना भी कोई बहुत पुरानी बात नहीं है। सबसे पहले संभ्रांत कुलों के लोगों ने अपने नाम के साथ कुलनाम लगाना आरंभ किया और फिर दूसरे सभी लोगों ने भी।

"लीदिया" नाम में उस प्राचीन देश का नाम बना हुआ है, जो कभी वर्तमान पश्चिमी तुर्की के भूक्षेत्र में स्थित था। आज से ढाई हज़ार साल पहले फ़ारस के

बादशाह कुरुष ने लीदिया राज्य को धराशायी किया था, लेकिन उसका नाम आज भी चल रहा है। यहां हम इतना और बता दें कि रूस में बच्चियों का नाम "लीदिया" रखने का रिवाज १६वीं शती में चला। हां, नामों के भी रिवाज होते हैं। ऐसे रिवाज के आने और जाने के (पहनावे के रिवाज की ही तरह) अपने कारण होते हैं। रूसी समाज में उत्पन्न हुई इतिहास के प्रति प्रबल रुचि ही रूस में "लीदिया" नाम के प्रचलित होने का एक कारण थी।

हम आपको जिन लीदिया जी से परिचित करा रहे हैं, उनके पिता का नाम प्राचीन रूस के एक पहले राजा व्लादीमिर के नाम पर रखा गया। व्लादीमिर का अर्थ हिंदी में होगा संसार का स्वामी, अर्थात जगन्नाथ। व्लादीमिरोव्ना का अर्थ है व्लादीमिर की बेटी। लीदिया व्लादीमिरोव्ना के कुलनाम के बारे में निम्न बात कही जा सकती है:

यह ठेठ रूसी कुलनाम है, जो व्यापार के संरक्षक रोमन देवता मर्करी (बुध) के नाम से बना है। प्राचीन रोमवासी प्रायः अपने पुत्रों का नाम मर्करी रखते थे। ऐसे ही एक मर्करी तीसरी शती ई० में ईसाई धर्म का प्रचार करते हुए शहीद हुए थे, सो ईसाई धर्म में उन्हें संत माना जाने लगा। इस मर्करी के नाम पर ही उस मठवासी का नाम रखा गया था, जो १३वीं शती में स्मोलेंस्क का बिशप बना। इस बिशप की स्मृति में ही हज़ारों रूसी किसान बच्चों का नाम "मेर्कुरी" रखा जाने लगा, साधारण बोल-चाल में थोड़ा भ्रष्ट होकर यह नाम "मेर्कुल" हो गया। मेर्कुल से ही कुलनाम बना मेर्कुलोव। यहां पाठकों को इतना और बता दें कि रूसी में स्त्रियों के कुलनाम में "आ" जुड़ जाता है, सो, लीदिया का कुलनाम मेर्कुलोव नहीं, मेर्कुलोवा है।

हम जो कुछ खाते-पीते हैं, जिन चीज़ों का अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में इस्तेमाल करते हैं, उनका भी अपना इतिहास है।

कॉफ़ी सबसे पहले इथियोपिया में उगायी गयी। मक्खन बनाने का काम प्राचीन मिस्र में शुरू हुआ था, वहीं पर पहली खमीरी रोटी पकायी गयी थी। टमाटर दक्षिणी अमरीका से आये हैं। शाकाहार भारत में ८वीं शती ई० पू० में ही प्रचलित था और वहां से कालांतर में बौद्ध धर्म के साथ सारे संसार में फैला।

हमारे चारों ओर जो मानवनिर्मित वस्तुएं हैं, वे भी पहली बार अलग-अलग युगों में और अलग-अलग देशों में बनीं।

लकड़ी की लुगदी से बना काग़ज़ दो हज़ार साल से भी अधिक पुराना है। सबसे पहले ऐसा काग़ज़ चीन में बनाया गया था।

दीवार में बनी अल्मारी का यूरोप में प्रचलन बहुत पुराना नहीं है। यह जापान से आयी है, जहां यह घरों में परंपरागत है।

पानी की टूटी छोटी-बड़ी नलियों की पूरी प्रणाली का, जो हमारे फ़्लैट को जल-स्रोत से जोड़ती है, अंतिम बिंदु है। नलियों से बनी जल-प्रणाली का उपयोग तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में क्रीट द्वीप पर होता था, फिर प्राचीन रोम में हुआ और मध्ययुगीन रूसी नगर नोवगोरोद में भी।

मेज़ प्रायः उतने ही हज़ार साल पुरानी है, जितनी कि मानव-सभ्यता है। मूल रूप से उसमें कोई परिवर्तन नहीं आये हैं। नियमतः, मेज़ में सदा चार पाये रहे हैं और प्रायः सर्वत्र ही वह लकड़ी से बनायी जाती रही है। कुर्सी मेज़ से कहीं अधिक "जवान" है।

ऐसा माना जाता है कि कुर्सीनुमा सिंहासन सदा सम्मानित आसन था। शायद इसलिए भी, न कि केवल सुविधाजनक होने के कारण ही कुर्सी बेंचों और गद्दियों पर विजय पाती हुई अनेक देशों में फैल गयी है। वैसे तो आज भी अनेक अरब, जापानी और भारतीय लोग फ़र्श पर, चटाई, मसनद या क़ालीन पर बैठना अधिक पसंद करते हैं।

रसोईघर में गैस के चूल्हे पर जलती आग प्राचीन युग के अलाव की लौ की सीधी वंशज है।

टेलीविजन यही कोई पचास साल पुराना है। रेडियो उससे थोड़ा बड़ा है– उसे बने अस्सी साल से कुछ अधिक समय हुआ है।

हमारी दैनंदिन संस्कृति में बहुत कुछ हमारे अपने देश के तथा दूसरे देशों के भी अतीत से जुड़ा हुआ है। विश्व-इतिहास का अध्ययन करते हुए, फ़राऊनों के युग के मिस्र के बारे में पढ़ते हुए, भारत और यूनान के मिथक तथा रोम के विजयी अभियानों की कहानियां सुनते हुए, दूसरे जनगण की पुरानी और नयी सभ्यताओं से परिचित होते हुए हम न केवल मानवजाति के इतिहास का, अपितु स्वयं अपने अतीत और वर्तमान का–सारी मानवजाति के इतिहास के परिणाम का–ज्ञान पाते हैं।

यदि कोई वर्तमान को समझना चाहता है, तो उसे पहले अतीत को समझना होगा, जो इस वर्तमान को पोषित करता है।

मत सोचो कि खड़े हो तुम
केवल यहां, इस घड़ी में, वर्तमान में।
कल्पना करो कि चल रहे हो तुम
सीमा पर अतीत औ' भविष्य की।

लेओनीद मार्तीनोव

संस्कृति की परिभाषा

निस्संदेह, आज हम अपने पूर्वजों से अधिक जानते हैं और उनसे कहीं अधिक तरह के काम कर सकते हैं। इसका कारण सर्वप्रथम यह है कि हमारे से पहले संस्कृति का जो भवन निर्मित हो चुका है, उसमें हम नयी-नयी मंज़िलें जोड़ते जाते हैं।

इस पुस्तक में हम व्यापक अर्थ में संस्कृति की चर्चा कर रहे हैं। इस विषय पर नाना दृष्टिकोण हैं और संस्कृति की तदनुरूप विभिन्न परिभाषाएं हैं। हम संस्कृति की उस परिभाषा को मानते हैं, जिसके अनुसार "संस्कृति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों और योग्यताओं के तथा समाज के विकास का ऐतिहासिकतः निर्धारित स्तर है। यह स्तर लोगों के जीवन और कार्यकलाप के संगठन के रूपों एवं प्रकारों में तथा लोगों द्वारा निर्मित भौतिक एवं आत्मिक मूल्यों में व्यक्त होता है।" इस सामान्य परिभाषा के अलावा संस्कृति की संकल्पना का उपयोग ऐतिहासिक युगों की विशिष्टता इंगित करने के लिए (जैसेकि प्राचीन विश्व की संस्कृति), किन्हीं ठोस समाजों अथवा जातियों की लाक्षणिकता सूचित करने के लिए (उदाहरणतः, इंकों की संस्कृति), मानव गतिविधि के क्षेत्रों को अभिलक्षित करने के लिए (उदाहरणतः, श्रम-संस्कृति, अर्थात श्रम का ढंग, तौर-तरीक़े, आदि) तथा, अंततः, अधिक संकीर्ण अर्थ में लोगों के आत्मिक जीवन के प्रसंग में हो सकता है।

हम इस मार्क्सवादी समझ को मानकर चले हैं कि अटूट रूप से परस्परसंबद्ध भौतिक और आत्मिक संस्कृति के विकास का आधार भौतिक उत्पादन ही है। प्रत्येक सामाजिक-आर्थिक विरचना के लिए निश्चित रूप की संस्कृति लाक्षणिक होती है; एक विरचना से दूसरी में संक्रमण के साथ संस्कृति का यह रूप भी

बदलता है, इसके साथ ही विगत संस्कृति में जो कुछ मूल्यवान है, वह धरोहर में पाया जाता है। सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं के मार्क्सवादी सिद्धांत में मानव-जाति के इतिहास को प्राकृतिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार यह सिद्धांत इतिहास की और परिणामतः संस्कृति के, मानव-समाज के विकास की प्रमुख अवस्थाओं की भी वैज्ञानिक समझ और काल-निर्धारण के लिए वास्तविक आधार प्रदान करता है। इसलिए हम सोचते हैं कि हमारे पाठक इसकी ओर विशेष ध्यान देंगे।

बहरहाल, हम यहां प्रमुख बात पर ही ज़ोर देना चाहते हैं, इस बात पर कि प्रत्येक सामाजिक-आर्थिक विरचना के आधार में उत्पादन पद्धति निहित होती है, जबकि भौतिक उत्पादन के सिलसिले में लोगों के बीच संबंध, अर्थात उत्पादन संबंध इसका (विरचना का) सारतत्व होते हैं, कि इसके साथ ही विरचना में इन उत्पादन संबंधों द्वारा निर्धारित अधिरचना भी शामिल होती है। अधिरचना वैचारिक संबंधों और दृष्टिकोणों की समष्टि है। राजनीति, विधि, नीति, दर्शन, कला और तत्संबंधी संगठन एवं प्रतिष्ठान अधिरचना में आते हैं। हम यह भी इंगित करना चाहेंगे कि अधिरचना में परिवार का प्रकार, रहन-सहन, इत्यादि की वे अवधारणाएं भी समाविष्ट हैं, जो प्रस्तुत पुस्तक के विषय के लिए नितांत महत्वपूर्ण हैं।

जिन सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं में उत्पादन संबंधों के क्षेत्र में विग्रहपूर्ण वर्गीय अंतर्विरोध (व्याघात) व्याप्त होते हैं, उनमें आत्मिक संस्कृति के विकास का स्वरूप अंतर्विरोधमय और वर्ग-विभेदित होता है। उदाहरणतः, पूंजीवाद की परिस्थितियों में प्रभावी बुर्जुआ संस्कृति के अलावा जनवादी और समाजवादी संस्कृति का भी विकास होता है। समाजवादी सामाजिक-आर्थिक संबंधों की अभि-पुष्टि के साथ नयी संस्कृति की भी अभिपुष्टि होती है, जो अपने अंतर्य में समाज-वादी तथा जातीय रूपों में विविधतापूर्ण और चरित्र में अंतरजातीय होती है। अधिक ऊंचे स्तर पर संगठित सामाजिक-आर्थिक विरचना की संस्कृति के नाते समाजवादी संस्कृति में मानवजाति द्वारा अपने सारे पूर्ववर्ती इतिहास में संचित प्रगतिशील सांस्कृतिक मूल्यों का समाहार होता है।

लोगों की जीवन-सक्रियता की स्वयं उनके हाथों और उनकी बुद्धि से निर्मित परिस्थितियां और साधन ही संस्कृति हैं। यहां आशय लोगों के अस्तित्व के अप्रा-कृतिक (मानवनिर्मित) परिवेश से, उनकी सक्रियता (कार्यकलाप) के औज़ारों

से तथा साथ ही उनके कौशल, ज्ञान और जीवन-मूल्यों के बारे में उनकी धारणाओं से है, जिनकी अभिव्यक्ति लक्ष्यबद्ध संक्रियाओं में होती है।

यहां "लक्ष्यबद्ध" शब्द ध्यान देने योग्य है। मानव ही पृथ्वी पर एकमात्र ऐसा जीव है, जो अपनी संक्रियाओं के लक्ष्य को समझ सकता है।

तो, देखा आपने, "संस्कृति" की संकल्पना में क्या कुछ शामिल नहीं है! पहनावा और पुस्तकें, मिलें और पुल, सिम्फ़नियां और नृत्य–यह सब मानव-निर्मित है, अतः संस्कृति है। लेकिन कल्पनातीत आकार का यह "संग्रह" मानव-सक्रियता के उत्पादों का अस्त-व्यस्त ढेर मात्र नहीं है। इसके घटक तत्व एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

बहुत पहले ही पृथ्वी से लुप्त हो चुके समाजों के अवशेष खोजकर उनका अध्ययन करनेवाले पुरातत्वविद प्रायः किन्हीं गिनी-चुनी वस्तुओं के आधार पर सारी संस्कृति का चित्र बनाते हैं। यह देखिये, संग्रहालय में हड्डी की बनी कांटेदार बर्छी रखी है, जिसकी मूठ में छेद है। उस समाज के बारे में क्या कहा जा सकता है, जिसके सदस्यों के लिए यह बर्छी शिकार का प्रमुख आयुध थी? बर्छी की मूठ में छेद यह बताता है कि इस समाज में आखेट से प्राप्त आहार में समुद्री जीवों का अंश बहुत बड़ा था। ऐसे छेद में रस्सा डाला जाता है और उसकी ज़रूरत तब होती है, जबकि घायल शिकार भी आखेटक से अधिक तेज़ रफ़्तार से बढ़ सकता हो। इस समाज के सदस्य, प्रत्यक्षतः, बर्छी के अलावा चाक़ू (कटार) और भाले से तथा, संभवतः, धनुष-बाण से भी परिचित थे। चूंकि बर्छी हड्डी से बनी है, इसलिए इसका अर्थ यह है कि यहां अभी धातु पाना और उसे संसाधित करना नहीं सीखा गया था। इस प्रकार, इस समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर का, सामाजिक विकास के सोपान का अनुमान लगाया जा सकता है–यह समाज उस काल का था, जब वर्गों का उदय नहीं हुआ था, अथवा जब यह उदय हो ही रहा था, अर्थात यह प्राक्‌वर्गीय अथवा आरंभिक वर्गीय समाज था। इस समाज में गोत्र व्यवस्था के लक्षण प्रखर हो चुके थे।

एक और उदाहरण देखिये। पुरातत्वविदों को एक ठीकरा मिला है। इससे वे यह अर्थ लगाते हैं कि मिट्टी के इस बर्तन का उपयोग जो लोग करते थे, वे उत्पादन के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सीमा लांघ चुके थे–नियमतः, कृषि-कार्य सीख चुकने के पश्चात ही मिट्टी के बर्तन बनने शुरू होते हैं। जिन दिनों

मिट्टी के बर्तन प्रकट होते हैं, उस समय तक आखेट और क़बीलों के बीच मुठ-भेड़ों में प्रमुख आयुध धनुष बन चुका होता है। बहुत संभव है, हालांकि अनिवार्य नहीं है, कि ठीकरों के पास ही कहीं धातु की कोई वस्तु मिले।

संस्कृति के तत्वों का यह अन्योन्यसंबंध तब विशेष स्पष्टता के साथ प्रकट होता है, जब इन तत्वों में से कोई एक बदल जाता है। न्यू गिनी के इतिहास से एक उदाहरण लें। वहां लोहे की कुल्हाड़ी के प्रकट होते ही पपुआ लोग पत्थर की कुल्हाड़ी के सम्मुख उसकी श्रेष्ठता समझ गये। अब एक ही परिवार के पुरुष भावी खेत के लिए जंगल काटने का काम कर सकते थे, जबकि पहले पूरे समुदाय को मिलकर काम करना होता था। लेकिन उत्पादक शक्तियों में ऐसे परिवर्तन से बहुत शीघ्र ही समुदाय का अस्तित्व संकट में पड़ गया।

बात का मर्म यह है कि संस्कृति के सभी घटक अंश एक दूसरे से जुड़े होते हैं। उदाहरणतः, समाज में आर्थिक कार्यकलाप के रूप और समाज की धार्मिक आस्थाओं के बीच संबंध होता है। बच्चों की शिक्षा-दीक्षा के कुछ विशिष्ट लक्षण भी आर्थिक कार्यकलाप के रूप के साथ जुड़े होते हैं।

उत्पादन साधनों के स्वरूप और प्रभावी सामाजिक संबंधों के बीच रिश्ते पर विशेषतः ज़ोर देते हुए मार्क्स ने लिखा: "हाथ से चलनेवाली चक्की उस समाज को जन्म देती है, जिसका प्रधान सामंती प्रभु होता है, और भाप से चलनेवाली चक्की उस समाज को, जिसका प्रधान औद्योगिक पूंजीपति है।"

संस्कृति के तत्वों के बीच अन्योन्यसंबंधों और उसकी आंतरिक एकता को देखते हुए संस्कृति को एक समष्टिगत व्यवस्था माना जा सकता है। लेकिन यहां यह याद रखना चाहिए कि उसके तत्वों के बीच संबंध बहुधा लचीले तथा जटिल होते हैं। आत्मिक संस्कृति की परिघटनाओं की चर्चा करते हुए तो इस बात पर विशेषतः बल दिया जाना चाहिए कि भौतिक जीवन के साथ इनके संबंध परोक्ष, व्यवहित होते हैं और साथ ही इस जीवन से वे अपेक्षाकृत स्वतंत्र होती हैं। यही कारण है कि मानवजाति की आत्मिक संस्कृति का आंतरिक सार पूर्णतः भौतिक उत्पादन द्वारा निर्धारित प्रतीत नहीं होता, वह अनेकानेक कारकों की जटिल अन्योन्यक्रिया का परिणाम है। किंतु अपने आधार में आत्मिक संस्कृति की स्व-तंत्रता की सीमाएं हैं, जो सामाजिक संबंधों द्वारा निर्धारित होती हैं।

शासक वर्ग संस्कृति सहित जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व जिन उपायों से निर्धारित करता है, उनमें भी रूपों की विविधता देखी जा सकती है।

ठोस रूपों की सारी विविधता के बावजूद प्रत्येक वर्गाधारित समाज अपने विकास में एकसमान प्रमुख अवस्थाओं से गुज़रता है – दासप्रथात्मक, सामंतवादी और पूंजीवादी अवस्थाओं से (कभी-कभी विकास की उच्चतर अवस्था में स्थित पड़ोसियों के प्रभाव में कोई समाज इनमें से किसी एक अवस्था को "लांघ" सकता है)। देशों और जनगण के ऐतिहासिक विकास में इस प्रकार की समानता – सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं का नियमसंगत अनुक्रमण – देख पाना सदा आसान नहीं होता है। सुविदित है कि मानवजाति के विकास के इन समान नियमों की खोज मार्क्स और एंगेल्स ने की थी। उन्होंने शताब्दियों के दौरान अध्येताओं द्वारा एकत्रित प्रचुर ठोस सामग्री के विश्लेषण के आधार पर इतिहास का भौतिकवादी सिद्धांत निरूपित किया था।

* * *

उन संस्कृतियों में, जिन्हें मिलाकर ही सारी मानवजाति की संस्कृति बनती है, समान लक्षण विकास के एकसमान स्तर पर स्थित समाजों की तुलना करने पर ही नहीं देखे जा सकते। अलग-अलग संस्कृतियों के भीतर उनके उन लक्षणों पर ग़ौर करना अत्यंत रोचक और लाभदायक होता है, जो ठोस प्राकृतिक परिस्थितियों से जुड़े होते हैं, और जहां-जहां ऐसी समान परिस्थितियां होती हैं, वहां-वहां ये लक्षण थोड़े-बहुत रूपांतर के साथ पाये जाते हैं।

सांस्कृतिक लक्षणों का अन्योन्याश्रय तथा परिवेश के साथ उनका संबंध उन जनगण में ख़ास तौर पर अच्छी तरह से देखा जा सकता है, जो जटिल प्राकृतिक परिस्थितियों में, जैसे कि टुंड्रा में या ऊंचे पहाड़ों में, रहते हैं।

स्विट्ज़रलैंड और नेपाल एक दूसरे से बहुत दूर हैं। इनके ऐतिहासिक पथ एक दूसरे से कभी नहीं मिले हैं। स्विट्ज़रलैंड और नेपाल के निवासी अलग-अलग नस्लों के हैं, बिल्कुल भिन्न भाषाएं बोलते हैं, इनके विकास के स्तर भिन्न हैं। लेकिन ये दोनों देश पर्वतीय हैं। शोधकर्ता दोनों देशों के ऊंचे पहाड़ी इलाक़ों के निवासियों के जीवन में बहुत-से एकसमान लक्षण पाते हैं।

दोनों ही देशों में ऊंची चरागाहों में बने गड़रियों के झोंपड़ों से टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियां हल्की ढलानों पर बने गांवों तक जाती हैं। दोनों ही देशों में दुमंज़िले मकानों पर लकड़ी के पटरों से दोतरफ़ा ढलानवाली छतें बनायी जाती

हैं, इन मकानों से लगे बाग़ होते हैं, लोग दूसरी मंज़िल पर रहते हैं, पहली मंज़िल ढोर-डंगर रखने के काम आती है। स्विट्ज़रलैंड के पर्वतवासी भी नेपालियों की ही भांति घर पर अधिकांश समय रसोई में बिताते हैं, जहां चूल्हा जलता है और बड़ी सी मेज़ रखी होती है।

खेतीबारी, आदि के तौर-तरीक़े भी बहुत मिलते-जुलते हैं। दोनों देशों में हर परिवार के पास गांव के समीप ही छोटा-सा खेत और चरागाह होते हैं तथा गांव से दूर पहाड़ी ढलानों पर भी ज़मीन का टुकड़ा होता है। भूमि एक जैसी है, इसलिए भूमि-उपयोग भी एक जैसा है।

हिमालय और आल्प्स पर्वतों के ही नहीं, बल्कि संसार के विभिन्न भागों में—अमरीका के एंडीज़, एशिया के तिब्बत और पामीर, यूरोप के पिरेनीज़ और काकेशिया—इन सभी पर्वतीय इलाक़ों में रहनेवाले लोगों के आर्थिक कार्यकलापों में, दैनंदिन जीवन और कला में हम कई बातों में आश्चर्यजनक समानता पाते हैं।

विभिन्न पर्वतीय जनगण की संस्कृतियों में समानता का एक प्रमुख कारण यह है कि पर्वतों की कठोर परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढालने के लिए मनुष्य के पास कोई बहुत अधिक रास्ते नहीं हैं। पहाड़ी इलाक़ों में संस्कृति के तत्वों के बीच अन्योन्यसंबंध अपेक्षाकृत दृढ़ होता है, लेकिन यह संबंध प्राकृतिक दृष्टि में एकसमान किन्हीं भी दूसरे भूभागों में उदित हुए समाजों में भी पाया जाता है, भले ही वहां यह इतना अनम्य न हो।

इस प्रकार, हम एक सुस्पष्ट नियमसंगति देखते हैं: अलग-अलग जातियों और नस्लों के लोग, जो प्रायः अलग-अलग फ़सलें उगाते हैं, अलग-अलग मवेशी पालते हैं, इस विभिन्नता के बावजूद, यदि वे एक जैसी प्राकृतिक परिस्थितियों में रहते हैं, तो अपने काम-काज और रहन-सहन की, अधिक व्यापक रूप से लें तो संस्कृति की बहुत हद तक एक जैसी पद्धतियां निर्मित करते हैं। यदि ये जनगण सामाजिक विकास की प्रायः एकसमान अवस्था में स्थित होते हैं, तो उनकी सांस्कृतिक पद्धतियों की समानता विशेषतः दृष्टिगोचर होती है।

जातियां अनेक, मानवजाति एक

मानवजाति नाना जातियों की समष्टि है। नृजातीय दृष्टि से वह इतनी समृद्ध है कि उसे यह भी सही-सही नहीं मालूम कि उसमें कुल कितनी जातियां,

उपजातियां, क़बीले, आदि हैं। इतना अवश्य ज्ञात है कि ये हज़ारों हैं — इनमें करोड़ों की जनसंख्यावाले जन भी हैं और कुछ सौ की आबादीवाले भी। और इन सभी जनगण का विकास, इनके सभी भेदों के बावजूद, एकसमान ऐतिहासिक नियमों के अनुसार होता है।

क्या है वह बात जो लोगों को एक जाति में ऐक्यबद्ध करती है? या दूसरे शब्दों में कहें तो, एक जाति के लोगों में कौन-से समान लक्षण होने चाहिए? वैज्ञानिक उचित ही निम्न लक्षण गिनाते हैं — एक भाषा और एक भूक्षेत्र, आर्थिक जीवन की एकता, एक संस्कृति, विशिष्ट राष्ट्रीय चरित्र, इत्यादि।

यह सब सही है, उपरोक्त लक्षणों में से प्रत्येक अत्यंत महत्वपूर्ण है। साथ ही प्रत्येक लक्षण की दृष्टि से कोई न कोई जाति अपवाद है।

सबसे पहला लक्षण हमने भाषा गिनाया है। लेकिन अंग्रेज़ और आंग्ल-आस्ट्रेलियाई, जोकि अलग-अलग जनगण हैं, एक ही भाषा — अंग्रेज़ी — बोलते हैं। अंग्रेज़ी संयुक्त राज्य अमरीका में बोली जाती है, अधिसंख्य कनाडावासी और मध्य अमरीका के जमाइका द्वीप के निवासी, न्यूज़ीलैंडवासी तथा बहुसंख्य आयरिश और स्कॉट लोग अंग्रेज़ीभाषी हैं।

सोवियत संघ में मोर्द्वा नाम की एक जाति रहती है। इस एक जाति के विभिन्न समूह अब वस्तुतः तीन अलग-अलग भाषाएं बोलते हैं: एक भाग मोक्शा भाषा बोलता है, दूसरे भाग की भाषा ऐर्ज़ा है, जबकि शेष लोगों ने मोर्द्वा ही बने रहकर रूसी भाषा अपना ली है और इसके माध्यम से अपनी जातीय संस्कृति का विकास कर रहे हैं।

कुछ दूसरी ही तरह की स्थितियां भी होती हैं। आधुनिक आयरिश लोग अंग्रेज़ी बोलते हैं, उनमें बहुत थोड़े ही आज भी उस भाषा का प्रयोग करते हैं, जो तीन सौ साल पहले सभी आयरिश लोग बोलते थे। यह सब होते हुए भी ये सभी एक ही जाति के लोग हैं।

बहरहाल, सारे अपवादों के बावजूद, अधिसंख्य विशेषज्ञों के मत में, जाति, जन के लक्षणों में भाषा का स्थान नितांत महत्वपूर्ण है। यह कतई ज़रूरी नहीं कि कोई भाषा किसी एक जाति विशेष के लिए ही हो। इससे कहीं अधिक महत्व-पूर्ण बात यह है कि भाषा जाति के सभी प्रतिनिधियों के बीच सूचना का निर्बाध संप्रेषण सुनिश्चित करे। ऐसा केवल एक भाषा की नहीं, बल्कि कुछेक भाषाओं की मदद से भी हो सकता है (बशर्ते, अंतोक्त मामले में आबादी का कम से

कम एक भाग द्विभाषी हो)।

जाति अनिवार्यतः किसी निश्चित भूक्षेत्र पर बनती है। लेकिन इस या उस जाति का जिस भूभाग पर वास होता है, वह समय बीतने पर घट या बढ़ सकता है। अपने इतिहास के दौरान जाति अपना भूक्षेत्र बदल भी सकती है। कल्मीक लोग चार सौ साल पहले केंद्रीय एशिया में रहते थे, लेकिन अब वे वोल्गा के निचले मैदान में रहते हैं। हंगेरियाई जाति ने पिछले डेढ़ हज़ार साल में अपना आवास-क्षेत्र तीन, चार या, शायद, पांच बार तक बदला है।

कभी-कभी लोगों की संस्कृति और रहन-सहन में समानता को उन्हें सूत्रबद्ध करनेवाला प्रमुख कारक बताया जाता है। लेकिन एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न जनगण की भी दैनिक जीवन-पद्धति में समानता देखने में आती है।

करेल लोग बिल्कुल वैसे ही मकान बनाते हैं, जैसे कि उत्तर में रहनेवाले रूसी लोग, उनका पहनावा भी वैसा ही है, ज़मीन जोतने के उनके औज़ार एक जैसे हैं, लेकिन इसके बावजूद वे दोनों अलग-अलग जातियां हैं।

ये सारे "अपवाद", नियमतः, जनगण की अन्योन्यक्रिया का परिणाम होते हैं और इनसे इस बात के लिए कोई आधार नहीं मिलता कि उपरोक्त सभी लक्षणों के महत्व से इंकार किया जाये। बात यह है कि जाति (जन, राष्ट्र, एथनॉस) इनमें से किसी एक लक्षण द्वारा – केवल भाषा, केवल समान भूक्षेत्र, या केवल संस्कृति की समानता, इत्यादि – नहीं, बल्कि इन लक्षणों की समग्रता से निर्धारित होती है।

जाति लोगों की समष्टि का केवल एक रूप है। एक, लेकिन कुल जमा मुख्य रूप है, नृजातीय सोपानक्रम में यह प्रमुख कड़ी है। इसके भीतर लोगों के ऐसे समूह हो सकते हैं, जो भाषा, आत्मिक संस्कृति और रहन-सहन की विशिष्टताओं की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हों। हमारे देश में श्वेत सागर के तट पर पोमोर लोग रहते हैं, दोन के तट पर दोन कज़्ज़ाक। ये दोनों ही, निस्संदेह, रूसी हैं, लेकिन बोली में, रहन-सहन में इनकी अपनी विशिष्टताएं हैं। स्वयं पोमोर और कज़्ज़ाक लोग अपनी इन विशिष्टताओं को जानते हैं, उन्हें इस बात की चेतना है कि वे रूसी जाति के भीतर विशेष समष्टियां हैं।

ऐसे समूहों को वैज्ञानिक उपजाति (सबएथनॉस) कहते हैं। इनके सदस्य स्वयं अपने भेद देखते हैं, उन्हें याद रखते हैं, इनका अपना "विशिष्ट" नाम

होता है। लेकिन ऐसा भी होता है कि नृजातिविज्ञानी कुछ इलाक़ों की आबादी की विशिष्टताएं साफ़-साफ़ देखते हैं, लेकिन इस आबादी को इनकी चेतना नहीं होती।

जनगण अधिक विशाल नृजातीय समष्टियों का अंश होते है। उदाहरणतः, रूसी जाति पूर्वी स्लाव जनगण में से एक है और पूर्वी स्लाव जातियां सारे स्लाव जनगण की एक शाखा हैं। इसके अलावा रूसी लोग एक नयी ऐतिहासिक समष्टि का भी अभिन्न अंग बने हैं, जो अक्तूबर क्रांति के पश्चात सोवियत संघ में गठित हुई है। यह है सोवियत जनता। वैचारिक-राजनीतिक एकता, समान अर्थव्यवस्था, समान सामाजिक वर्गीय संरचना, एकसमान जीवन-पद्धति और संस्कृति ही इस समष्टि के प्रमुख लक्षण हैं।

प्रत्येक जाति एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक समष्टि है। लेकिन प्रत्येक सांस्कृतिक-ऐतिहासिक समष्टि जाति (राष्ट्र) नहीं है। ईसाई, इस्लाम और बौद्ध – इन तीनों धर्मों के अनुयायी अनेक देशों में हैं। इनमें से प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के जीवन में एकसमान ऐतिहासिक-सांस्कृतिक लक्षण हैं। "विश्व के सांस्कृतिक मानचित्र" पर लैटिन अमरीकी या पूर्वी हिंदचीनी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक समष्टियां स्पष्टतः देखी जा सकती हैं और इनमें से प्रत्येक में अनेक जनगण शामिल हैं।

प्रायः यूरोपीय या यूरोपीय-उत्तरी अमरीकी संस्कृति, "सहारा से दक्षिण" की अफ़्रीकी संस्कृति, इत्यादि की चर्चा की जाती है। ऐसा करते हुए हर बार निश्चित ऐतिहासिक-सांस्कृतिक समष्टियों को ही ध्यान में रखा जाता है। ऐसे मामलों में जनगण की संस्कृति के सामीप्य का स्तर तथा अन्योन्यसंबंधों के मूल भिन्न-भिन्न होते हैं, किंतु ये अन्योन्यसंबंध और सामीप्य तथा समानता प्रत्यक्षतः बोधगम्य होते हैं।

इतिहास के प्रत्येक क्षण में बहुसंख्य सांस्कृतिक समष्टियों का अंतर्गुंफन एक जटिल जाल बुनता है।

यह जटिलता ही पृथ्वी पर संस्कृति की एकता और विविधता निश्चित करती है।

संस्कृति की अनंत विविधता

किन्हीं अलग-अलग जनगण की संस्कृतियां, सही-सही कहें तो नृजातीय संस्कृतियां एक दूसरी से इसलिए भिन्न होती हैं, क्योंकि विभिन्न जनगण एक-समान आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक क्रियाएं प्रायः विभिन्न ढंग से करते हैं।

हम, रूसी लोग, खाना खाने के लिए मेज़-कुर्सी पर बैठते हैं, छुरी-कांटे से खाना खाते हैं, सोते समय सिर के नीचे तकिया रखते हैं। इस सबके हम इतने आदी हैं, इतना स्वाभाविक है यह हमारे लिए कि हमें लगता है, दूसरा कोई ढंग हो ही नहीं सकता। लेकिन, अभी हाल ही तक, जापानी लोग रोज़मर्रा की ज़िंदगी में उकड़ूं बैठकर खाना खाते थे, बहुत-से दूसरे देशों में क़ालीन पर बैठकर भोजन किया जाता है। यूरोपवासी अभ्यास के बिना पालथी मारकर कुछ मिनट से ज्यादा नहीं बैठ सकता, न ही उकड़ूं बैठ सकता है। यूरोपीय महिला को घुटनों के बल देर तक बैठे रहना बेतुका और कष्टदायक लगेगा, लेकिन जापानी नारी बड़े सहज और गरिमामय ढंग से ऐसा करती है। इसके विपरीत, जापान में कुर्सी पर बैठने का यूरोपीय रिवाज बड़ी मुश्किल से ही फैला है। वैसे तो किसी भी जाति का व्यक्ति कम से कम थोड़ी देर के लिए उकड़ूं, पालथी मारकर या घुटनों के बल बैठ सकता है। लेकिन अंग्रेज़ मिशनरी और यात्री ब्रायंट दक्षिणी अफ़्रीका के ज़ुलु लोगों की भांति बैठना किसी भी तरह नहीं सीख पाये, जबकि कोई भारी-भरकम ज़ुलु औरत भी बड़े स्वाभाविक ढंग से इस मुद्रा में बैठ सकती है। ज़ुलु लोगों का आराम करने का ढंग भी कम आश्चर्य-जनक नहीं है—वे एक टांग पर खड़े होकर आराम करते हैं, दूसरे पांव की एड़ी इस टांग के घुटने पर टिकाये रखते हैं। मलाया के लोग सोते समय सिर के नीचे एक खास तरह की चौकी रखते हैं, कुछ भारतीय लोग घुटनों तले छोटी, नरम मसनद रखकर सोते हैं। दक्षिणी अमरीका के आदिवासी पेड़ों की डालों के बीच लटकते जालीदार झूले पर सोते हैं।

ऐसे भेदों की कोई गिनती नहीं। इन्हें नृजातीय, अथवा, यदि वे एक जाति से नहीं, बल्कि जातियों के समूह से संबंधित हों, तो नृजातीय-क्षेत्रीय भेद कहा जाता है।

खाना, सोना, आराम करने के लिए मांसपेशियां ढीली करना—ये सभी

क्रियाएं मूलत: जैविक क्रियाएं ही हैं। जैविक क्रियाओं के आधार पर अपनी संस्कृति का निर्माण करते हुए मानव ने सारत: एकसमान क्रियाओं की पूर्ति के नाना उपाय खोजे हैं। इस प्रकार मानव-समाज में जैव-आवश्यकताओं की पूर्ति ने सामाजिक-सांस्कृतिक रूप ग्रहण कर लिया है, सही-सही कहें तो एक नहीं, अनेक रूप ग्रहण कर लिये हैं।

नृजातीय विशिष्टता, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, इस बात में भी प्रकट होती है कि लोग कैसे काम करते हैं, कौन-से औज़ार इस्तेमाल करते हैं, कैसे मकान बनाते हैं, उनका पहनावा और भोजन कैसा है।

पुराने ज़माने में पोलैंड और रूस के लौहार कुल्हाड़ी जैसी आम चीज़ भी अलग-अलग शक्ल की बनाते थे। बेलचे में भी नृजातीय भेद प्रकट हो सकते हैं।

अतीत में रूसी किसान प्राय: सभी परिस्थितियों में अपनी परंपरा के अनुसार लकड़ी के लट्ठों से मकान बनाते थे। उन इलाक़ों में, जहां जंगल नहीं थे, जा बसे किसान भी ऐसे ही मकान बनाने की कोशिश करते थे। टुंड्रा में समुद्र या नदी तट पर आ लगे लट्ठों से वे ऐसे मकान बनाते थे। केंद्रीय रूस से दक्षिणी कज़ाखस्तान, उज़्बेकिस्तान और कुबान में जा बसे रूसी किसान शुरू में काफ़ी समय तक तहख़ानेनुमा कोठरियों में रहते थे, ताकि लकड़ी का मकान बनाने के लिए पैसे जमा कर लें। लकड़ी यहां उराल से लायी जाती थी। दक्षिणी उक्राइना में जा बसे रूसी किसान भी बहुत धीरे-धीरे ही, सो भी कहीं-कहीं उक्राइनियों के प्रभाव में नयी निर्माण सामग्री – चिकनी मिट्टी – का उपयोग करने लगे।

क्रांति से पहले काकेशिया में अनेक जनगण प्राय: एकसमान परिस्थितियों में रहते हुए विभिन्न सामग्री से और विभिन्न वास्तुकला के मकान बनाते थे। बल्कार लोग पत्थर के एकमंज़िले मकान बनाते थे, ओसेतिन, चेचेन और इंगुश जातियों के मकान दुमंज़िले और तिमंज़िले होते थे, कराचै तथा बक्सान दर्रे के बल्कार लोग लकड़ी के मकानों में रहते थे। ऐसा तब था, जबकि सामान्यत: मिलती-जुलती प्राकृतिक परिस्थितियों में रहनेवालों के आवासों में बहुत-से समान लक्षण होते हैं।

उत्तर के रूसी देहातों में मकान की बग़ल गली की ओर रखी जाती है, जबकि दक्षिण के रूसी मकान का अग्रभाग गली की ओर होता है।

उक्राइनी किसान आम तौर पर बैलगाड़ी का उपयोग करते हैं, जो रूसी ग्रामीणों की घोड़ागाड़ी से बहुत भिन्न होती है। उधर, लाटविया के देहातों

में भी घोड़ागाड़ी का ही प्रचलन है, लेकिन यह रूसी घोड़ागाड़ी से कुछ बातों में भिन्न होती है।

एक ज़माने में उज़्बेक लोगों की कशीदेवाली टोपी देखते ही यह बताया जा सकता था कि कौन किस जगह का रहनेवाला है। १९वीं शती के आरंभ की रूसी किसान औरत के पहनावे से उसके गांव तक का पता चल सकता था। अभी तक हिंदचीन के कुछ जनगण की स्त्रियों के पहनावे से यह बताया जा सकता है कि कौन स्त्री कहां की रहनेवाली है। आजकल विभिन्न जनगण का पहनावा एक जैसा होता जा रहा है, अपना नृजातीय स्वरूप खो रहा है। पुरुषों के लिए कोट-पैंट और स्त्रियों के लिए ब्लाउज़-स्कर्ट या पैंट-चोली का जोड़ा अधिसंख्य देशों में आम पहनावा हो गया है। राष्ट्रीय परिधान परंपरागत उत्सवों-पर्वों पर धारण किये जाते हैं।

भोजन में, उसके पकाने के ढंग में भी नृजातीय विशेषताएं प्रतिबिंबित होती हैं। हमारे देश के मोल्दाविया जनतंत्र में मकई की ही रोटी पकायी जाती है, जबकि अब्ख़ाज़िया में मकई के आटे को गाढ़ा-गाढ़ा उबालकर रोटी की जगह खाया जाता है।

सोवियत लेखक इल्या ऐरेनबुर्ग ने अनेक देशों की यात्रा की थी। सभी जगह वह लोगों के आचार-व्यवहार और रीति-रिवाजों में राष्ट्रीय विशेषताओं की अभिव्यक्ति की ओर विशेष ध्यान देते थे। अपनी एक पुस्तक में उन्होंने लिखा: "यूरोपवासी एक दूसरे का अभिवादन करते हुए हाथ मिलाते हैं, जबकि किसी जापानी, चीनी या भारतीय को इस तरह आगे बढ़ा हाथ देखकर न केवल आश्चर्य होगा, बल्कि वह ठिठककर पीछे हट जायेगा (किसी बेगाने से हाथ कैसे मिलाया जा सकता है!)। वीयेनावासी कहता है: 'हाथ चूमता हूं', लेकिन इन शब्दों के अर्थ की ओर ध्यान नहीं देता, जबकि वारसा के निवासी का किसी महिला से परिचय कराये जाने पर वह वास्तव में उसका हाथ चूमता है। अंग्रेज़ अपना पत्र 'डियर सर' शब्दों से आरंभ करता है, हालांकि पत्र में वह अपने प्रति-द्वंद्वी पर धोखेधड़ी का इल्ज़ाम लगा रहा हो। ईसाई पुरुष गिरजे में प्रवेश करते समय सिर नंगा कर लेते हैं, उधर यहूदी अपने सिनागॉग में जाते समय सिर ढंक लेते हैं। कैथोलिक देशों में स्त्रियों को नंगे सिर गिरजे में जाने की मनाही है। यूरोप में शोक का रंग काला है, चीन में सफ़ेद।

"जब चीनी आदमी पहली बार किसी यूरोपवासी या अमरीकी को महिला

की बांह में बांह डाले जाता और यदा-कदा उसका चुंबन तक करता देखता है, तो उसे यह सब घोर निर्लज्जता लगता है। पीकिंग के होटल में फ़र्नीचर तो यूरोपीय ही था, लेकिन कमरे में प्रवेश परंपरागत चीनी ढंग का ही था – पर्दा इस तरह लगा था कि कमरे में सीधे नहीं घुसा जा सकता था, बग़ल से ही जा सकते थे। इसका संबंध इस चीनी किंवदंती से है कि शैतान सीधे चलता है। इसके विपरीत रूसी शैतान वक्री है, सदा बग़ल से घुसता है। हम बच्चों से कहते हैं कि किसी के यहां जाओ तो प्लेट में जूठन नहीं छोड़ो, चीन में भोजन के अंत में जो चावल परोसा जाता है, उसे कोई छूता तक नहीं – शिष्टाचार के अनुसार इस प्रकार यह दिखाया जाता है कि आपका पेट भर गया है।"

प्रत्येक जनगण को अपने सांस्कृतिक लक्षण साधारण, स्वाभाविक तथा प्राय: एकमात्र सही लक्षण प्रतीत होते हैं। लेकिन यही लोग दूसरे जन के साधारणतम आचार-व्यवहार को, उनके रहन-सहन की विशेषताओं को विचित्र, और यहां तक कि अकल्पनीय समझ सकते हैं।

किसी भारतीय को यह बहुत ही अटपटा लगता है कि यूरोपवासी की पत्नी अपनी सास के सामने अपने पति को उसके नाम से पुकारती है। बुल्गारियाई लोग स्वीकृति प्रकट करने के लिए सिर दायें-बायें हिलाते हैं और अस्वीकृति प्रकट करने के लिए ऊपर-नीचे। घाना की अशंती जाति में दामाद अपनी सास से बात नहीं कर सकता।

एक बार स्वीडिश यात्री ऐरिक लुंद्क्विस्त न्यू गिनी में शिकार के बाद पपुआ क़बीले के मुखिये के साथ भोजन कर रहा था। हड्डी पर लगा आधा गोश्त खाकर वह शेष टुकड़ा पपुआ-मुखिया को दे देता और वह उसे अंत तक खाता। लुंद्क्विस्त का यूरोपीय मित्र यह देखकर भौचक्का रह गया: "क्या तुम उसके साथ कुत्तों जैसा सलूक कर रहे हो? कुत्तों के आगे जूठी हड्डियां फेंकी जाती हैं। यह तो उसके लिए अपमान की बात है।"

लेकिन लुंद्क्विस्त पपुआ लोगों की प्रथा का ही पालन कर रहा था – इस क़बीले में मित्र के साथ व्यवहार का जो नियम था, वैसा ही बर्ताव वह उसके साथ कर रहा था: अपना मुंहकाटा आधा कौर उसे दे रहा था। इस प्रथा से अनभिज्ञ कोई व्यक्ति यदि दूसरी तरह से बर्ताव करता, तो उसकी सारी शिष्टता के बावजूद पपुआ लोग उसे शंका की दृष्टि से देखते।

इस प्रसंग में १६वीं शती के फ़्रांसीसी मानवतावादी दार्शनिक मिशेल मोंतें

के विचार याद आते हैं। यूरोपवासियों ने तब अमरीका के जनगण की खोज की ही थी। उनके रहन-सहन पर विचार करते हुए मोंतें ने लिखा: "... इन जनगण के बारे में मुझे जो बताया गया है, उससे मैं यही समझता हूं कि इनमें कोई बर्बरता और जंगलीपन नहीं हैं, यदि हम उस सब को बर्बरता न मानें, जिसके हम अभ्यस्त नहीं हैं। सच कहा जाये तो, हमारे देश की जो प्रथाएं और मत हमारे लिए अनुकरणीय और आदर्श हैं, उनके अलावा सत्य एवं विवेक का कोई दूसरा मापदंड हमारे पास नहीं है।"

विभिन्न जनगण में इस बारे में भी अलग-अलग धारणाएं हैं कि बातचीत करते समय संभाषियों के बीच कितनी दूरी होनी चाहिए। लैटिन अमरीकी प्रायः यह पाते हैं कि जिस उत्तरी अमरीकी से वह बात कर रहे हैं, वह शुष्क और उदासीन है। ऐसा मत केवल इसलिए बनता है कि उत्तरी अमरीकी को यह पसंद नहीं कि उसे कोई छुए और वह ऐन उस क्षण पीछे हट जाता है, जब लैटिन अमरीकी यह सोचता है कि बातचीत शुरू करने के लिए वे काफ़ी पास आ गये हैं। उत्तरी अमरीकी के लिए बातचीत के समय सुविधाजनक दूरी ७५ सें० है, जबकि लैटिन अमरीकी के लिए यह दूरी बहुत अधिक है।

सौंदर्य के विषय में भी, जो संस्कृति का एक महत्वपूर्ण तत्व है, संसार के जनगण के बीच नाना धारणाएं प्रचलित रही हैं। उदाहरणतः, प्राचीन सर्मात लोगों को सिर का प्राकृतिक रूप कतई पसंद नहीं था। सौंदर्य की अपनी कल्पना के अनुसार वे उसे बदल लेते थे। इन लोगों के आवास क्षेत्र में हुई खुदाइयों में वैज्ञानिकों को आश्चर्यजनक कपाल मिले हैं। इन कपालों में ललाट ऊर्ध्व नहीं है, जैसाकि सामान्यतः सभी लोगों का होता है, बल्कि उसकी रेखा एकदम अनु-प्रस्थ है, इस तरह सिर का रूप बहुत ही अजीबोग़रीब है।

सिर का रूप बदलनेवाले अकेले सर्मात लोग ही नहीं थे। पेरू के इंक लोग, जिनकी भव्य सभ्यता स्पेनी विजेताओं ने नष्ट कर दी थी, सिर को मानो दो हिस्सों में बांट लेते थे। आप पूछेंगे कैसे ? बात यह है कि बच्चे की कपाल-अस्थियां इतनी कोमल होती हैं कि उन्हें कोई भी रूप प्रदान किया जा सकता है। इंक लोग बच्चे के सिर पर बीचोंबीच एक विशेष पट्टी बांध देते थे।

सौंदर्य की धारणाएं कुछ हद तक सामाजिक कारकों से भी जुड़ी होती हैं। जैसे कि बहुत-से जनगण में लंबे नाखून इस बात का प्रतीक हैं कि उनका धारक शारीरिक श्रम नहीं करता। पूरब के कुछ देशों में नाखूनों को भयावह आकार

तक बढ़ने दिया जाता था और यह कुलीन वंश का होने का चिह्न माना जाता था। कभी-कभी तो ऐसे कुलीन लोग अपने नाखूनों के लिए चांदी के खोल बनवाते थे, शायद, इसलिए कि नाखून कहीं टूट न जायें, या फिर यह दिखाने के लिए कि उनके नाखून कितने लंबे हैं। कुछ जगहों पर लंबे नाखून यह बताते थे कि इनका धारक दैवी-आराधना में लीन है, सांसारिक श्रम नहीं करता।

कुछ देशों के लोगों को इस बात पर आश्चर्य होता है कि कुछ दूसरे देशों में स्त्रियां नथ पहनने के लिए नाक में छेद कराती हैं। लेकिन यही लोग इस बात को स्वाभाविक मानते हैं कि बालियां पहनने के लिए स्त्रियां कान में छेद कराती हैं।

कुछ बुशमैन, मलाया और माओरी क़बीलों में पुराने ज़माने में माता-पिता बच्चों की नाक यथासंभव अधिक चपटी बनाने के लिए उसे दबाते रहते थे। इससे कुछ उलट ही बात १६वीं शती में फ़्रांस में बहुत प्रचलित थी। वहां बाज़ जैसी लंबी नाक को सौंदर्य का आदर्श माना जाता था। माताएं और दाइयां बच्चों की नाक खींच-खींचकर लंबी करने की ओर पूरा ध्यान देती थीं।

बहुत-से स्थानों पर यह माना जाता था कि छोटी गर्दन सुंदर नहीं होती। जार्जिया में लंबे समय तक बच्चे को पालने में इस तरह लिटाने की परंपरा थी कि बच्चे का सिर पीछे की ओर कंधों से थोड़ा नीचे लटका रहे। इससे गर्दन अधिक लंबी हो जाती थी। पूर्वी अफ़्रीका में अभी भी ऐसे क़बीले हैं, जहां स्त्रियों की गर्दन विशेष छल्लों की मदद से कुछेक दर्जन सेंटीमीटर की लंबाई तक खींच दी जाती है। ये छल्ले बच्चे की गर्दन में ही पहना दिये जाते हैं और हर साल इनकी संख्या बढ़ा दी जाती है।

मानव-शरीर पर इस प्रकार के कृत्रिम प्रभाव डालने की बहुत-सी परंपराएं जनगण की जीवन-पद्धति से जुड़ी होती हैं। उदाहरण के लिए, सीधी टांगें सभी जगह सुंदर नहीं मानी जाती हैं। यायावर पशुपालक क़बीलों के लोगों को वक्राकार टांगें कहीं अधिक आकर्षक लगती हैं, जो घोड़े को अधिक अच्छी तरह पकड़े रहती हैं। इसीलिए कल्मीक लोगों के पुराने पालनों में कुप्पी जैसी एक चीज़ होती थी, जो बच्चों के घुटनों को एक दूसरे से दूर रखती थी। बुर्यातिया में इसी उद्देश्य से माताएं पालने में बच्चों की टांगों के बीच कपड़े का टुकड़ा रखती थीं।

हां, अपने बच्चे को सुंदर देखने के लिए माता क्या कुछ नहीं करती!

प्राचीन यूनान के निवासी सीधी टांगों को ही सुंदर मानते थे और

उन्होंने एक ऐसा उपकरण बनाया था, जो, उनके विचार में, टांगों को सीधा रखता था।

न्यूज़ीलैंड के आदिवासी माओरी क़बीले में बच्चों के घुटनों पर मारना लोकरीति की मांग है। यह माना जाता है कि इससे बच्चों की टांगें सीधी होंगी। आस्ट्रेलिया के आदिवासी तथा बहुत-से दूसरे जनगण भी इसका ख़्याल रखते हैं।

ओशियाना के कुछ क़बीलों में बचपन में ही या वयस्क होने पर कुछ दांत तोड़ देने की प्रथा है।

प्राचीन मैक्सिको के माया लोगों की कुछ प्रथाओं के बारे में सोवियत नृजाति-विज्ञानी र० व० किंभालोव लिखते हैं: "उसकी बेटी बड़ी होकर सुंदर निकले, इस इरादे से युवा माता अधिक अनुभवी स्त्रियों की मदद से कुछ दिनों तक नवजात बच्ची के माथे और गुद्दी पर दो सपाट तख़्तियां बांधती थी। इसकी बदौलत बच्चे का माथा पीछे को चली गयी सपाट सतह का रूप ग्रहण कर लेता था, जोकि बहुत सुंदर माना जाता था। इसी उद्देश्य से बच्ची के बालों से रबड़ की एक छोटी-सी गोली बांधी जाती थी, जो आंखों के सामने भूलती रहती थी। बच्ची की आंखें उछलती गोली का पीछा करेंगी और बच्ची भेंगी हो जायेगी। प्राचीन माया लोगों की धारणाओं के अनुसार, भेंगापन भी सौंदर्य का एक अनिवार्य लक्षण था।"

पश्चिमी और दक्षिणी एशिया के लोग बड़ी आंखों को सुंदर मानते हैं, कवि उन्हें नाना उपमाएं देते हैं। उधर, पूर्वी एशिया के जनगण आंखों की सुंदरता के बारे में दूसरे ही विचार रखते हैं।

इस या उस जनगण के विशिष्ट लक्षण लोक-शिल्प में भी प्रतिबिंबित होते हैं। सभी जनगण में कला की अद्वितीय विधाएं होती हैं। साइबेरिया में बसे हंती और मंसी जनगण में भोजपत्र पर दांतों से बेलबूटे बनाना इसी का एक उदाहरण है।

जनगण की ही नहीं, बल्कि क्षेत्रीय विशिष्टताओं की भी गीतों और नृत्यों पर, वाद्यों पर छाप पड़ती है। विभिन्न जनगण की आप्रयुक्त कला तो कितनी मौलिक और ज्वलंत होती है!

भिन्न-भिन्न देशों की व्यावसायिक कला में भी नृजातीय मौलिकता प्रकट होती है। यही नहीं, १९वीं और विशेषत: २०वीं शती में व्यावसायिक कला का

अनुपात बढ़ने के साथ-साथ नृजातीय विशिष्टताओं की अभिव्यक्ति के क्षेत्र की उसकी भूमिका भी निरंतर बढ़ रही है। बहरहाल, कला तो विश्व जनगण की मौलिक संस्कृति का एक अंश ही है। निस्संदेह, नृजातीय विशिष्टता उनके जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी व्याप्त है।

"कितना अच्छा है वह सब देखना और अनुभव करना, जो तुम्हारे लिए नया है! वस्तुओं और लोगों में प्रत्येक भेद जीवन को अधिक समृद्ध बनाता है।... लेकिन सुनिये, यह विविधता जनगण ही तो रचते हैं, और हां, प्रकृति व इतिहास भी... लेकिन वे दोनों ही जनगण में एकीभूत हैं... प्रत्येक भिन्नता से हमें मात्र इसीलिए लगाव हो जाना चाहिए कि वह जीवन को समृद्ध बनाती है। क्यों न वह सब, जो हमें विभाजित करता है, वही हमें सूत्रबद्ध करे?!"

कारेल चापेक

प्रत्येक व्यक्ति, अपने जनगण के प्रतिनिधि के नाते, उसके लिए लाक्षणिक सांस्कृतिक विशिष्टताओं की विशाल समष्टि का वाहक होता है। ये विशिष्टताएं जैव आनुवंशिकता के रूप में प्राप्त नहीं होती हैं। इन्हें तो हम मुख्यतः बचपन में ही अपने माता-पिता और दूसरे वयस्कों से, अपने समवयस्कों से ग्रहण करते हैं।

कोई व्यक्ति किस जाति (राष्ट्र, जनगण) का है, यह बात उसके जन्म और वंश द्वारा, तथा इससे भी अधिक उसके लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा द्वारा निर्धारित होती है, जिसके दौरान मनुष्य में उस नृजातीय परिवेश के, जिसमें वह स्थित है, लक्षण जड़ पकड़ते हैं।

अमरीकी समाजविज्ञानियों ने यह पता लगाया है कि, उदाहरणतः, कोई अंग्रेज़ प्रोफ़ेसर (अर्थात अमरीकियों की ही भाषा बोलनेवाला व्यक्ति) संयुक्त राज्य अमरीका में ५-१० साल या उससे अधिक समय तक रहने के बाद भी स्थानीय रहन-सहन की बहुत-सी बातों का आदी नहीं होगा, अमरीकी नहीं बन पायेगा। उधर, इतालवी आप्रवासियों का प्रायः निरक्षर बच्चा, जो इतालवी लहजे में ही अंग्रेज़ी बोलता है, नियमतः, दस साल का होते न होते अमरीकी बन जाता है। प्रोफ़ेसर दस साल बाद भी एक अंग्रेज़ की ही भांति व्यवहार करता है, जबकि लड़के की चाल-ढाल पूरी तरह अमरीकी होती है।

अलग-अलग देशों में लोगों के रीति-रिवाजों, आदतों और आचार-व्यवहार की विशिष्टताओं की विविधता असीम प्रतीत होती है और यह मानव-संस्कृति की विविधता की वह अभिव्यक्ति ही है, जो पहली नज़र में स्पष्टतः सामने आती है। सारे विश्व के लिए ऐतिहासिक विकास के एकसमान नियमों की सीमाओं के अंदर लोगों ने जीवन-पद्धति के सैकड़ों, हज़ारों रूपांतर बनाये हैं। संसार को परिवर्तित करते हुए लोग अपने को इस संसार के तथा इन परिवर्तनों के भी अनुकूल ढालते हैं, वे भविष्य की अपनी-अपनी राह खोजते और पाते हैं।

संसार की प्रत्येक जाति, प्रत्येक राष्ट्र एक विशेष जीवन-पद्धति का भव्य प्रयोग है, उस जीवन-पद्धति का, जो आदतों और प्रथाओं से, नियमों और नैतिकता से, कला से तथा उस सबसे, जिसे हम संस्कृति कहते हैं, बनती है।

जीवन-पद्धति की नृजातीय विशेषताएं प्रत्येक जाति के विकास के ठोस ऐतिहासिक ब्योरों का परिणाम हैं, इस जाति की अपने भौगोलिक परिवेश तथा दूसरे जनगण के साथ उत्पादन के माध्यम से अन्योन्यक्रिया की विशिष्टता की प्रतिच्छाया हैं।

कार्यभार और समाधान

दिक् और काल में, पांचों महाद्वीपों पर अनेक सहस्राब्दियों के दौरान मानव-जाति की संस्कृति का विकास होता आया है। आइये, अब इसे अधिक बारीकी से देखें, यह देखें कि संस्कृति किन कार्यभारों को निभाती है, किन अपेक्षाओं की पूर्ति करती है।

"अपनी सारी विविधता के साथ संस्कृति को उन सफल व असफल उत्तरों का कुल योग माना जा सकता है, जो लोगों के सामाजिक अस्तित्व के क्षेत्र में तथा इस अस्तित्व द्वारा जनित उनकी सामाजिक चेतना के क्षेत्र में मानव और मानव-दलों की आवश्यकताओं के लिए बनते हैं," सोवियत दार्शनिक ऐ०व० सोकोलोव लिखते हैं।

संस्कृति के नाना प्रकार्य इन आवश्यकताओं की पूर्ति ही करते हैं।

हम लोगों की आवश्यकताएं क्या हैं?

सर्वप्रथम, शारीरिक-जैव आवश्यकताएं, सरलतम आवश्यकताएं हैं: पेट भरना, सोना, स्वस्थ रहना, अपना वंश जारी रखना। ये आवश्यकताएं पशुओं

की भी हैं। लेकिन, जीवन के लिए अनिवार्य इन आवश्यकताओं की मानव जब पूर्ति करता है, तो उसमें कई विशिष्टताएं होती हैं, जो "द्वितीय प्रकृति", अर्थात संस्कृति द्वारा निर्धारित होती हैं। जैव आवश्यकताओं की पूर्ति के उपायों में मनुष्य गहरे परिवर्तन लाया है; इनके सिलसिले में मार्क्स ने निम्न टिप्पणी की है: "भूख तो भूख ही है, लेकिन वह भूख, जो पकाये हुए गोश्त को छुरी-कांटे से खाकर मिटायी जाती है, उस भूख से बिल्कुल भिन्न है, जिसके लगने पर हाथों, नाखूनों और दांतों से कच्ची बोटियां काटकर निगली जाती हैं।"

"द्वितीय प्रकृति" द्वारा रक्षात्मक प्रकार्यों की पूर्ति में भी जीवन-आवश्यकताओं की तुष्टि में ऐसा रूपांतरण स्पष्टतः प्रकट होता है। यह "द्वितीय प्रकृति" मनुष्य की बारिश से रक्षा छत की मदद से करती है, उसके शरीर पर चोग़ा, लबादा, कफ़्तान पहनाती है और सिर पर पगड़ी या हैट। इस सबको आधारभूत जीवन-निर्वाह की संस्कृति कहा जा सकता है।

संस्कृति का कहीं अधिक महत्वपूर्ण कार्यभार भी है। यह है संसार का कायाकल्प। संस्कृति मानव की उन आवश्यकताओं के लिए उत्तर प्रस्तुत करती है, जैसी एक भी अन्य जीव की नहीं हैं, ये उत्तर सर्वप्रथम भौतिक संपदा तथा उत्पादन साधनों और औज़ारों के उत्पादन में मूर्तित होते हैं।

लोगों के लिए आपस में संसर्ग आवश्यक है। इसके अनुरूप ही संस्कृति उन्हें संसर्ग के ऐसे साधन प्रदान करती है, जो केवल मानव को ही प्राप्त हैं।

किसी भी समाज का अस्तित्व केवल तभी बना रह सकता है, जबकि उसके सदस्य आचार-व्यवहार और रहन-सहन के निश्चित नियमों का पालन करें। कोई ऐसा समुदाय नहीं है, जिसमें उसके जीवन को नियमित करनेवाले मानक न हों। कोई भी ऐसा कमोबेश विकसित समाज नहीं है, जिसके पास स्वयं समाज तथा उसके आर्थिक आधार – उत्पादन – के संचालन की प्रणाली न हो। लोगों के परस्पर संबंधों का नियमन भी संस्कृति ही सुनिश्चित करती है।

मानव-वंश जारी है। मानवजाति के इतिहास के लंबे क्रम में प्रेम का जो रूपांतरण हुआ है, वह, शायद, संस्कृति के विकास के स्तर की सर्वाधिक ज्वलंत अभिव्यक्ति है। वंश जारी रखने की सहजवृत्ति, जो सभी जीवों में पायी जाती है, एक उदात्त भावना बन गयी है, आत्मिकता से भरपूर वह भावना, जिसमें व्यक्ति के श्रेष्ठतम, सच्चे मानवीय गुण मुखरित होते हैं।

मानव-वंश का पुनरुत्पादन लोगों की नयी पीढ़ियों को शिक्षित करने की

आवश्यकता के साथ घनिष्ठतम रूप से जुड़ा हुआ है। यह शिक्षा-दीक्षा और चरित्र-निर्माण किसी भी समाज का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्यभार है, क्योंकि इसकी बदौलत ही समाज संस्कृति के विकास में अनवरत क्रम बनाये रख सकता है।

विश्राम भी मानव की आवश्यकता है। अपने मूल में यह जैव आवश्यकता है, लेकिन बहुत हद तक सांस्कृतिक साधनों से ही इसकी पूर्ति होती है।

एक और विशुद्ध मानवीय आवश्यकता है, जो हम मानवों ने लाखों साल पहले ग्रहण की है। यह है संसार का ज्ञान पाने, उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता। हमारे सुदूर पूर्वजों का अन्वेषण-प्रतिवर्त सामाजिक विकास के दौरान लोगों की सच्ची ज्ञान-पिपासा बन गया है। यह कहा जा सकता है कि विज्ञान और कला की उत्पत्ति का श्रेय इस वात को भी है। मानव ने मानवजाति की खोज की, मानवीयता को जाना, इतिहास में अपने स्थान को समझा।

संस्कृति की परिघटनाएं वहुपक्षीय हैं, मानव के सम्मुख अपने अलग-अलग पहलू वे उभार सकती हैं। होमर की देव-स्तुतियां, निस्संदेह, कभी धार्मिक रचनाएं थीं, लेकिन आज पुरातन साहित्य का रसास्वादन करते हुए हम इस बारे में नहीं सोचते। विज्ञान आज एक विराट उत्पादक शक्ति है, लेकिन एक ज़माना वह भी था, जव प्राकृतिक विज्ञान का व्यावहारिक समस्याओं के हल के साथ संबंध नहीं होता था, वल्कि वह संपन्न लोगों के लिए विश्राम के क्षणों में मनवहलाव का साधन था।

संक्षेप में, यह देख पाना कठिन नहीं है कि संस्कृति की प्रत्येक परिघटना कितनी बहुपक्षीय है, कि कैसे कोई भी परिघटना एकसाथ ही कई कार्यभार पूरे कर सकती है, अनेक भौतिक और आत्मिक आवश्यकताओं की तुष्टि का साधन हो सकती है।

इसके साथ ही संस्कृति में ऐसे व्यापक क्षेत्र भी हम अलग कर सकते हैं, जिनमें से प्रत्येक में सर्वप्रथम किन्हीं ठोस आवश्यकताओं की, आवश्यकताओं के समूह विशेष की ही पूर्ति होती है। आगे के अपने विवरण को हमने इन क्षेत्रों के अनुसार ही अलग-अलग अध्यायों में बांटा है।

सबसे पहले हम यह देखेंगे कि किस प्रकार मानव ने इस संसार को अपने रहने लायक बनाया और संस्कृति के आर्थिक पहलू का विकास किया – सर्वप्रथम इसलिए कि प्रत्येक जीव की नैसर्गिक आवश्यकता – उदर-पोषण की आवश्यकता – पूरी कर सके।
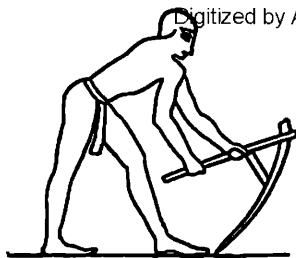
'खून-पसीना एक करके...'

आहार की खोज में

हमारे सुदूर पूर्वज कंद-मूल बटोरते और आखेट करते थे। हाथ में डंडा लिये वे वनों, मैदानों, अर्धरेगिस्तानों और, शायद, रेगिस्तानों में भी घूमते-फिरते थे। उन्हें सैकड़ों भक्ष्य फलों और सब्जियों, घास-पात और कंद-मूलों के गुण और लक्षण याद होते थे। जहां आखेट की परंपरा थी, वहां के लोग जानवरों की आदतें भी खूब अच्छी तरह जानते थे। अन्यथा वे जीवित न रह पाते।

२०वीं शती के एक जाने-माने नृविज्ञानी लुईस लिकी अफ़्रीकियों की परंपरागत आखेट-विधियों का प्रेक्षण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि खरगोश को पकड़ पाना कोई कठिन काम नहीं है। बेशक, पहले खरगोश नज़र आना चाहिए। खरगोश दिखायी देते ही शिकारी उसके पीछे भागता है। एक ओर को लपकने से पहले खरगोश अपने कान पीठ से सटाता है। इसका अर्थ होता है कि अब वह दायीं ओर मुड़ जायेगा या बायीं ओर। मान लीजिये, आदमी दायीं ओर भागता है। यदि उसका अनुमान ठीक निकला है, तो खरगोश सीधे उसकी ओर दौड़ता आयेगा। अब बस होशियारी दिखानी चाहिए। आदमी अपने काम में होशियार है, तो खरगोश बचकर नहीं जा पायेगा। यदि खरगोश बायीं ओर भाग गया है, तो भी पूरी तरह यह नहीं कहा जा सकता कि शिकार हाथ से निकल गया। खरगोश को व्यर्थ में दौड़ना पसंद नहीं है, उसे जो पहली घनी झाड़ियां मिलेंगी, उनमें वह छिप जायेगा। खरगोश केवल अपनी तेज़ टांगों पर ही भरोसा नहीं करता, वह यह भी जानता है कि उसकी खाल का रंग उसे आस-पास की चीज़ों के बीच छिपा देगा। ऐसी स्थिति में हिंसक जंतु उसे देख पाने में प्राय: असमर्थ होते हैं, लेकिन मनुष्य की आंखें वर्णच्छटाओं के सूक्ष्म भेद भी बखूबी देख लेती हैं।

मनुष्य तेज़ तो नहीं दौड़ सकता, लेकिन वह बुद्धिमान है और जानवरों की आदतें जानता है। मानव-शरीर का गठन ऐसा है कि मनुष्य आखेट में अपने इस ज्ञान का सफल उपयोग कर सकता है।

आखेट के समय प्राचीन मानव ही नहीं, आधुनिक मानव भी जिस सहनशीलता का परिचय देता है, वह आश्चर्यजनक है। मैक्सिको के ताराउमोरा इंडियन हिरणों का तब तक पीछा करते रहते हैं, जब तक कि वे थककर निढाल नहीं हो जाते। वे लगातार दो-दो, तीन-तीन दिन तक जानवरों का पीछा करते रहते हैं। रास्ते के हर छोटे टुकड़े पर हिरण आसानी से मनुष्य को पीछे छोड़ देता है, लेकिन वह अपने पदचिह्न छोड़ता जाता है, इन्हें देख-देखकर अथक आखेटक बिना रुके चलता जाता है। पता यह चलता है कि अभ्यस्त मनुष्य की अपेक्षा हिरण को ही विश्राम की अधिक आवश्यकता होती है।

यदि आखेटक पशुओं के रास्ते जानता है, या फिर उसे विश्वास है कि पशु अपने प्राणों की रक्षा करते हुए वक्र-रेखा में दौड़ते जायेंगे, तो वह अपनी शक्ति बचाता हुआ सीधे उस स्थान को चल देगा, जहां, उसके अनुमान से, पशु कुछ समय पश्चात पहुंचेगा। अफ़्रीका में आज भी हिरणों का शिकार इस तरह किया जाता है।

आखेटक और कंद-मूल के संग्रहकर्ता उद्यमी और जिज्ञासु लोग थे। पशु-पक्षियों और वनस्पतियों के बारे में, चारों ओर के संसार की परिघटनाओं के बारे में हर नयी जानकारी धीरे-धीरे उनके काम की कारगरता बढ़ाती थी। इस काल में मनुष्य प्रकृति से उसकी देन केवल ले ही रहा था, और हर नयी सहस्राब्दी के साथ अधिक मात्रा में लेना सीख रहा था। आखेटक और संग्रहकर्ता उन परिस्थितियों में जीवन के इतने अनुकूल सिद्ध हुए कि वही पृथ्वी के बड़े भाग पर बस गये। ऐसा उस समय से बहुत पहले हुआ, जब उनके दूरस्थ वंशजों ने ज़मीन में पहले बीज डाले या पशुओं के बीच अपने मित्र और सेवक खोजने की चेष्टा की।

बड़ी नदी के पार क्या है? पर्वतमाला के पार क्या है? अनजान झील के उस ओर क्या है?

प्राचीनतम काल में ही रहस्य मनुष्य को भयभीत ही नहीं, आकर्षित भी करता था और लोगों में ज्ञान-पिपासा आज से कम नहीं थी।

अज्ञात या यहां तक कि ज्ञात खतरों को चुनौती देने को उतावले लोग सभी युगों में हुए हैं। लेकिन इन "नूतनता के अन्वेषकों" की भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर नहीं देखना चाहिए। लोगों को पर्वतों-घाटियों, नदियों-सागरों के पार ले जानेवाली शक्ति "यात्रा का उत्साह" नहीं, बल्कि उनकी मजबूरी,

उनकी ज़रूरत थी। यूरोप के प्राचीन निवासी हिमनद के दक्षिणी छोर पर बसे पशुओं का शिकार करने के आदी हो गये थे, हिमनद पीछे हटा, उसके पीछे-पीछे पशु उत्तर को चले गये और उनके साथ-साथ लोग भी। वे अब उन वनों में नहीं रह सकते थे, जहां पशु-पक्षी कम हो गये थे। एक और उदाहरण देखिये। सूखे के कारण शिकार कम हो गया, अपने इलाक़े में आहार पूरा नहीं पड़ता,
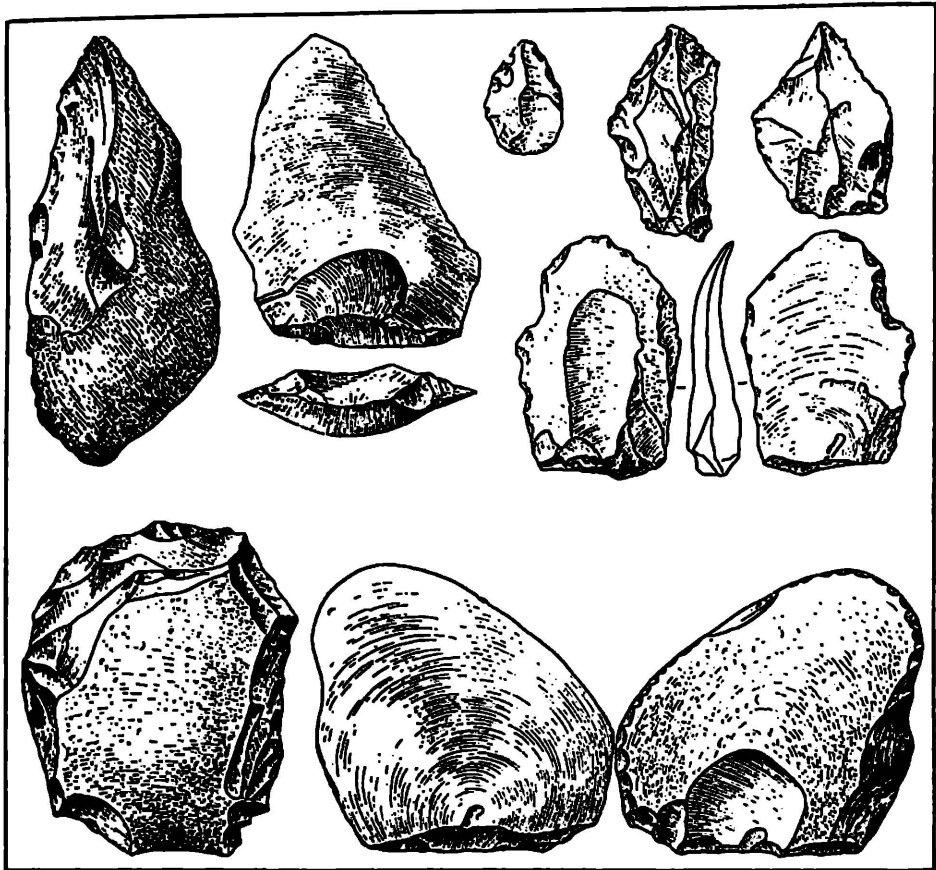
पुरापाषाण युग के पत्थर के औज़ार। आधुनिक मानव के सुदूर पूर्वज चक़मक़, स्फटिक (क्वार्ट्ज़) और क्वार्ट्ज़ाइट से ये औज़ार बनाते थे और चाकू, कुल्हाड़ी, खुरचनी, बरमे तथा भालों की नोक के तौर पर इस्तेमाल करते थे।

सो लोगों का एक दल अलग होकर अपने लिए नया आवास-स्थल खोजने चल दिया। या ऐसा भी हो सकता है। बसे हुए इलाक़े में दूसरे स्थानों से लोग आ गये, जिन्हें भूख ने उनके पुराने इलाक़े से खदेड़ दिया। उनकी संख्या अधिक है, वे शक्तिशाली हैं। ऐसे मामलों में मूल निवासियों को अपना इलाक़ा छोड़ना पड़ता था।

अमरीकी इतिहासकार बी० हार्पर ने आज अलेऊत (अलूट) और एस्कीमो लोग उत्तरध्रुव प्रदेश में जहां रहते हैं, उन इलाक़ों में उनके बसने के इतिहास का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

तुले संस्कृति के एस्कीमो लोगों ने लगभग चार सौ वर्षों में अलास्का से ग्रीनलैंड तक पांच हज़ार किलोमीटर की दूरी तय की—प्रति वर्ष औसतन साढ़े बारह किलोमीटर! उधर, अपने द्वीपों पर बस रहे अलेऊत लोग इससे कहीं कम रफ़्तार से बढ़े।

इस अंतर का कारण क्या है? अलेऊत लोग उर्वरा धरती पर आये। इसलिए वे देर तक एक ही स्थान पर रहते रहे। जहां जीना आसान हो, वहां से जाने की जल्दी कौन करेगा? संभवतः, यहां अधिसंख्य देशांतरणों, कम से कम गोत्र-समाज में देशांतरणों, के लिए लाक्षणिक नियम प्रकट होता है।

बी० हार्पर लिखते हैं:

"ये प्रेक्षण मनुष्य द्वारा नयी दुनिया को बसाये जाने की समस्या से भी संबंधित हो सकते हैं। अमरीकी इंडियनों के पूर्वजों ने महाद्वीपीय भूसंधि के रास्ते देशांतरण किया। यह एक ठंडा, जीव-जंतु रहित इलाक़ा था। यह सोचा जा सकता है कि वे जल्दी से जल्दी इस रास्ते को पूरा कर लेना चाहते थे। इसके विपरीत, बेरिंगिया को दक्षिणी मार्गों पर बढ़ रहे अलेऊतों को अपने रास्ते में समृद्ध समुद्री परिवेश मिला, जो लोगों के लिए पारिस्थितिकी की दृष्टि से आकर्षक था, इसी से नयी दुनिया की ओर बढ़ने की उनकी गति धीमी पड़ गयी।"

बहरहाल, कहीं तेज़ और कहीं धीमी गति से बढ़ते हुए मानव दक्षिणध्रुव प्रदेश को छोड़कर संसार के सभी भागों में पहुंच गया, कहीं हलकर, कहीं तैरकर, कहीं बेड़ों, तो कहीं नावों पर जलमार्ग पार करके वह सभी बड़े द्वीपों पर जा पहुंचा।

आदिम युग के कंद-मूल, आदि बटोरनेवालों और आखेटकों को अक्सर काफ़ी लंबे समय तक भूखा रहना पड़ता था। मानव प्रायः सभी कुछ खाता था—मछ-

अफ़्रीकी क़बीले के लोग मछली पकड़ने जा रहे हैं।

लियां, पशु-पक्षी और कीट, पेड़ों पर लगे फल और ज़मीन में दबे कंद-मूल। लेकिन इसके बावजूद पेट भर पाना आसान नहीं था। धीरे-धीरे अनुभव पाते हुए लोग यह सीख रहे थे कि जो कुछ सामने आ जाये, उस सब का नहीं, बल्कि किन्हीं विशेष पशु-पक्षियों, मछलियों का आखेट ही अधिक उपयोगी है।

आज से दसियों हज़ार साल पहले एशियाई और यूरोपीय मैदानों के, काकेशिया और उत्तरी अफ़्रीका के निवासियों की उदरपूर्ति विशेषीकृत आखेट से ही होती थी।

क्रीमिया में पुरापाषाण-युगीन मानव के एक डेरे पर अनेक अस्थियां मिली हैं, इनकी गणना से पता चला है कि इनमें ९८.४ प्रतिशत अस्थियां वन्य खरों की हैं। सोची नगर के पास गुफाओं में हुई खोजों से पता चलता है कि दसियों हज़ार साल पहले यहां रहनेवाले लोग मुख्यतः गुफा ऋक्ष का मांस खाते थे। मध्य एशिया के कतिपय स्थानों में मुफ़लॉन मेष ही मांसाहार का प्रमुख स्रोत था।

इसका यह अर्थ नहीं है कि इन स्थानों के आखेटक "हाथ में आये" दूसरे पशुओं का शिकार नहीं करते थे। लेकिन एक लाख साल पहले भी विशेषीकरण से लोगों को आखेट के अधिक अच्छे उपाय सोचने, आयुधों का परिष्कार करने, शिकार के बेहतर उपाय ढूंढ़ने में मदद मिली।

आखेट के विशेषीकरण के कुछ दुखद परिणाम भी हुए। मैमथ, गुफा ऋक्ष और, संभवतः, कुछ अन्य जंतुओं के विलुप्त होने में प्राचीन आखेटकों की भी भूमिका रही है।

पुरातत्वविदों की गणनाओं के अनुसार, ५० व्यक्तियों के एक समुदाय को वर्ष में ११ टन – प्रतिदिन प्रति व्यक्ति लगभग ६०० ग्राम – मांस की आवश्यकता होती थी। मैमथों के शिकार से सौ वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल से लगभग डेढ़ टन मांस मिल सकता था। इसका अर्थ यह है कि बच्चों सहित ५० व्यक्तियों के समुदाय को ७००-८०० वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल में शिकार करना पड़ता था। इस प्रकार, ऐसे विशाल भूक्षेत्र में, जैसा कि, उदाहरणतः, अब फ़्रांस का है (साढ़े पांच लाख वर्ग किलोमीटर), तीस-पैंतीस हज़ार लोग ही आहार पा सकते थे।

प्रकृति और जीवनयापन

ज्यों-ज्यों लोग पृथ्वी पर फैलते गये, त्यों-त्यों प्रकृति के साथ मानव के अन्योन्य-संबंधों की बहुत ही परिष्कृत व्यवस्थाएं बनीं। सुविख्यात सोवियत नृजाति-विज्ञानियों म० लेविन और न० चेबोक्सारोव ने यह सुझाया है कि इन व्यवस्थाओं को "जीवनयापन-सांस्कृतिक प्ररूप" कहा जाये। इनकी परिभाषा उन्होंने इस प्रकार की है: "किन्हीं ठोस प्राकृतिक-भौगोलिक परिस्थितियों में बसे जनगण के सामाजिक-आर्थिक विकास के निश्चित स्तर पर उनके जीवनयापन और संस्कृति की जो विशेषताएं इन जनगण के लिए अभिलाक्षणिक होती है, उन विशेषताओं के ऐतिहासिकत: बने समुच्चयों को जीवनयापन-सांस्कृतिक प्ररूप कहते हैं।"

निश्चित भौगोलिक परिस्थितियों से जुड़े जीवनयापन-सांस्कृतिक प्ररूपों की धारणा विज्ञान के लिए बहुत फलप्रद सिद्ध हुई है। इसकी बदौलत जनगण की संस्कृतियों के बीच समानताओं और भेदों के अनेक प्रश्नों का उत्तर खोजा जा सका है। लेविन और चेबोक्सारोव इस बात पर ज़ोर देते हैं कि उन्होंने अपने प्रस्तावित रूपों को मात्र जीवनयापन प्ररूप नहीं, बल्कि जीवनयापन-सांस्कृतिक प्ररूप कहा है। ऐसा अकारण नहीं है। बात यह है कि "जीवनयापन संबंधी कार्य-कलापों की दिशा और भौगोलिक परिवेश बहुत हद तक जनगण की भौतिक संस्कृति की विशिष्टताएं—बस्तियों और आवासों के प्ररूप, परिवहन साधन, भोजन और घर-गृहस्थी का सामान, वेशभूषा, आदि—निर्धारित करते हैं"।

नृजातिविज्ञानियों ने विश्व में कई दर्जन जीवनयापन-सांस्कृतिक प्ररूप गिने हैं। इनकी सही-सही गिनती बता पाना कठिन है, क्योंकि अलग-अलग वैज्ञानिक अलग-अलग सिद्धांतों को अपने वर्गीकरण का आधार बनाते हैं और इसलिए विभिन्न आंकड़े पाते हैं।

लोग कहां-कहां नहीं रहते! उत्तरध्रुव प्रदेश में और उष्ण कटिबंध में, तिब्बत के पर्वतों में और अफ़्रीका, एशिया, आस्ट्रेलिया के रेगिस्तानों में।

संसार के कोने-कोने में लोग रहते आये हैं। कड़ाके की ठंड और झुलसाती गर्मी, विरल वायु और खतरनाक हिंसक जंतुओं के बावजूद वे हर जगह रह पाये हैं, क्योंकि वे हर जगह वहां की भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप संस्कृति बनाने में सफल रहे।

एस्कीमो लोगों को लें। कितना विपन्न लगता है उनका प्राकृतिक क्षेत्र। अनेक मास का जाड़ा और उसमें भी कई महीने की ध्रुवीय रात। छह महीने तक और कहीं-कहीं तो आठ-आठ, दस-दस महीने तक चारों ओर हिम ही हिम। निस्संदेह, कनाडा के प्रसिद्ध नृजातिविज्ञानी और अनुसंधानकर्ता फ़ार्ली मोएट का यह कहना सही है कि "उत्तरध्रुव प्रदेश जमी हुई नदियों और हिमकवच से जकड़ी झीलों का ही नहीं, बल्कि सजीव नदियों और झीलों का भी जगत है, जिनमें ग्रीष्म ऋतु में नील गगन झांकता है, जहां तटों पर फूलों का क़ालीन बिछता है, हरी-भरी विशाल चरागाहें हैं। उत्तरध्रुव प्रदेश में भयानक ठंड ही नहीं पड़ती, ज़बरदस्त गर्मी भी होती है।" इस ध्रुव प्रदेश में आखेटक और मत्स्यजीवी बनकर ही लोग अपना अस्तित्व बनाये रख सके।

उत्तरध्रुव प्रदेश के मूलनिवासी भांति-भांति के घर बनाते थे। कुछ जनजातियां चुकोत्का और उत्तरी अमरीका के तटों पर तहख़ानेनुमा मकान बनाती थीं। ज़मीन में गड्ढा खोदकर पत्थर की दीवारें बना ली जाती थीं, जो ज़मीन से थोड़ी-सी ही ऊपर उठी होती थीं और उन पर छत डाल दी जाती थी। मकानों तक पहुंचने के लिए गहरी खंदकों से होकर जाना पड़ता था। इन खंदकों की दीवारें भी पत्थर से चिनी होती थीं और प्रायः खंदकें पत्थर की सिलों से छाज दी जाती थीं। अलास्का में ऐसे तहख़ानेनुमा मकानों की दीवारें लकड़ी के पटरों से बनायी जाती थीं; फ़र्श पर भी पटरे बिछे होते थे। संकरी सुरंग से होकर मकान में घुसा जाता था – यह हिंसक जंतुओं और शत्रु क़बीलों से बचाव के लिए आवश्यक था। लेकिन अगर न पत्थर हो, न लकड़ी और न ही ज़मीन, जिसमें ठंड और हिम से बचा जा सके, तो?

तब लोग मकान बनाने के लिए हिम का ही उपयोग कर लेते हैं। आज भी ग्रीनलैंड के कुछ भागों में एस्कीमो लोग अपने प्रसिद्ध इग्लू मकान बनाते हैं। एस्कीमो निर्माताओं का कौशल आश्चर्यजनक है! हिम की सिल्लियां काटकर उन्हें एक दूसरी पर इस तरह रखते जाते हैं कि गोलार्ध गुंबद बन जाता है। इसके बाद दीवारों को मज़बूत बनाने का काम किया जाता है, यह इतना सरल है कि इसके अधिक सरल और कुछ हो नहीं सकता: एक दीया इग्लू के अंदर ले जाया जाता है, जिसमें सील की चर्बी जलती है। दीये के ताप से दीवारों की भीतरी सतह पर हिम ज़रा-ज़रा पिघल जाता है, इसके बाद ठंडी हवा इग्लू के भीतर जाने देते हैं, पानी फिर से जम जाता है और अब वह ऐसा बर्फ़ीला

कवच वन जाता है, जो हिम की अलग-अलग ईंटों को एक दूसरी से खूब अच्छी तरह जोड़ देता है। इसके बाद के घंटों और दिनों में इग्लू की दीवारें अधिकाधिक मज़बूत होती जाती हैं, क्योंकि हिम धंस-धंसकर जमता जाता है और ईंटें अधिक मज़बूती से एक दूसरी से "चिपकती" जाती हैं।

जाड़ों में इग्लू में प्रवेश करने का ढंग एकदम विचित्र है—हिम में वनी लंवी सुरंग के रास्ते फ़र्श में बने छेद तक पहुंचा जाता है और यहां से इग्लू में प्रवेश करते हैं। इस तरह फ़र्श के रास्ते मकान में घुसने का संसार में बस एक ही और उदाहरण है—पानी में बल्लियों के ऊपर बने मकानों में भी इसी तरह पहुंचा जाता है।

संसार के दूसरे भागों के निवासियों की दृष्टि से इग्लू को आरामदेह नहीं कहा जा सकता—इसकी ऊंचाई लगभग दो मीटर और व्यास तीन-चार मीटर होता है। इतनी थोड़ी जगह में भी प्रायः दो परिवार रहते हैं।

इस तंगी के पीछे भी एक कारण है। इच्छा होने पर इग्लू कहीं बड़ा वनाया जा सकता है, अपनी सभाओं, आदि के लिए एस्कीमो लोग १२-१२ मीटर व्यास के इग्लू भी बनाते हैं, निर्माण-सामग्री की तो कमी है नहीं। लेकिन वात यह है कि मकान का यहां प्रमुख प्रकार्य है चर्बी के दीये और मानव-शरीर से निकलते ताप को वनाये रखना। सो, स्वाभाविक ही है कि मकान जितना छोटा होगा, उतनी ही आसानी से वह गरम हो जायेगा।

इग्लू में गर्मियों में भी रहा जाता है। हिम का वना मकान ठंड से ही नहीं, गर्मी से भी बचाता है, वैसे तो, उत्तरध्रुव प्रदेश में ग्रीष्म ऋतु बड़ी छोटी होती है और उसमें भी कोई ख़ास गर्मी नहीं पड़ती। गर्मियों में इग्लू में प्रवेश करने के लिए फ़र्श के विल्कुल पास ही दीवार में छेद किया जाता है।

हिम की दीवारें दिन के प्रकाश को भीतर जाने देती हैं। वैसे तो, इग्लू में खिड़कियां भी वनायी जा सकती हैं—हिम-दीवार में छेद करके वहां पारदर्शी बर्फ़ की पतली परत लगा दी जाये। प्रायः ऐसा किया भी जाता है, लेकिन लगता है, यूरोपीय आवासों से परिचित होने के वाद ही एस्कीमो लोग इग्लू में ऐसी खिड़कियां बनाने लगे हैं।

सदियों पहले इग्लू कैसे होते थे, यह कोई भी नहीं बता सकता। हिम के मकानों में यह कमी तो है कि वे "दीर्घजीवी" नहीं होते।...

हां, इतना हम जानते हैं कि बैफ़िन द्वीप पर इग्लू में सभ्यता के तत्व मौजूद हैं। यहां खिड़कियों पर समुद्री जीवों की पारदर्शी अंतड़ियां लगी होती थीं। घर के अंदर दीवारों पर चारों ओर समूरवाले जानवरों की खालें टंगी होती थीं। लेकिन यहां भी ग्रीनलैंड की ही भांति सारा "फ़र्नीचर" हिम का होता था, जो चमड़े और समूरों से ढंका होता था। वैसे तो, सारा "फ़र्नीचर" बस हिम के पटरों या बेंचों के रूप में होता था, जिन पर लोग बैठते, सोते और खाना खाते थे। इन्हीं पर खाना, दीये और हथियार रखे जाते थे। वैसे, औज़ारों और हथियारों के लिए इग्लू के बग़ल में हिम की ही छोटी-छोटी कोठरियां भी बनायी
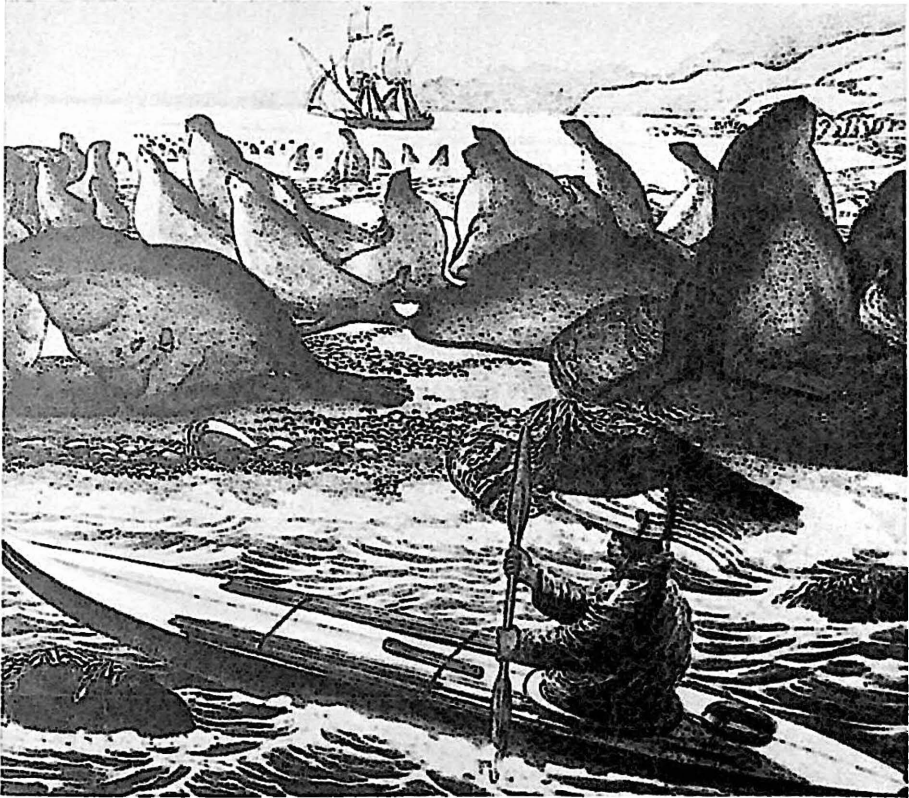
जल-व्याघ्रों के विश्राम स्थल के पास अलेऊत (१८वीं शती के उत्कीर्णन चित्र का एक अंश)।

जाती थीं। हिम में या चिर-तुषार से जकड़ी ज़मीन में गड्ढा खोदकर उसमें खाद्य-भंडार रखे जाते थे।

बेरिंग जलडमरूमध्य के तटों पर रहनेवाले अलेऊत लोग ह्वेल की पसलियां ज़मीन में गाड़कर और उन पर घास की थिगलियां और सूखी घास डालकर घर बनाते थे (बाद में वे ह्वेल की हड्डियों के स्थान पर समुद्र में बहकर आनेवाले पेड़ों के तनों से काम लेने लगे)।

ये मकान ग्रीनलैंड के इग्लू मकानों से कहीं अधिक बड़े होते थे। इग्लू का क्षेत्रफल जहां ८-१० वर्ग मीटर ही होता था, वहीं इनका क्षेत्रफल १०० वर्ग मीटर से भी अधिक होता था। लेकिन बड़े मकानों में लोग और भी अधिक तंगी में रहते थे – ऐसे एक मकान में पचास परिवार तक टाट से अपना हिस्सा अलग करके रहते थे।

उपरोक्त सभी जातियां उस जीवनयापन-सांस्कृतिक प्ररूप का उदाहरण हैं, जिसमें प्राकृतिक संपदाओं को मात्र हस्तगत किया जाता है। इसमें भी ये उस उपप्ररूप की प्रतिनिधि हैं, जिसे "समुद्री जीवों के उत्तरध्रुवीय आखेटक" कहा जाता है।

एस्कीमो, चुक्चा, अलेऊत, आदि उत्तरी जनजातियों का आखेट बहुत विविधतापूर्ण तो नहीं कहा जा सकता: ह्वेल, सील, वालरस, सफ़ेद भालू – बस, इन्हीं का शिकार वे करते थे। लेकिन इसे उत्तरध्रुव प्रदेश की कमी नहीं, बल्कि श्रेष्ठता कहा जाना चाहिए। जैसाकि ऊपर इंगित किया गया है, विशेषीकृत आखेट अपेक्षाकृत आसान होता है।

पत्थर, हड्डी, ह्वेल के बाल और समुद्र में बहकर आनेवाली लकड़ी से यहां के लोग दसियों प्रकार के औज़ार, आयुध तथा घर-गृहस्थी की वस्तुएं बनाते थे। लकड़ी के ढांचे पर खालें तानकर बनायी गयी इनकी नौकाएं हल्की-फुल्की होती थीं। ह्वेल के शिकार या देशांतरण के लिए निर्मित नौकाएं इतनी बड़ी होती थीं कि उनमें सौ तक लोग आ सकते थे।

उत्तरध्रुव प्रदेश के निवासियों के वस्त्र गरम और आरामदेह हैं। आजकल ध्रुव प्रदेश में अनुसंधान कार्य के लिए जानेवाले वैज्ञानिकों के लिए वस्त्र इन्हीं को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं। यही नहीं, यूरोपीय सूट (कोट-पैंट) भी बहुत हद तक इन वस्त्रों के आधार पर ही बना है।

उत्तरध्रुव प्रदेश में, शीतोष्ण और उष्ण कटिबंध में – जहां-जहां लोगों ने

विशेषीकृत आखेट अपना लिया, फंदे और जाल, बर्छियां, नावें, धनुष बना लिये और यायावर आखेटकों एवं संग्रहकर्ताओं के स्थान पर दीर्घकालीन बस्तियों के स्थावर निवासी बन गये, औज़ारों और आहार के भंडार बनाना व उन्हें संजोये रखना सीख गये, दूसरे शब्दों में जहां-जहां हस्तगतकरण पर आधारित जीवन-यापन का उच्चतम प्ररूप बन गया, वहां-वहां बहुविध भौतिक एवं आत्मिक संस्कृति बनी और जटिल सामाजिक संरचनाएं प्रकट होने लगीं।

लेकिन इससे पहले कि सभ्य समाज में संक्रमण हो पाता, उत्पादक शक्तियों में, जीवनयापन की सारी व्यवस्था में ही सच्ची क्रांति आनी थी – ऐसी भव्य क्रांति, जिसकी तुलना सारे पूर्ववर्ती इतिहास में किसी से नहीं हो सकती।

हस्तगतकरण से उत्पादन की ओर

शीतोष्ण और उष्ण कटिबंध में रहनेवाले जो क़बीले आज तक शिकार करके, मछली पकड़कर और जंगली फल व कंद-मूल, आदि बटोरकर निर्वाह करते हैं, उनके लिए भी प्रायः कृषि एक अनुपूरक कार्य बन जाती है। कृषि-कार्य वे अपने पड़ोसी क़बीलों से सीखते हैं।

लेकिन प्राचीन युग के आखेटक और संग्रहकर्ता कृषि और पशुपालन की ओर प्रवृत्त कैसे हुए, उत्पादन पर आधारित जीवनयापन किस प्रकार आरंभ हुआ, प्रकृति का लक्ष्यबद्ध कायाकल्प किस प्रकार किया जाने लगा?

यहां यह कहा जाना चाहिए कि स्वयं धरती माता ने मानव की बहुत सहायता की।

पृथ्वी के अनेक स्थानों पर प्रकृति ने मानो स्वयं ही मनुष्य को भविष्य का रास्ता दिखाया। उत्तरी अमरीका के आदिवासी कृषि-कार्य में प्रवृत्त होने से बहुत पहले ही झीलों के तटों पर जंगली चावल की "फ़सलें" बटोरा करते थे। एशिया माइनर में, ईरान के पठार पर तथा कुछ अन्य स्थानों पर आज भी जंगली गेहूं के खेत के खेत उगते पाये जाते हैं।

मानव ने, जो आहार की खोज में इतना समय लगाता था, अंततः यह देख लिया कि सभी पेड़-पौधे बीज से उगते हैं, और सहस्रों वर्ष तक अवचेतन एवं सचेतन रूप से वह उन्हें उगाने के मार्ग पर बढ़ता रहा।

इसमें कोई संदेह नहीं कि कृषि की उत्पत्ति में उन ठोस प्राकृतिक परिस्थि-

तियों ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की, जिनमें लोग रहते थे। यह अकारण ही नहीं कि विश्व के जिन-जिन भागों में सबसे पहले कृषि-कार्य आरंभ हुआ, वे सभी २०वें और ४५वें अक्षांश के बीच स्थित हैं, अर्थात इसके लिए सर्वाधिक अनुकूल कटिबंध में। महाद्वीपों की प्राकृतिक परिस्थितियों के बीच भेद का भी बहुत महत्व था। इस सिलसिले में एंगेल्स ने लिखा कि पुरानी दुनिया में "पालने योग्य लगभग सभी पशु और एक को छोड़कर उगाने योग्य बाक़ी सभी अन्न उपलब्ध थे, जबकि पश्चिमी महाद्वीप, यानी अमरीका, में... पालने योग्य केवल एक पशु था, जिसे लामा कहते हैं, और उगाने योग्य केवल एक अन्न, यानी मक्का था, पर वह अन्नों में सर्वश्रेष्ठ था"। अनुकूल प्राकृतिक परिस्थितियों की भारी विविधता की ही बदौलत पुरानी दुनिया में कृषि-कार्य अमरीका से कई हज़ार साल पहले होने लगा।

कृषि की ओर संक्रमण क्रमिक ही था। आरंभ में लोग स्वतः उगनेवाली फ़सलों की रक्षा ही करते थे – अनाज जब पक रहा होता, तो चिड़ियों को उड़ाते थे, वन्य जंतुओं के झुंडों को खेतों में नहीं आने देते थे, कभी-कभी सोच-समझकर फ़सल का एक भाग काटे बिना रहने देते थे, ताकि अगले साल अनाज फिर से स्वतः उग आये। समय-समय पर सूखा भी पड़ता था, जब धरती पत्थर बन जाती थी और उस पर गिरनेवाले बीजों को ग्रहण नहीं करती थी – यह देखते हुए अंततः लोगों के मन में यह विचार आया कि ज़मीन की गुड़ाई करनी चाहिए।... धीरे-धीरे, क़दम दर क़दम, अनेक पीढ़ियों के जीवन-काल के दौरान कृषि की उत्पत्ति हुई। सैकड़ों छोटी-बड़ी खोजें हुईं और तब कहीं जाकर जंगली फल व कंद-मूल बटोरनेवाले की छड़ी फावड़ा बन गयी और स्वयं संग्रहकर्ता किसान बन गया।

प्रकृति माता से अनेक फल मनुष्य ने पाये हैं और यह प्रमाणित किया है कि वह उसका सुपुत्र है, उसके कार्य को सफलतापूर्वक आगे बढ़ा रहा है।

छोटे-छोटे जंगली सेबों और मनुष्य द्वारा उगाये गये सेबों, जंगली आलू की छोटी-छोटी गांठों और श्रेष्ठ क़िस्मों के आलू, किसी जंगली बेरी और बाग़ में उगायी गयी उसी तरह की बेरी को एक नज़र देखते ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि पिछले सहस्रों वर्षों में मानव क्या करने में सफल रहा है।

सैकड़ों वनस्पतियों का मानव ने कायाकल्प करके उन्हें कृषि में स्थान दिलाया है, हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग बनाया है। उदाहरणतः, भारत में पांच

हज़ार वर्ष से भी अधिक समय से जौ और गेहूं, दालों और धान की खेती हो रही है। ताड़वृक्ष यहां प्राचीन काल से उगाये जाते रहे हैं।

पूर्वी एशिया में धान का प्रभुत्व है, गेहूं का भारत से यूरोप तक तथा अमरीका, अफ़्रीका और आस्ट्रेलिया में, मक्का सारे संसार में फैल गया है, रई नामक अनाज मुख्यत: पूर्वी यूरोप में उगाया जाता है, सोर्गो अफ़्रीका में।...

संसार की प्रमुखतम फ़सलों की सूची बहुत लंबी है। इनकी उत्पत्ति और प्रसार की समस्या अनेक वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित करती आयी है। इस समस्या का हल खोजने में स्वनामधन्य सोवियत जीवविज्ञानी निकोलाई इवानोविच ववीलोव ने, हमारे विचार में, बहुत बड़ा योगदान किया है। पिछले दशकों में उनकी खोजों का दूसरे वैज्ञानिकों ने आगे विकास किया है, उनकी अनुपूर्ति

१६वीं शती में रूसी किसान इस तरह ज़मीन जोतते थे।

की है। इस सामग्री के एक अल्पांश को ही देखने से यह पता चल जाता है कि मनुष्य द्वारा उगायी जानेवाली वनस्पतियों के संसार भर में फैलने की प्रक्रिया कितनी जटिल रही है। धान पूरब से पश्चिम में आया है। हिंद और प्रशांत महासागर तट से इटली और पिरेनीज़ प्रायद्वीप तक की यात्रा में इसे कम से कम आठ हज़ार साल लगे। प्राचीन रोम में पतली-पतली खीर उदर रोगों से ग्रस्त रोगियों के लिए एक सबसे महंगा पथ्य थी। गेहूं ने मध्य एशिया से चलकर सारे संसार में अपनी विजय-पताका फहरायी है। मक्का के प्रसार की गति सबसे अधिक तीव्र रही है—अमरीका से चले इसे पांच सौ साल भी नहीं हुए हैं और आज यह, अपने हमवतन आलू की ही भांति, संसार के उन सब भागों में उगाया जाता है, जहां जलवायु इसके लिए बहुत कठोर नहीं है। एक बात और—मक्का एक ऐसा अन्न है, जिसका मनुष्य ने सबसे अधिक रूप बदला है। अमरीका महाद्वीप के मूलनिवासियों ने सात हज़ार साल तक चाहे-अनचाहे इसका वरण करते हुए इसका पूर्ण कायाकल्प कर दिया। मक्का के वन्य पूर्वज के अवशेष तो अभी हाल ही में पुरातत्वविदों को बड़ी कठिनाई से मिले हैं। अमरीका में यूरोपवासियों के पहुंचने से पहले ही वहां मक्का की सैकड़ों क़िस्में निकाली जा चुकी थीं, जिनके भुट्टों के आकार और दानों के रंग भिन्न-भिन्न थे।

पुरानी दुनिया में अमरीका की तुलना में अन्न-धन कहीं अधिक है, शायद, इसीलिए इसने एक भी अन्न का इस हद तक कायाकल्प नहीं किया। एशिया माइनर में पाया जानेवाला जंगली गेहूं काफ़ी अच्छी पैदावार देता है और उसके दानों में प्रोटीन की मात्रा तो मानव द्वारा उगायी जानेवाली गेहूं की अधिकांश क़िस्मों में इसकी मात्रा से अधिक होती है।

गेहूं और चना-मटर भी यूरोपीय हमलावरों ने अमरीका में पहुंचाये। अनेक पुरातत्वविदों के मत में, यूरोप में भी गेहूं और जौ एशिया के लड़ाकू क़बीलों के साथ पहुंचे थे। कूटू एशिया माइनर, बाल्कन और पोलैंड से होता हुआ १२वीं शती में रूस में पहुंचा। आरंभ में तो, शायद, तुर्क विजेताओं ने ही उसे केंद्रीय एशिया से यूरोप तक पहुंचाया था, लेकिन रूस की ओर इसकी यात्रा का अंतिम भाग शांतिपूर्ण ही था। यहां कूटू ने शीघ्र ही जनमानस पर विजय पा ली और कूटू की खिचड़ी ठेठ रूसी पकवान बन गयी।

संसार में सबसे अधिक प्रचलित अनाज—गेहूं—की जन्मभूमि मध्य एशिया

है। चना और मसूर, कपास और गाजर, पिस्ता और खूबानी तथा सन की कुछ क़िस्में भी यहीं से संसार भर में फैली हैं।

बाजरा, कूटू, सोया, मूली तथा अन्य कई फ़सलें चीन में ही सबसे पहले उगायी जाने लगी थीं। धान और मीठा नींबू, नारंगी और आम, ईख और संतरा भारत की देन हैं।

पर्वतीय तुर्कमानिस्तान, ईरान, काकेशियापार, एशिया माइनर ने संसार को रुई और अंगूर तथा अनेक फल – नाशपाती, अनार, अंजीर, चैरी, बादाम, अख़रोट, आदि – प्रदान किये हैं।

भूमध्यसागर क्षेत्र से मानवजाति ने जैतून, चुक़ंदर तथा अन्य कई सब्ज़ियां पायी हैं। संभवतः, इससे भी अधिक श्रेय इस क्षेत्र को इस बात का दिया जाना चाहिए कि इसने अनेक आगंतुकों को शरण दी। जौ की जन्मभूमि इथियोपिया है, लेकिन भूमध्यसागर क्षेत्र ने उसे गोद लिया, उसके दाने बड़े बनाये। चने, मटर, सन तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया से आये खीरों के बारे में भी यही बात कही जा सकती है।

मध्य अमरीका ने मानवजाति की कृषि-व्यवस्था में मक्का को, राजमा और कद्दू, मिर्च और शकरकंदी की अमरीकी क़िस्मों तथा टमाटर और अमरीकी कपास को स्थान दिलाया। यह कपास तो मानो अफ़्रीकी और एशियाई जलवायु के लिए विशेषतः बनी थी, मिस्र, सोवियत संघ तथा अन्य कई देशों के खेतों से इसने पुरानी दुनिया के अपने संबंधी को प्रायः खदेड़ ही दिया है।

अमरीकी कृषि-वनस्पतियों का दूसरा केंद्र इससे दक्षिण के उस क्षेत्र में था, जहां अब एक्वाडोर, बोलीविया और पेरू देश हैं, जहां आलू की जन्मभूमि है। लेकिन यूरोप में वह सीधा वहां से नहीं आया। उसे बीच में एक पड़ाव की आवश्यकता पड़ी। सैकड़ों बार यह बढ़िया कंद-मूल यूरोप में लाया और बोया गया, लोग इसके घने, चमकीले हरे पत्तों को देखकर खुश होते थे और निराशा में सिर हिलाते थे – पत्ते उगते थे, आलू नहीं। पता चला कि आलू के सामान्य विकास के लिए यूरोप का ग्रीष्म का दिन बहुत अधिक लंबा है, आलू को इतना अधिक प्रकाश माफ़िक़ नहीं आता। चिली के निकटवर्ती एक द्वीप ने यूरोपवासियों की यह समस्या सुलझायी। यह द्वीप भूमध्यरेखा के पास नहीं था, सो यहां का आलू ग्रीष्म ऋतु के लंबे दिन का आदी हो चुका था, इसमें क्रोमोसोमों की संख्या ही बदल गयी थी।

दूसरी ओर, इतिहास में ऐसी फ़सलों के उदाहरण भी मिलते हैं, जिनकी खेती का क्षेत्र पिछली शताब्दियों और सहस्राब्दियों में बहुत कम हो गया है। बाजरे और जौ के बारे में यह बात कही जा सकती है। रूस में आज से एक हज़ार साल पहले ही जौ का स्थान रई नामक अनाज लेने लगा था। ज़ैतून वृक्ष भी अब बहुत कम उगाया जाता है, जबकि प्राचीन यूनान और इटली के नगरों की समृद्धि का आधार अंगूर और गेहूं के साथ-साथ ज़ैतून ही था। एक किंवदंती के अनुसार, एथेंसवासियों ने सागर के देवता पोसिडोन को नहीं, बल्कि एथेंस देवी को ही इसलिए अपना आराध्य माना था कि इस देवी ने उन्हें यह वृक्ष प्रदान किया था।

ज़ैतून की खेती घटने का कारण क्या है?

रोम के पतन के साथ आये "बर्बर" क़बीलों ने यूरोप के बड़े भाग में पशु-जन्य वसा का प्रचलन कराया, ज़ैतून के तेल की मांग घट गयी। वैसे डाक्टरों का कहना है कि वनस्पतियों से प्राप्त वसा (तेल) पशुजन्य वसा (मक्खन, घी) से अधिक उपयोगी है।

कुछ शताब्दी पहले अंगूर यूरोप में दूर उत्तर तक, स्कैंडिनाविया तक उगाया जाता था। यूरोप में इसकी खेती का फैलना बहुत हद तक ईसाई धर्म से संबंधित है। ईसाई धर्म का एक सबसे महत्वपूर्ण अनुष्ठान है यूखारिस्ट। इसमें ईसाई धर्मावलंबी प्रसाद के तौर पर रोटी और लाल अंगूरी ग्रहण करते हैं। यह माना जाता है कि यह प्रसाद पानेवाले के शरीर में ईसा का मांस और रक्त बन जाता है और इस प्रकार प्रसाद पानेवाला ईसा का अंग बन जाता है। इस अनुष्ठान के लिए अंगूरी की आवश्यकता पूरी करने के लिए ही उन इलाक़ों में भी अंगूर उगाया जाने लगा, जहां जलवायु इसके लिए बहुत अनुकूल नहीं थी। ऐसा तब तक होता रहा, जब तक कि व्यापार का अच्छा विकास नहीं हुआ तथा थल और जल मार्ग बहुत विश्वसनीय नहीं थे। लेकिन जब बाहर से लायी गयी अंगूरी के भरोसे रहना संभव हो गया, तो अंगूर की खेती दक्षिण तक ही सीमित रह गयी।

संसार के कई भागों में आलू और चुक़ंदर ने बहुत-सी सब्ज़ियों, सर्वप्रथम शलग़म, को पृष्ठभूमि में धकेल दिया। न्यूज़ीलैंड में तो एक समय ऐसा आया था, जब कुछेक वर्षों में ही आलू और मक्का ने यहां के मूलनिवासियों के पुराने परंपरागत आहार–कुमारु शकरकंदी–को प्रायः विलुप्त ही कर दिया।

मानवजाति उन सब वनस्पतियों का उपयोग नहीं करती है, जिनको

कृषियोग्य वनाया जा सकता है और जो इस लायक हैं कि उनकी खेती की जाये। कितनी ही वनस्पतियां ऐसी भी हैं, जिनकी खेती केवल अपनी जन्मभूमि में ही होती है, उससे वाहर वे नहीं फैली हैं। हालांकि वहुत मुमकिन है कि ये "घर-घुस्सू" वनस्पतियां अपने वर्तमान क्षेत्र से हज़ारों किलोमीटर दूर स्थित किसी भूक्षेत्र में वरदान सिद्ध हैं।

यहां एक और बात ध्यातव्य है। प्रत्यक्षतः, छह-सात हज़ार साल पहले ही मानवजाति ने उन सभी अन्नों, सब्ज़ियों और फलों की खेती शुरू कर दी थी, जो आज भी हमारी उदरपूर्ति करते हैं। कालांतर में इन वनस्पतियों का नये क्षेत्रों में प्रचलन ही हुआ, इनकी संख्या तो कम ही वढ़ी। शायद, इसलिए कि कृषि के उदयकाल में ही मानव ने अपने लिए उपयोगी और उपजाऊ वनस्पतियों में से अधिकांश की खेती आरंभ कर दी थी, या फिर इसलिए कि इतिहास के अगले चरणों में अपनी संस्कृति का विकास मुख्यतः दूसरी दिशाओं में किया।

यह भी हो सकता है कि वर्गों की उत्पत्ति ने इसमें घातक भूमिका अदा की हो – दास तथा वे किसान भी, जो औपचारिकतः स्वतंत्र होते हुए वास्तव में आश्रित थे, कृषियोग्य नयी वनस्पतियों की खोज में रुचि नहीं रखते थे, जवकि

आज कृषि-रसायनों से किसानों को मदद मिलती है।

दासस्वामियों को कृषि की समस्याओं की कोई चिंता नहीं थी।

लेकिन प्रमुख कारण, संभवतः, यह है कि जिन वनस्पतियों की खेती होने लगी थी, वे मानवजाति का पेट भरने में समर्थ थीं। अब बस उनको अच्छी तरह बोने, उगाने, सिंचाई प्रणालियां विकसित करने की आवश्यकता थी।

वन्य जंतु बने पालतू

कृषि की ही भांति जीव-जंतुओं को पालतू बनाने के मामले में भी "ज़मीन" स्वयं प्रकृति ने ही पशुपालन आरंभ होने से बहुत पहले ही तैयार कर दी थी। जीव-जगत का हमारा परिवेश जितना हमें लगता है, उससे कहीं अधिक हद तक मानव द्वारा प्रभावित हो सकता है। सर्कसों में जानवरों के जो चमत्कार दिखाये जाते हैं, वे इसका एक प्रमाण हैं।

आदिम आखेटक और संग्रहकर्ता कमोबेश अनुकूल परिस्थितियों में होने पर शिकार के समय पकड़े गये सभी पशु-शावकों को नहीं मारते थे। उनमें अनेक को वे पालतू बना लेते थे, अपने घर पर रखते थे। कृषि-कार्य आरंभ कर चुके क़बीले भी ऐसा ही करते थे।

अमेज़न नदी के तट पर बसे इंडियनों के पास कोई पालतू जानवर नहीं थे, लेकिन उनकी बस्तियां, विशेषतः यूरोपीय यत्रियों की दृष्टि में, प्राणिशाला जैसी लगती थीं। तोतों की तो बात ही अलग, तरह-तरह के बंदर, टैपीरस, छिपकलियां, यहां तक कि छोटे-छोटे मगरमच्छ भी लोगों के साथ सदा रहते थे। फ़सल न होने पर इनमें से ज्यादातर जानवर लोगों का आहार बन जाते थे, और फिर लोग नये जानवर रख लेते थे।

अफ़्रीका और पॉलीनीशिया में भी इससे मिलती-जुलती प्रथाएं पायी जाती थीं।

ऐसी जीवन-पद्धति लोगों को यह सिखाती थी कि जीव-जंतुओं से किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए। स्वाभाविक ही है कि आखेटक शिकार के भांति-भांति के जानवरों की आदतों और विशेषताओं से अच्छी तरह परिचित थे। देर-सवेर इस ज्ञान और अभ्यास को नये प्रकार के कार्यकलाप का आधार बनना ही था। अभी तक इस प्रश्न पर विवाद होता है कि क्या पशुपालन अलग से, कृषि से

स्वतंत्र रूप से, यों कहें कि उसके समानांतर ही प्रकट हुआ, या कि कृषि-कार्य पशुपालन का पूर्वगामी था। बात यह है कि पकड़े हुए पशुओं को "सजीव खाद्य भंडार" मात्र न बनाकर उनकी वंशवृद्धि करने के लिए दो चीज़ों की ज़रूरत थी। एक तो, समुदाय के पास आहार का पर्याप्त हद तक विश्वसनीय स्रोत होना चाहिए था। दूसरा कारक, प्रत्यक्षतः, कम महत्वपूर्ण है, हालांकि उसकी भी निश्चित भूमिका रही होगी: शिकारयोग्य पशु-पक्षियों की प्रचुरता पशुओं को पालतू बनाने में बाधक ही थी, क्योंकि यह प्रचुरता इस आवश्यकता को सीमित करती थी।

सो, इस दृष्टिकोण के अनुसार, गाय-भैंसों, भेड़-बकरियों और सूअरों को वही लोग पालतू बना सकते थे, जिन्हें वनस्पति आहार समुचित रूप में उपलब्ध था और मांसाहार के उतने ही स्थायी और विश्वसनीय स्रोत की आवश्यकता थी – दूसरे शब्दों में, वे लोग, जो कृषि-कार्य आरंभ कर चुके थे। यदि ऐसा है, तो कृषि पशुपालन की पूर्वगामी थी (कुत्तों को पालतू बनाना, शायद, इसका एक अपवाद है)।

लेकिन परिस्थितियां इससे बिल्कुल भिन्न भी हो सकती थीं।

ऐसे विकल्प के बारे में अमरीकी जीवविज्ञानी जेन पिंकले ने अपने एक लेख में बताया है। लेख का शीर्षक है: 'पुएब्लो इंडियन और टर्की-मुर्ग़ी। किसने किसको पालतू बनाया।'

जेन पिंकले विनोदमय ढंग से अपना गंभीर मत व्यक्त करती हैं: "यह कहना कि इंडियन ने टर्की-मुर्ग़ी को पालतू बनाया गाड़ी को घोड़े से आगे लगाना है। इंडियन के पास कोई चारा ही नहीं था, टर्की-मुर्ग़ी ने उसे पालतू बना लिया था।"

यह विरोधाभासपूर्ण निष्कर्ष जेन पिंकले ने कोलोराडो राज्य में किये गये प्रयोग के आधार पर निकाला है। यहां एक कैनियन में वैज्ञानिकों ने टर्की-मुर्ग़े-मुर्ग़ियां रख दिये और उन्हें दाना देने लगे। उनकी संख्या बढ़ने के साथ वे सबकी जान की आफ़त बन गये, न लोगों से डरते थे, न मोटरगाड़ियों से, खाद्य-पदार्थ चुराते थे, घरों में घुस जाते थे, कमरों में और चारों ओर गंदगी फैलाते थे। बंदूकें चलाकर और एक तरह के हथगोले छोड़कर उन्हें भगाने की कोशिशें की गयीं, लेकिन सब बेकार!

सुप्रसिद्ध पुरातत्वविद और पुरातत्व विषयक सुगम साहित्य के लेखक

क० व० केराम ने अपनी पुस्तक 'प्रथम अमरीकी' में इस प्रयोग पर निम्न टिप्पणी की है:

"...अंडे से रहे पंछी और खेत जोत रहे लोग एक से ही स्थानों से जुड़े हुए थे, जहां जल था, और इस प्रकार पंछी लोगों के, उनके व्यवहार और शोर के आदी हो गये। और फिर टर्की-मुर्गे-मुर्ग़ियां बेशर्मी से उन स्थानों पर दाना चुराने लगे, जहां उन्हें दाना खोजना नहीं पड़ता था – टोकरियों में और

हज़ारों वर्ष से कुत्ते वफ़ादारी से मनुष्य की सेवा करते आये हैं। स्लेजगाड़ी में जोते जानेवाले कुत्ते।

गुफाओं में, जहां लोग अपने भोजन के भंडार रखते थे। संक्षेप में, इंडियनों के पास सिवाय इसके और कोई चारा नहीं था कि वे टर्की-मुर्ग़े-मुर्ग़ियों को रात के समय बाड़े में बंद करके रखें और फिर दिन भर उन्हें चरायें।"

इस स्थिति की सारी विचित्रता के बावजूद यह सोचे बिना भी नहीं रहा जा सकता कि रेड इंडियन अंततोगत्वा सभी टर्की-मुर्ग़े-मुर्ग़ियों को मार डाल सकते थे। सो, पंछियों के साहस की ही नहीं, लोगों के धैर्य की भी दाद देनी चाहिए।

पशु-जगत के हमारे मित्रों और सेवकों में कुत्ते और बिल्ली का विशेष स्थान है।

जीवविज्ञानी इस बात के अनेक उदाहरण जानते हैं कि किस प्रकार विभिन्न जीव-जंतु परस्पर लाभदायक सहअस्तित्व स्थापित कर लेते हैं — बेशक, ऐसा वे अचेतन रूप से करते हैं। सियार बाघ के पीछे-पीछे चलते हैं, उसके शिकार का बचा-खुचा भाग खाते हैं। संभव है कि इसी प्रकार किसी ज़माने में जंगली कुत्तों के झुंड पुरापाषाण-युगीन लोगों के यूथों के पीछे चलते रहे होंगे, उनकी जूठन खाते रहे होंगे। कभी-कभी तो वे लोगों को शिकार का रास्ता दिखाते और शिकार को उसकी ओट से बाहर खदेड़ते भी रहे होंगे। घरेलू बिल्लियों में तो आज तक ऐसे लक्षण पाये जाते हैं, जिनसे लगता है कि वे पूरी तरह पालतू नहीं बनी हैं। बिल्ली मनुष्य पर निर्भर होकर, उसकी सेवक बनकर नहीं रहती, उनके बीच एक प्रकार का सहजीवन है। उसने मानो, किप्लिंग की कहानी के अनुसार, मनुष्य के साथ सहअस्तित्व की शर्त स्वीकार की है — वह चूहों से निजात पाने में लोगों की मदद करती है, लेकिन इसके बदले "जहां जी में आये घूमती है, अकेली विचरती है"।

कुत्ता मनुष्य का एक सबसे पुराना मित्र है। इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं। पुरातत्वीय उत्खननों की सामग्री से इसका पता चलता है, कुत्तों की नस्लों की भारी विविधता और मनुष्य से कुत्ते का असाधारण लगाव भी यही बात कहते हैं। लोकसाहित्य में कुत्ते को विशेष स्थान प्राप्त है और मनुष्य कितने ही प्रकार से कुत्ते का उपयोग करता आया है। शिकारी कुत्ते हैं, ऐसे कुत्ते हैं, जो भेड़ें चराते हैं, चौकीदार का काम कुत्ते करते हैं और सवारी के काम भी आते हैं। कुत्तों के कुछ अपेक्षाकृत नये उपयोग भी होने लगे हैं — वे रणक्षेत्र से घायलों को निकालकर ले जाते हैं, पहाड़ों में मुसीबत में फंसे लोगों को बचाते हैं, डूबते लोगों की जान बचाते हैं।

लेकिन एक जानवर और है, जो पिछले दिनों मनुष्य का पहला चौपाया मित्र और सेवक कहलाने के कुत्तों के दावे को चुनौती दे रहा है। यह है भेड़। पालतू जानवरों में यह एकमात्र ऐसा जानवर है, जो बरसों तक आदमी के बिना रहने पर भी जंगली नहीं बनता: नयी पीढ़ी की भेड़ें, जिन्होंने कभी आदमी की शक्ल तक नहीं देखी होती, वे भी बिना किसी विरोध के आदमी का कहना मानती हैं।

वैसे तो, भेड़ें हिंसक जंतुओं का भी विरोध नहीं कर सकतीं। "भेड़ जैसा निरीह", "भेड़ जैसा दब्बू" – ऐसी उपमाएं संसार की अनेक भाषाओं में पायी जाती हैं। इन्हीं निरीह भेड़ों के निकट संबंधी पर्वतीय मेढ़े डरपोक होने के साथ-साथ आवश्यकता पड़ने पर हिंसक जंतुओं का डटकर मुक़ाबला कर सकते हैं। जंगली भेड़ को निरीह भेड़ बनाने के लिए कितनी पीढ़ियों तक मनुष्य ने वरण कार्य किया होगा? संभव है कि आज से बारह हज़ार साल पहले ही मनुष्य भेड़ों को पालतू बनाकर रखता था – इराक़ में प्राचीन मानव के डेरों के उत्खनन में मिली भेड़ों की अस्थियों से इसका पता चला है। बहुत मुमकिन है कि भेड़ को इससे भी बहुत पहले पालतू बना लिया गया हो, आखिर, पुरातत्वीय खोज इस या उस परिघटना के काल की ऊपरी सीमा ही इंगित करती है। नयी खोजें इस सीमा को और "पीछे" ले जा सकती हैं।

नवपाषाण-युगीन क्रांति तभी आयी थी, जब हस्तगतकरण पर आधारित जीवनयापन का स्थान उत्पादन पर आधारित जीवनयापन ले रहा था। इस युग में अनेक भव्य सांस्कृतिक परिवर्तन हुए। पूरी तरह से प्रकृति पर आश्रित मानव पहली बार सचेतन रूप से प्रकृति का कायाकल्प करने लगा।

इससे पहले वह प्रकृति को विपन्न बनाने की दिशा में ही बदलता था। शिकार के जीव-जंतुओं को मारते, मछलियां पकड़ते, मैमथों को नष्ट करते हुए मानव अपने आवास-क्षेत्र को खाली ही करता था।

धीरे-धीरे मनुष्य वन्य जीव-जंतुओं को पालतू बनाने लगा। आरंभ में, शायद, ऐसा संयोगवश ही हुआ, लेकिन बहुत शीघ्र ही यह कार्य सोच-समझकर, यहां तक कि योजनाबद्ध ढंग से किया जाने लगा। ऐसा होना अवश्यंभावी था, क्योंकि मनुष्य को बाड़े बनाने थे, यह सोचना था कि जानवरों को कैसे छांदा जाये, उनके लिए उपयुक्त चारा ढूंढ़ना था, मवेशियों के रख-रखाव के तरीक़े खोजने थे, सही चरागाहें चुननी थीं, कुत्तों को मवेशियों को चराना और उनकी रक्षा

मनुष्य के अथक सहायक – ऊंट – के बिना खानाबदोश क़बीलों के जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

करना सिखाना था – यह सब सोच-समझकर ही किया जा सकता था।

कहना न होगा कि मनुष्य के लिए उपयोगी वन्य जंतुओं को पालतू बनाने का काम अनेक पीढ़ियों तक चला। लेकिन आज हमारी यही इच्छा होती है कि अपने पूर्वजों की कल्पना सहस्रों वर्षों तक जीनेवाले एक ऐसे महामानव के रूप में करें, जिसे अपनी किसी उपलब्धि पर संतोष नहीं होता था और वह नयी-नयी खोजें करता, नयी-नयी युक्तियां निकालता जाता था, एक सफलता अपने पीछे दूसरी सफलता लाती थी और असफलताएं विस्मृति के गर्भ में समाती जाती थीं। वैसे तो, इस महामानव की कल्पना केवल पुरुष के रूप में करना अनुचित होगा। पशुओं को पालतू बनाने में स्त्री की भूमिका भी महत्वपूर्ण रही होगी, भले ही वह वनस्पतियों को कृषियोग्य बनाने में उसकी भूमिका से कम

रही हो। आखेट तो मुख्यतः पुरुष का ही काम था – वही पशुओं की आदतें अधिक अच्छी तरह जानता था, उसी के साथ कुत्ते ने "संधि" की थी, वही भेड़ और बकरी के "बंदी" मेमनों को घर लाया था। हां, उन्हें पाला-पोसा स्त्री ने ही।

पशुओं को पालतू बनाने की प्रक्रिया वनस्पतियों को कृषियोग्य बनाने की प्रक्रिया की तुलना में कहीं अधिक लंबी चली। कुत्ते और भेड़ें तो दस-बारह हज़ार साल पहले ही पालतू बना लिये गये थे, घोड़ा छह हज़ार साल पहले पालतू बना, ऊंट उसके भी बाद में। अधिकांश विशेषज्ञों के मत में, उत्तरी हिरण (रेनडियर) को ईसवी संवत से दो-तीन हज़ार साल पहले पालतू बनाया गया था।

और फिर कृषि की ही भांति इस क्षेत्र में भी ठहराव आ गया। पालतू जीव-जंतुओं की एक तरह की "स्वर्ण निधि" बना ली गयी थी, संसार के जिन-जिन भागों में मनुष्य बसता था, धीरे-धीरे वहां ये पालतू जानवर फैलते गये और इतना ही पर्याप्त सिद्ध हुआ।

अनुमान है कि घोड़े को पूर्वी यूरोप और उराल-अंचल के मैदानों में पालतू बनाया गया। धीरे-धीरे वह पश्चिम और मध्य एशिया में दूर-दूर तक फैल गया और वहां से चीन, भारत तथा उत्तरी अफ़्रीका में पहुंचा। प्राचीन भारत में घोड़ा कठिनाई से ही बस पाया, उसकी भूमिका बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं रही। परंतु यहां द्रुतगामी वृषभ की नस्लें निकाली गयी थीं। सिंधु घाटी में हड़प्पा सभ्यता के लोगों के सहायक तीन मवेशी थे: ज़ेबू (अर्थात कूबड़वाली गाय, जो आज भी भारत में सामान्य है), भैंस और छोटे सींगोंवाला वृषभ।

अश्व और गाय-भैंस, आदि बड़े मवेशियों को पालतू बनाये जाने की सभ्यता के विकास में विशेषतः महत्वपूर्ण भूमिका रही है। दूसरे जानवरों से जहां मनुष्य को मांस, ऊन, दूध, खालें मिलती थीं, वहीं घोड़ों और वृषभों ने मानवजाति को इसके साथ-साथ अपनी शक्ति भी दी, वे लद्दू जानवर और परिवहन साधन बन गये। घोड़े और बैल को हल में जोता जाना, निस्संदेह, कृषि में प्रगति में सहायक रहा।

जिन क़बीलों ने सबसे पहले घोड़े को पालतू बनाया, उनके लिए कहीं अधिक तेज़ी से एक स्थान से दूसरे पर जाना संभव हो गया, इस प्रकार, सैनिक दृष्टि से उन्हें दूसरे क़बीलों के सम्मुख भारी श्रेष्ठता मिली।

घोड़े को पालतू बनाकर भारोपीयों के पूर्वज (प्रत्यक्षतः, वही इस मामले

में सबसे आगे थे) पश्चिमी यूरोप से भारत तक के विशाल भूभाग पर फैल गये। इसी का परिणाम यह है कि आज आधी मानवजाति भारोपीय भाषाएं बोलती है।

पिछली चार सहस्राब्दियों के दौरान विश्व के राजनीतिक इतिहास की घोड़े के बिना कल्पना करना भी कठिन है। अश्वारोही सेना लेकर बढ़े क़बीलों के प्रहारों तले मेसोपोटामिया और मिस्र के शक्तिशाली कृषिप्रधान राज्य धराशायी हो गये। रथ प्राचीन युग के टैंक बन गये। प्राचीन मिस्र और हित्ती, यूनान और ट्रोया राज्यों के सैनिक रथों पर सवार होकर लड़ते थे। सिकंदर महान की सेना की प्रमुख प्रहारक शक्ति अश्वारोही दल ही थे।

प्रत्यक्षतः, लगभग तीन हज़ार साल पहले कुछ जनगण ने जीवनयापन के एक विशिष्ट रूप के नाते यायावर पशुपालन अपना लिया। ये यायावर सहज ही कहीं भी चलने को उठ खड़े होते थे और बड़ी तेज़ी से बढ़ते चले जाते थे। सो, चारों दिशाओं में इन अदम्य, आक्रामक यायावरों की एक के बाद एक लहरें उठने लगीं—कभी शक और हूण, कभी अवार और बल्गार, कभी हंगेरियाई और तुर्क, पेचेनेग और पोलोवेत्स तथा, अंततः, मंगोल।

कालांतर में अश्वारोही सैनिकों को भारी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित कर दिया गया। अब इनके छोटे-छोटे दल भी पैदल सिपाहियों की बड़ी संख्या का सामना कर सकते थे। इन अश्वारोही सैनिकों ने सामंतवाद के उस रूप की अभिपुष्टि में महती भूमिका अदा की, जिसका यूरोप तथा पश्चिमी एशिया में प्रभुत्व रहा।

मध्य और दक्षिण अमरीका में इंडियन राज्यों पर स्पेनियों की विजय में भी अश्वारोही सेना की निर्णायक भूमिका रही।

घोड़े की शुद्धतः सैनिक भूमिका चाहे कितनी बड़ी क्यों न रही हो, उससे प्राप्त सैनिक श्रेष्ठता और उसके सामाजिक परिणाम कितने भी विशाल क्यों न रहे हों, इनके पीछे हमें घोड़े के आर्थिक उपयोग में क्रमिक परिवर्तनों के महत्व को नहीं भूलना चाहिए। रोमवासियों ने (कुछ दूसरे जनगण की ही भांति) बैल के स्थान पर घोड़े को हल में जोता, हालांकि परंपरानुसार वे वही पुराना साज़ इस्तेमाल करते थे, जिससे जुताई के जानवर के नाते घोड़े के उपयोग की कारगरता, निस्संदेह, कम होती थी, आखिर, बैल और घोड़े की गर्दन अलग-अलग तरह की होती है, इन दो प्राकृतिक इंजनों के "तकनीकी लक्षण" भिन्न-भिन्न हैं।

दूर-दूर तक फैले रोमन साम्राज्य की सीमाओं से बाहर रह रहे बर्बर लोगों ने हल में जोते जानेवाले घोड़े के लिए नया साज़ बनाया। यह वास्तव में एक युगांतरकारी आविष्कार था। सारे यूरोप में इसका प्रसार हुआ और इससे कृषि में श्रम की उत्पादनशीलता में तीव्र वृद्धि हुई। इसके साथ ही हलवाहे से अधिक ऊंची अपेक्षा की जाने लगी। कहा जा सकता है कि उसका श्रम अब अधिक "बौद्धिक" हो गया। उस युग की प्रमुख श्रम-शक्ति दास ही थे और अपने श्रम के परिणामों में उनकी कोई विशेष रुचि नहीं थी, सो दासस्वामी निश्चिंत होकर उन्हें यह काम नहीं सौंप सकते थे। यह अकारण ही नहीं कि इस समय दास के श्रम का स्थान पराश्रित किसान के श्रम ने तथा दासप्रथा का स्थान सामंतवाद ने लिया। निस्संदेह, यहां चर्चा केवल एक ऐसे कारक की है, जिसने सामंतवाद में संक्रमण निर्धारित किया। यह कारक एकमात्र तो नहीं, लेकिन काफ़ी महत्व-पूर्ण था।

आज के मिस्रवासियों को यह जानकर ईर्ष्या ही होगी कि पचास शताब्दी पहले उनके पूर्वजों की पशुशालाओं में कौन-कौन-से जानवर रहते थे – कई प्रजातियों के हिरण, ज़ेबरा, जिनके बारे में कालांतर में यह कहा जाने लगा कि उन्हें पालतू बनाना असंभव है, तथा नाना पक्षी। बिल्ले और बनबिलाव के संकर को लेकर प्राचीन मिस्रवासी शिकार पर निकलते थे। इसके अलावा वे सब ढोर-डंगर तो थे ही, जो आज भी पाले जाते हैं।

पिछली एक शताब्दी के दौरान मनुष्य ने पालतू बनाये जानेवाले जंतुओं का दायरा फिर से कुछ बढ़ाया है। हिरणों का उपयोग करने के प्रयास हुए हैं (सोवियत संघ अस्कानिया-नोवा नामक आरक्षित वन में एल्क हिरणों को पालतू बनाने के रोचक प्रयोग हुए हैं), दक्षिणी अफ़्रीका में शुतुरमुर्ग़ों को पालने की कोशिश की गयी है, वंदरों को पालतू बनाने की दिशा में भी काम हुआ है।

फ़रदार जानवरों को पालतू बनाने के बड़े अच्छे प्रयोग साइबेरिया में हो रहे हैं। यहां रुपहली-काली लोमड़ियां पिंजड़ों में पाली जाती हैं। इन हिंसक जंतुओं से मानव के प्रति किसी प्रकार के लगाव की आशा नहीं की जा सकती। तो भी वैज्ञानिकों ने देखा कि कुछ लोमड़ियां मनुष्य के प्रति सहनशील हैं, उनकी देखभाल करनेवाले कर्मियों पर हमला करने की वे कोशिश नहीं करतीं, यही नहीं, उनके प्रति लगाव भी दिखाती हैं। यह देखते हुए कि बाघ और शेर भी

पालतू बना लिये जाते हैं, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। लेकिन वैज्ञानिकों ने मनुष्य के प्रति मित्रतापूर्ण व्यवहार के लक्षण के अनुसार ही इन लोमड़ियों का वरण करने का निश्चय किया।

कुछ पीढ़ियों के दौरान "मानवप्रेमी" लोमड़ियों की ही जोड़ी मिलायी गयी। इसके आश्चर्यजनक परिणाम निकले। एक बार फिर हम याद दिला दें कि वरण-कार्य केवल एक लक्षण के अनुसार हुआ था, तो भी इस प्रकार प्राप्त दल अपने व्यवहार और रूप-रंग में भी अपने दूसरे भाई-बहनों से कई बातों में अलग है। ये विशेषताएं ऐसी हैं, जो मनुष्य द्वारा बहुत पहले ही पालतू बनाये जा चुके जानवरों में पायी जाती हैं – न केवल कुत्तों में (लोमड़ियों की ही भांति वे भी हिंसक गण के श्वान परिवार के सदस्य हैं), बल्कि गायों, घोड़ों, इत्यादि में भी। मनुष्य के प्रति मित्रतापूर्ण लोमड़ियां प्रकृति द्वारा निर्धारित ऋतु में ही नहीं, दूसरी ऋतुओं में भी बच्चे देने लगीं, यहां तक कि साल में दो बार भी उनके बच्चे होने लगे। ऐसी लोमड़ियों की आवाज़ कुत्तों के भौंकने की आवाज़ से बेहद मिलती है। उनकी पूंछ की लंबाई कम हो गयी है, अक्सर वह कुत्तों की पूंछ की तरह "छल्ले" में मुड़ी होती है। उनकी खाल पर लाल और सफ़ेद रोयों के धब्बे-से होते हैं, जोकि कुत्तों की अनेक नस्लों में तथा घोड़ों और गायों की कुछ नस्लों में भी पाये जाते हैं। बात सारी यह है कि जीव-जंतुओं में भांति-भांति के अनेक लक्षणों के पूरे समूह किन्हीं एक ही तंत्रिका-हार्मोन क्रियातंत्र के कार्य का परिणाम होते हैं।

ऊपर वर्णित प्रयोग जैसे प्रयोगों से पशु-पक्षियों को पालतू बनाने के इतिहास की बहुत-सी बातें स्पष्ट हो रही हैं और इस क्षेत्र में नयी, व्यापकतम संभावनाओं के द्वार खुल रहे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि पृथ्वी पर सैकड़ों नहीं, तो दसियों ऐसे जीव हैं, जो पालतू बनाये जाने के योग्य हैं। हमारे पूर्वजों ने इस दिशा में सभी कुछ नहीं किया है। कुछ हज़ार साल पहले जानवरों को पालतू बनाने के क्षेत्र में हो रहे "चहुंमुखी द्रुत" कार्य का स्थान, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, उपलब्धियों की अभिपुष्टि के कार्य ने लिया – जो जीव-जंतु पालतू बनाये जा चुके थे, उनकी नयी नस्लें निकाली जाने लगीं। यह वरण-कार्य किन्हीं निश्चित लक्षणों की प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर किया जाता था – कोशिश यह थी कि गउएं अधिक दूध दें, भेड़ें अधिक ऊन, सूअर अधिक मांस, इत्यादि। लेकिन इस सबके पीछे उस लक्षण को भुला दिया गया, जो आरंभ में प्रमुख था – मनुष्य

से लगाव (या कम से कम उसके प्रति सहनशीलता)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पालतू जानवर और जिन वनस्पतियों की खेती होती है वे भी मानव-श्रम का परिणाम हैं। मार्क्स के शब्दों में, वे "न केवल पिछले वर्ष के श्रम का परिणाम हैं, बल्कि अपने वर्तमान रूपों में उन परिवर्तनों का भी परिणाम हैं, जो अनेक पीढ़ियों तक मानव के नियंत्रण में तथा मानव-श्रम के माध्यम से लाये जाते रहे"।

हमारा आहार

मानवजाति के अतीत पर यदि हम दृष्टिपात करें, तो पायेंगे कि पुरापाषाण युग में भी हमारे सभी पूर्वजों के भोजन के कोई एकसमान नियम नहीं थे। इस या उस इलाक़े में बसे मानव-समुदायों के आहार पर वहां के परिवेश की छाप पड़ती थी।

आधुनिक मानव भी बिल्कुल भिन्न-भिन्न प्रकार के आहार पर जीने में सक्षम है। उत्तरध्रुव प्रदेश के मूलनिवासियों – एस्कीमो, चुक्चा, साआम, आदि – के भोजन में मांस का ही प्रमुख स्थान है। इस सुविदित तथ्य से यह पता चलता है कि कठोर प्राकृतिक परिस्थितियों में तो मांसाहार ही शरीर की आवश्यकताओं के सर्वाधिक अनुकूल है।

अफ़्रीका और एशिया के मैदानों और रेगिस्तानों के पशुपालकों के आहार में दूध और दुग्ध पदार्थों को प्रायः मांस से अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। शेष सारे संसार में लोगों के आहार में वनस्पति-भोजन का अंश सदा मांस और दूध से अधिक होता है। यह बात ऐसी अनेक जातियों के लिए भी सही है, जिनका जीवन-निर्वाह आखेट से ही होता है। उदाहरणतः, दक्षिणी अफ़्रीका के अर्धरेगिस्तानों में रहनेवाले बुशमैनों की ख़ुराक में आखेट से प्राप्त आहार का अंश एक तिहाई होता है; दो तिहाई अंश जंगली फलों और कंद-मूलों का ही होता है। सो, केवल उत्तरध्रुव प्रदेश के आखेटक यह कह सकते हैं कि उनका भोजन प्रायः शुद्ध प्रोटीन का होता है।

दस लाख साल पहले ही हमारे पूर्वज प्रायः सभी कुछ खा सकते थे। जंगलों में जब पैदावार अच्छी होती और आखेट सफल, तो उनके पास भोजन की प्रचुरता होती, लेकिन असफलता का मुंह भी उन्हें देखना पड़ता था और तब वे भूखे

रहते थे। भंडार बनाना उन्हें आता नहीं था, और भंडार बनाते भी किस चीज़ के? जंगली अन्न के दाने और कंद-मूल इतनी मात्रा में बटोरे नहीं जा सकते थे कि उनका भंडार बनाकर रखा जाता। आखेट में मारे गये जानवरों का मांस जल्दी ही खराब हो जाता था, सो उसे तुरंत ही खा लिया जाता था। दूसरे शब्दों में, जब भोजन की प्रचुरता होती, तो लोग अधिक खाते, भोजन कम होता, तो कम खाते और बिल्कुल न होता, तो भूखे रहते थे।

जब मानव आखेट करके और फल एवं कंद-मूल बटोरकर जीता था और संसार के बड़े भाग को उसने अपने जीने लायक़ नहीं बनाया था, उस युग का भोजन आज हम शायद ही खा सकें। मानवजाति की संस्कृति का लाखों वर्ष तक विकास हुआ है और आज के विभिन्न जनगण का भोजन प्रकृति की देन इतना नहीं है, जितना कि संस्कृति की। हम खाद्य पदार्थों को उबालते, भूनते, तलते, पकाते हैं, नमक लगाकर रखते हैं, और भी दसियों क्रियाएं करने के पश्चात ही उन्हें खाने के लिए तैयार मानते हैं।

मनुष्य ने प्रकृति में उपलब्ध खाद्यों को उपयोग में लाते हुए ही आग पर खाना पकाना सीख लिया था, खाद्यों का उत्पादन करना तो उन्होंने बहुत बाद में सीखा। आग का उपयोग करना आ जाने पर लोग शीघ्र ही यह समझ गये कि कच्चे भोजन की तुलना में उबला और भूना-पकाया भोजन कहीं अधिक श्रेष्ठ है। यदि हमारी इंद्रियां हमें धोखा नहीं देती हैं, तो वह सर्वप्रथम अधिक स्वादिष्ट होता है। बेशक, यह भी हो सकता है कि हमारी जिह्वा जो हम खाते हैं, उसकी आदी हो गयी है। लेकिन हमारे उदर भी इसके आदी हो गये हैं। प्रत्यक्षतः, यहां पीछे लौटने का कोई रास्ता नहीं है। यह मानने के लिए गंभीर आधार है कि पिछले कुछ लाख वर्षों में मनुष्य के जठरांत्र पथ की लंबाई कम हो गयी है: आग पर पकाये गये भोजन को पचाना कच्चे भोजन की अपेक्षा आसान है, उद्विकास में प्रकृति ने इस बात को ध्यान में रखा है। मानव-शरीर में पाचन अंगों का अनुपात कम होने से कुछ दूसरे अंग अधिक अच्छी तरह विकसित हो पाये, क्योंकि उन्हें अधिक रक्त मिलने लगा। संभव है कि मानव-मस्तिष्क के उद्विकास की गति तीव्र होने पर भी इसका प्रभाव पड़ा हो।

अंततः, एक और बात को भी ध्यान में रखना होगा, जिसका अभी पिछले दशकों में पता चला है। पता यह चला है कि मांस को आग पर भूनने से उस पर जो स्वादिष्ट. करारी परत बन जाती है, उसमें उत्परिवर्तन-उत्प्रेरक (म्यू-

टाजेनिक) पदार्थों का अत्यल्पांश होता है। कुछ दूसरे खाद्यों को भी आग पर भूनने, पकाने से उनमें ऐसे पदार्थ बनते हैं, जो मनुष्य के आनुवंशिक तंत्र में परिवर्तन लाते हैं। यह तो हम जानते हैं कि मनुष्य लाखों वर्ष से आग का उपयोग कर रहा है—न केवल ताप पाने के लिए, बल्कि खाना पकाने के लिए भी। लगता है कि अतीत में लोगों में उत्परिवर्तनों की संख्या बढ़ाकर आग ने वरण की संभावनाएं अधिक व्यापक बनायीं, मानव के उद्‌विकास की गति तीव्र की।

नाना प्रकार के नये आहार को अपना सकने की मानव की क्षमता उसके लिए बहुत हितकर सिद्ध हुई है। इतिहास में इसकी भूमिका का अवमूल्यांकन नहीं करना चाहिए। एंगेल्स के मत में, हमारे वानराभ पूर्वजों द्वारा अपने आहार में मांस को समाविष्ट किया जाना उनके मस्तिष्क के विकास में सहायक रहा था।

सुप्रसिद्ध अमरीकी नृजातिविज्ञानी और इतिहासकार लुईस मार्गन (१८१८-१८८१) के शब्दों में, मछली पकड़ना और पकाना सीखकर लोग बहुत हद तक जलवायु और भौगोलिक स्थान पर आश्रित नहीं रहे। अब वे सागरों, झीलों और नदियों के किनारे-किनारे चलते हुए थल के बड़े भाग पर फैल सकते थे। "मछली सर्वत्र मिलती थी, उसके भंडार असीम थे, और वह एकमात्र ऐसा आहार थी, जो बारहों महीने मिल सकता था।" मार्गन का यह भी अनुमान था कि मछली ही वह पहला खाद्य पदार्थ थी, जिसे अधिकांश मामलों में आग पर पकाने की ज़रूरत थी।

भोजन पकाने की विधियां तो अनगिनत हैं। मिट्टी के बर्तन बनने से बहुत पहले ही लोगों ने खाना उबालना सीख लिया था। आप पूछेंगे किसमें उबालते थे? एक उपाय यह था: चट्टान में गढ़हा-सा बनाकर उसमें पानी भरा जाता था, पास ही आग जलाकर तपे हुए पत्थर पानी में फेंकते जाते थे। उपोष्ण और उष्ण कटिबंधीय देशों में खाना पकाने के लिए खोखले बांस का इस्तेमाल किया जाता था (कहीं-कहीं अब तक इस विधि से काम लिया जाता है)। ऐसे बर्तन में आग पर मांस पकाया जा सकता है, लेकिन यह वाक़ई "काठ की हंडिया" है। सामान्यतः, ऐसा बर्तन तोड़कर ही उसमें से पका हुआ खाना निकाला जाता है।

किसी निश्चित प्रकार के भोजन की आदत लोगों की सबसे कम बदलने-वाली आदत है। प्रायः, पूरे के पूरे जनगण उस भोजन को घिन से नहीं, तो हेय दृष्टि से देखते हैं, जो दूसरे जनगण के यहां बहुत प्रचलित होता है। जापान के बड़े भाग में अभी कुछ समय पहले तक दूध और दूध से बनी चीज़ें लोगों के
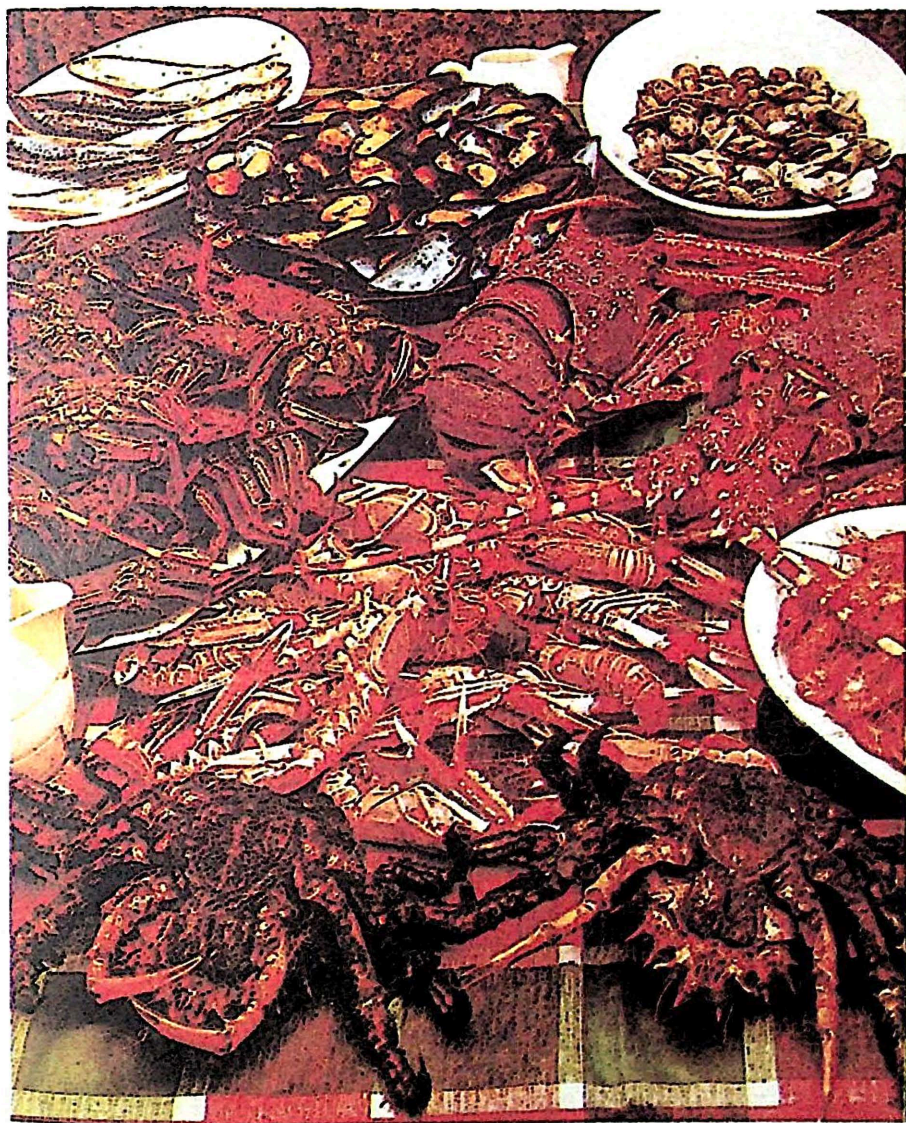
सागर की संपदा विपुल है। करोड़ों लोगों के लिए मछली और दूसरे समुद्री जीव ही प्रमुख आहार हैं।

आहार में शामिल नहीं थीं। एशिया में मंगोल और तिब्वती तथा अफ़्रीका में जुलु लोग किसी भी तरह की मछली नहीं खाते, उसे अभक्षणीय मानते हैं। साइबेरिया में खुंबियां बहुत अधिक उगती हैं, लेकिन वहां के मूलनिवासी इनमें से केवल "मक्खीमार" नामक विषैली खुंबी का ही इस्तेमाल करते थे, सो भी मादक द्रव्य बनाने के लिए। बहुत-से देशों में मेंढक नहीं खाये जाते, लेकिन फ़्रांस में वे नफ़ीस चीज़ माने जाते हैं। पश्चिमी और दक्षिणी यूरोप में अंगूर की पत्तियों पर रहनेवाली घोंघियां स्वादिष्ट मानी जाती हैं, न्यू गिनी में सूंडियां और उत्तर-पश्चिमी अफ़्रीका में चींटियां खायी जाती हैं।

हर देश के अपने-अपने स्वाद हैं। ये ऐतिहासिकतः निर्धारित होते हैं। यहां हम बस एक बात इंगित करना चाहते हैं। मछली को अभक्षणीय माननेवाले जुलु और मंगोल लोगों के जीवनयापन में पशुपालन का बहुत अधिक महत्व है। दूसरे शब्दों में, वे प्रोटीन के स्रोत के नाते मछली को त्याग सकते थे, क्योंकि मांस की प्रचुरता थी। उधर, ओशियाना में कीट तक इसीलिए खाये जाते हैं कि वहां के भोजन में प्रोटीन की कमी है।

लोगों को खाने-पीने के मामले में क्या पसंद है और क्या नहीं, इसका कारण सदा नहीं बताया जा सकता। एक उदाहरण देखिये: पूर्वी चीन और जापान में मछली भोजन की एक प्रमुख वस्तु है, लेकिन जापान में बहुत-से व्यंजन कच्ची मछली से बनाये जाते हैं, जबकि चीनी लोग अच्छी तरह नमक लगाकर रखी गयी मछली को भी पकाये बिना नहीं खाते। चीनी पाककला में यह माना जाता है कि आग पर चढ़ चुकने के बाद ही कोई खाद्य-पदार्थ भक्षणीय बनता है।

मानव अभिरुचियों और स्वादों की सारी विविधता के बावजूद एक चीज़ ऐसी है, जिसका उपयोग अपने विकास में निश्चित सीमा लांघ चुके सभी जनगण करते हैं।

यह है रोटी। कितने अलग-अलग हैं इसे बनाने के तरीक़े और कितने भिन्न होते हैं इसके रूप!

शुरू में लोगों ने अन्न के दानों को (कभी-कभी इन्हें वे दल लेते थे) उबालकर पतला दलिया-सा बनाना सीखा। दक्षिणी अमरीका के ऐंडीज़ पर्वतों के निवासी आज भी आटे से लपसी बनाते हैं। स्कॉटलैंड में जई का पतला-पतला नमकीन दलिया खाया जाता है, अंग्रेज़ों को दूध के साथ बना जई का मीठा दलिया
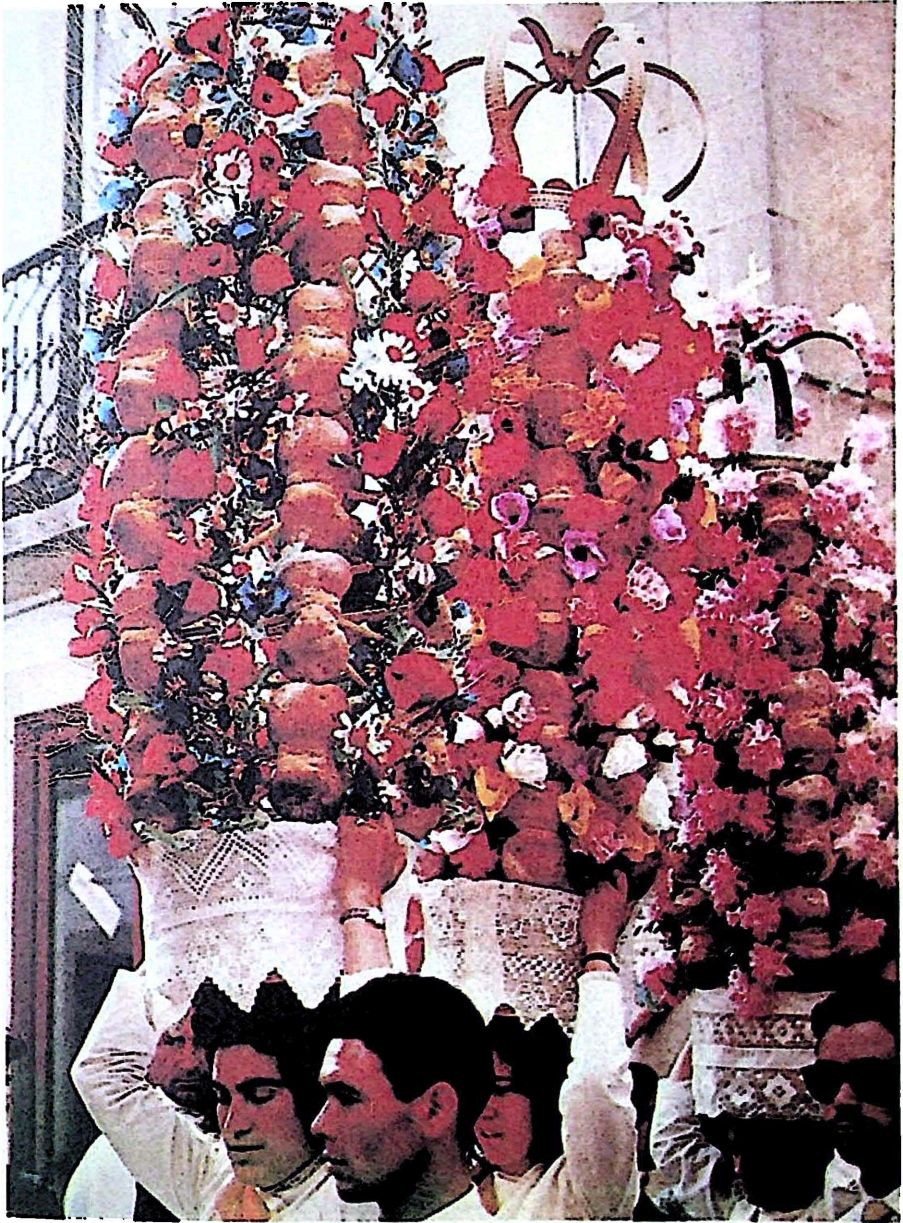
पुर्तगाल के एक उत्सव में रोटी की शोभा-यात्रा निकलती है।
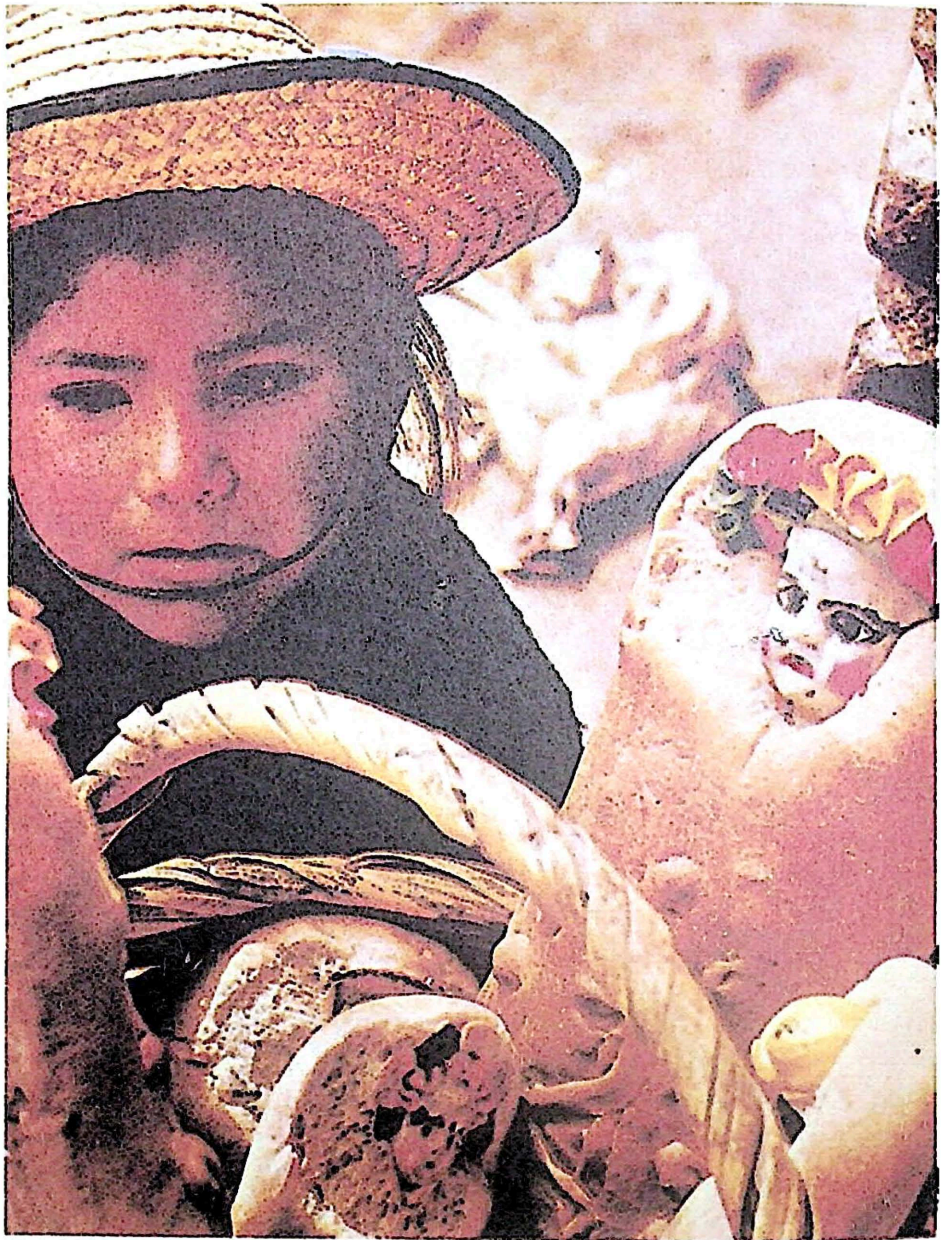
अनुष्ठान के लिए पकायी गयी रोटी लिये एक बालिका (पेरू)।

पसंद है, इटली में मक्के का, उक्राइना में वाजरे का और रूस में कूटू का दलिया वड़ा लोकप्रिय है।

दलिये के कुछ वाद लोगों ने आटे से सादी रोटी बनानी सीखी। शुरू-शुरू में वे ऐसी रोटियां तपे पत्थरों पर या अंगारों पर बनाते थे, फिर तंदूर वनाये गये और तवे की खोज हुई। ऐसी रोटियां आज भी संसार के अनेक भागों में बनती हैं। यूरोप में इटली, स्पेन, आयरलैंड और स्कैंडिनाविया में सादी रोटियां पकायी जाती हैं।

डवलरोटी ख़मीर (यीस्ट) मिलाकर बनायी जाती है। ख़मीर का प्रयोग सबसे पहले मिस्र में शुरू हुआ – आज से लगभग साढ़े तीन हज़ार साल पहले। लेकिन वहां भी डवलरोटी एक विशिष्ट भोजन ही मानी जाती थी और आम लोगों की पहुंच से वाहर थी। मिस्र से जिन देशों ने डवलरोटी पकानी सीखी, वहां भी इसकी स्थिति ऐसी ही रही। प्राचीन यूनान और प्राचीन रोम में यह "बड़े लोगों" को ही नसीव होती थी। मध्य युग के आरंभ में यूरोप में इसका वहुत अधिक प्रचलन हुआ और सादी रोटी के वजाय डवलरोटी ही प्रतिदिन के आहार की वस्तु बन गयी।

आटे-मैदे में जो श्वेतसार (स्टार्च) होता है, उसे ख़मीर-कवक (फंगस) शर्करा में परिवर्तित करता है और इस शर्करा का किण्वन (फ़र्मेंटेशन) करता है, जिससे स्पिरिट, सिरका तथा कुछ अम्ल बनते हैं। इनके प्रभाव में आटे-मैदे का लसीला पदार्थ – ग्लूटेन – पतला होकर घुलता है, जबकि कार्बनिक अम्ल वाष्पित होते हुए गुंधे आटे को फुलाता है, "उठाता" है।

प्राचीन मिस्र और रोम में नानबाई को दूसरे शिल्पियों से अधिक ऊंचा दर्जा प्राप्त था (प्रसंगतः, रोम में नानबाई का एक स्मारक भी मिला है)। मध्य-युगीन यूरोप में नानबाई की हत्या पर दूसरे कारीगरों व आम लोगों की हत्या के जुर्माने से कहीं अधिक जुर्माना देना होता था। आज भी मध्य एशिया में नान-वाइयों को बड़ा सम्मान प्राप्त है।

अमरीकी लेखक ऐरिक फ़्रैंक रसल की 'आकाश, आकाश ...' शीर्षक विज्ञान-कथा में बूढ़ा नानबाई ट्रेबो अपने सोलह वर्षीय सहायक से, जो अंतरिक्ष उड़ानों के सपने देखता है, कहता है: "मैं तुमसे दो सवाल पूछता हूं: अगर रोटी कोई नहीं पकायेगा, तो लोग कैसे जीयेंगे, और अगर संसार में लोग नहीं रहेंगे, तो तारों की उड़ानें कौन भरेगा?"

"पता नहीं।"

"अंतरिक्ष यान तारों के बीच उड़ानें भरते हैं," ट्रेवो ने आगे कहा। "पर क्यों? सिर्फ़ इसीलिए कि पृथ्वी पर जीवन है।" उसने झुककर सुनहरी पपड़ी-वाली ख़ूब बढ़िया पकी डबलरोटी उठायी। "जीवन इसी के बल बना हुआ है!"

भारत में कुछ क़बीले लोगों की प्रेतात्माओं से रक्षा के लिए भांति-भांति के अनुष्ठान करते थे, लेकिन बच्चा जब तक अन्न ग्रहण नहीं करने लगता था, तब तक उसकी कोई रक्षा नहीं की जाती थी, क्योंकि इसके पहले वह स्वयं भी प्रेतात्मा माना जाता था। अन्नप्राशन हो जाने पर ही वह मनुष्य की श्रेणी में आता था। इस प्रकार की आस्थाओं में मानव-संस्कृति के इतिहास में रोटी का अपार महत्व प्रतिबिंबित हुआ है।

बहुत-से देशों में भ्रातृत्व स्थापित करने की भांति-भांति की रस्में प्रचलित रही हैं। अनेक जनजातियों में मुंहबोले भाई एक ही रोटी को बारी-बारी से दांतों से काटते थे। कहीं-कहीं तो इस रोटी के लिए आटा गूंधते समय उसमें ऐक्यबद्ध हो रहे व्यक्तियों के रक्त की बूंदें मिलायी जाती थीं। विवाह की प्रथाओं में भी अनेक जातियों में नवदंपति द्वारा ग्रास तोड़ने की रस्म का महत्वपूर्ण स्थान है।

रूस में प्राचीन काल से ही हाथ में रोटी और नमक लेकर अतिथि का स्वागत करने का रिवाज रहा है, या फिर "रोटी-नमक" शब्दों से अतिथि का स्वागत किया जाता है। बेशक, इसका अर्थ यह नहीं है कि सारा आतिथ्य रोटी-नमक तक ही सीमित होगा। अभिवादन के ये शब्द तो हार्दिकता और अतिथिप्रेम के प्रतीक हैं।

रोटी और नमक – प्रायः सभी जातियों के आहार की ये दो अनिवार्य वस्तुएं – आज से हज़ारों साल पहले पवित्र मान ली गयी थीं और आज भी मानी जाती हैं!

ईसाई धर्म में प्रसाद के तौर पर रोटी देने की प्रथा है, जिसे दैवी अंग का प्रतीक माना जाता है। ऐसी ही प्रथा कुछ दूसरे प्राच्य धर्मों में भी प्रचलित है। प्राचीन मैक्सिको के ऐज़्टेक लोगों में भी ऐसी प्रथा थी। यहां हम इस प्रथा के उत्सों की ओर न जाकर पाठकों का ध्यान एक बात की ओर दिलाना चाहते हैं: सर्वत्र ही दैवी अंग का प्रतीक प्रसाद रोटी के रूप में ही दिया जाता रहा है – चाहे वह मकई की हो या गेहूं की, चावल या बाजरे की, लेकिन होती रोटी ही है।

रूसी लोगों में एक पुरानी परंपरा है: रोटी का टुकड़ा यदि ज़मीन या फ़र्श पर गिर पड़े, तो उसे उठाकर झाड़ना ही नहीं चाहिए, उसे चूमना, उससे क्षमा मांगनी चाहिए। कितना गूढ़ नैतिक अर्थ निहित है इस परंपरा में।

* * *

भोजन का लोगों के शारीरिक विकास पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है—इसके अनेक विश्वासोत्पादक ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं।

सोवियत विज्ञान अकादमी के सह-सदस्य व० प० अलेक्सेयेव अपनी पुस्तक 'मानव नस्लों का भूगोल' में लिखते हैं: "यह माना जा सकता है कि नस्लों के बनने में सदियों तक एक निश्चित प्रकार का आहार पाने की भी भूमिका कम नहीं रही है; इससे जनसंख्या वर्गों के बीच शरीर के आकार में तथा वसा अपचयन के स्तर में ही नहीं, जिन पर भोजन की कमी या प्रचुरता का सीधे-सीधे प्रभाव पड़ता है, बल्कि दूसरे कुछ लक्षणों में भी भेद पैदा हुए हैं।"

सैकड़ों नहीं, तो दसियों पीढ़ियों से सुदूर उत्तर की जातियां (एस्कीमो, आदि) मुख्यतः मांसाहार पर निर्भर हैं, उधर, भारत के अनेक जनगण हज़ारों वर्षों से शाकाहारी हैं। इससे भारतीयों तथा उत्तरी जातियों की शरीररचना में कुछ न कुछ तो अंतर आना ही चाहिए था।

इन भेदों के प्रमाण कम नहीं हैं। ज्ञात है कि भारतीयों में आंत की लंबाई एस्कीमो लोगों में आंत की लंबाई से अधिक होती है। यह भी ज्ञात है कि यूरेशिया महाद्वीप पर आंत का आकार पूरब से पश्चिम की ओर औसतन घटता जाता है; एक चीनी की आंत की औसत लंबाई मध्य एशिया के निवासी की आंत की लंबाई से अधिक होती है, ईरानी की आंत तुर्क की आंत से, तुर्क की आंत फ़्रांसीसी की आंत से अधिक लंबी होती है।

अन्य बातों के अलावा आहार से संबंधित भेद प्रायः पड़ोसी जातियों में भी पाये जाते हैं। कीनिया में अग़ल-बग़ल रहनेवाले मसाई जाति के पशुपालकों और किकूयु जाति के किसानों को लें। मसाई लोगों का औसत भार किकूयु लोगों से १०-११ किलोग्राम अधिक होता है, क़द में भी मसाई लोग पड़ोसी किकूयु लोगों से ७-८ सेंटीमीटर ऊंचे होते हैं। आश्चर्यजनक है यह अंतर! दोनों जातियों के आवास-क्षेत्र की जलवायु तो एक जैसी ही है।

निस्संदेह, मनुष्य का आहार, जो सामाजिक परिस्थितियों से जुड़ा होता है, उसके शारीरिक विकास के लिए बहुत महत्व रखता है। एक ही क़बीले या जाति के भिन्न-भिन्न आहार पानेवाले लोगों के मामले में यह बात विशेषतः स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए, श्री लंका में यह पाया गया है कि आदमी का क़द और भार उसकी जाति पर नहीं, बल्कि उसकी सामाजिक स्थिति पर निर्भर होता है। एक संपन्न परिवार का पंद्रह वर्षीय बालक अपने ग़रीब हमउम्र से क़द में औसतन १२-१३ सेंटीमीटर ऊंचा होता है और उसका वज़न भी औसतन ८ किलोग्राम अधिक होता है।

ब्राज़ील के सुविख्यात वैज्ञानिक, सामाजिक कार्यकर्ता और शांति-सेनानी जोज़ुए दे कास्त्रो ब्राज़ील के उत्तर-पूर्वी प्रांतों में जीवनयापन-पद्धति पर लोगों के क़द की निर्भरता के बारे में बताते हैं। उन्होंने यह पाया है कि सागर तटवर्ती भागों में, जहां भोजन में मत्स्याहार का महत्वपूर्ण स्थान है, लोग अपेक्षाकृत अधिक ऊंचे हैं। सागर तट से दूर शुष्क इलाक़ों में रहनेवाले लोग भी, जिनका व्यवसाय पशुपालन है, मछेरों से क़द में छोटे नहीं हैं। लेकिन आर्द्र उष्ण कटिबंध के लोग उनकी तुलना में गिठने हैं। यहां जंगल साफ़ करके खेत बनाये गये हैं, जहां गन्ने की खेती होती है और प्रमुख खाद्य पदार्थ टैपियोका का आटा है।

भोजन पर आश्रितता कभी-कभी त्रासदीभरी होती है।

पृथ्वीवासियों के बड़े भाग को प्रायः भूख का मुंह देखना पड़ा है और अब भी देखना पड़ता है। आज भी कितने ऐसे लोग हैं, जिन्हें गोर्की की एक कहानी में ग़रीब भाई की अमीर घर में नौकरानी बनी बहन के साथ इस बातचीत में कुछ भी विचित्र नहीं लगेगा: "तुझे रोज़ाना रोटी मिलती है?" – "हां। चाहूं तो दो-तीन बार भी खा सकती हूं।"

दसियों सहस्राब्दियों तक हमारे पूर्वजों के सिर पर भुखमरी की नंगी तलवार लटकती रही थी। कई जातियों के तो रूप-रंग पर भी भुखमरी की छाप पड़ी है, जो हज़ारों साल तक उनका पीछा करती रही।

नृजातिविज्ञानियों के मत में, भूख सहने की क्षमता के अनुसार प्राकृतिक वरण भी इस बात का एक प्रमुख कारण है कि अफ़्रीका, दक्षिणी अमरीका और न्यू गिनी में तथा प्रशांत एवं हिंद महासागरों के कुछ द्वीपों पर विशेषतः गिठने लोगों की जनजातियां बनीं।

अभी तक हमने निरपेक्ष भुखमरी की, अर्थात पेट भर भोजन प्राप्त न होने की ही चर्चा की है। मानवजाति को अपने इतिहास में इससे भी कहीं अधिक हद तक सापेक्ष भुखमरी का, अर्थात आहार में इन या उन पदार्थों के अभाव का सामना करना पड़ा है। इसका क्या प्रभाव पड़ता है, इसके लिए एक उदाहरण देखिये। इंगलैंड के एक गांव में वालकों के एक वड़े दल को प्रति दिन कुछ अतिरिक्त दूध दिया जाने लगा। यह सिलसिला तीन साल तक चला। अतिरिक्त दूध पानेवाले वालकों का वज़न साल में तीन किलोग्राम वढ़ा (शेष का एक किलोग्राम से थोड़ा अधिक)। दूध पानेवाले बालकों में जो पहले बिल्कुल नाटे क़द के थे, वे भी, अंत में, दूध न पानेवालों में जो लंबू थे, उनसे ऊंचे निकले।

९वीं-१०वीं शती ई० में नार्वे के उस ज़माने के हिसाब से क़द्दावर लोग आइसलैंड में जा वसे। इसके बाद तीन शतियों तक वहां के अल्पसंख्यक समुदाय का जीवन अच्छा रहा, लेकिन फिर जलवायु बदल गयी, यह द्वीप डेनमार्क का उपनिवेश बन गया, प्रायः पांच शतियों तक आइसलैंड के निवासी भरपेट भोजन से वंचित रहे (आइसलैंड के जाने-माने साहित्यकार हाल्दोउर लक्स्नेस के कुछ उपन्यास उनकी मातृभूमि के इतिहास के इस कटुतापूर्ण काल को समर्पित हैं)। इसका परिणाम यह हुआ कि हृष्ट-पुष्ट और क़द्दावर लोगों के, उन महावीरों के वंशज, जिनके बारे में महाकाव्य आज भी लोगों को विमुग्ध करते हैं, ठिगने हो गये।

लेकिन समय और जीवन परिस्थितियां वदलते रहते हैं। १९वीं शती से आइसलैंडवासियों का जीवन काफ़ी सुधर गया और शीघ्र ही उनका क़द भी बढ़ गया।

संक्षेप में यह कि भोजन की बात गंभीर है, और मानवजाति ने और कुछ भी भुलाया हो, यह बात नहीं भुलायी है। संस्कृति के विकास के दौरान आहार में आयी विविधता से इंकार करने का अर्थ है अतीत में लौटना। हमारे विचार में, भविष्य पौष्टिक, सादे और विविधतापूर्ण भोजन का है, जो साथ ही स्वादिष्ट भी होगा। मनुष्य को केवल पांच इंद्रियां तो मिली हैं और उनमें एक स्वादेंद्रिय है।

औज़ार

डार्विन ने प्राकृतिक प्रविधि के इतिहास में रुचि ली, दूसरे शब्दों में, इस बात में कि किस प्रकार वनस्पतियों और जीव-जंतुओं में वे अंग बने, जो वनस्पतियों और जीव-जंतुओं के जीवन में उत्पादन के औज़ारों का काम करते हैं। क्या सामाजिक मानव के उत्पादक अंगों के गठन का इतिहास, प्रत्येक विशिष्ट सामाजिक संगठन के इस भौतिक आधार का इतिहास इस योग्य नहीं है कि उसकी ओर इतना ही ध्यान दिया जाये? और क्या यह इतिहास लिखना अधिक आसान नहीं है, क्योंकि, विको के शब्दों में, मानव-इतिहास प्रकृति के इतिहास से इस बात में भिन्न है कि पूर्वोक्त हमने स्वयं अपने हाथों बनाया है, जबकि अंतोक्त हमने नहीं बनाया है?

कार्ल मार्क्स

हम अपने पूर्वजों की आठ-दस हज़ार साल पहले की आदिम संस्कृति से बहुत ही दूर निकल गये हैं। किंतु उनसे प्राप्त धरोहर हमारे जीवन में बनी हुई है, और केवल परिवर्तित, संशोधित रूप में ही नहीं।

गृहिणियां अब पत्थर की ओखली में पत्थर के मूसल से अनाज के दाने नहीं कूटती हैं, लेकिन संसार भर के औषधिनिर्माता, वैद्य-हकीम आज भी औषधियां बनाने के लिए इन औज़ारों का उपयोग करते हैं। रसायनविद भी अपनी प्रयोगशालाओं में इन्हें इस्तेमाल करते हैं, कभी-कभी तो ऐसे मौक़ों पर भी, जबकि वे आधुनिकतम प्लास्टिक बनाने पर काम कर रहे होते हैं। नव-पाषाण युग में ही मानव ने चिकनी मिट्टी पकाना सीख लिया था। आज भी वह इसी तरह ईंटें बनाता है, यह चिकनी मिट्टी ही सुंदर बर्तनों का रूप ग्रहण करती है, इसी से अग्निसह भट्ठियां बनती हैं, जिनमें धातु गलायी जाती है, अंतरिक्ष यानों पर ज़ंगरोधी लेप में भी इसका प्रयोग होता है।

इतिहास के उदय काल में मानव ने सूई-धागे की खोज की और आज तक उनसे काम ले रहा है, हां, अब इनके रूप और सामग्रियां बहुत बदल गये हैं।

कुल्हाड़ी और बेलचा, हथौड़ी और चाकू सिद्धांततः वैसे ही हैं, जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व थे।

इन औज़ारों का उपयोग मानवजाति मात्र परंपराएं बनाये रखने के विचार से नहीं कर रही है, अपितु इसलिए कि पहले की ही भांति आज भी उसे इन औज़ारों की आवश्यकता है।

वे वस्तुएं भी, जो जीवन-निर्वाह के लिए या सैनिक उपयोग की दृष्टि से पूरी तरह पुरानी पड़ चुकी होती हैं, क्रीड़ा, आदि में बनी रहती हैं।

आजकल प्रायः कहीं भी (कुछ अपवादों को छोड़कर) लोग भाले और धनुष-वाण से शिकार नहीं करते हैं, लेकिन स्टेडियमों में भाला फेंकनेवालों और वाण चलानेवालों की प्रतियोगिताएं होती हैं, जिनमें वे वीर गाथाओं के नायकों के कीर्तिमान तोड़ते हैं। पालदार और डांड़वाली नौकाएं चलाना, घुड़सवारी और लग्गा-कूद भी क्रीड़ा के रूप वन गये हैं और मानव को हृष्ट-पुष्ट बनाने के महत्वपूर्ण ध्येय की पूर्ति करते हैं।

एक पुस्तक में पुरापाषाण युग से वर्तमान काल तक श्रम के औज़ारों के विकास का असीम दृश्य प्रस्तुत करना असंभव है। हम पाठकों का ध्यान इस प्रक्रिया के कुछ विशिष्ट लक्षणों की ओर ही दिलाना चाहते हैं, जो मानव-इतिहास के प्रायः सभी युगों में प्रकट होते हैं।

उदाहरण के लिए, उस प्रक्रिया को लें, जिसे आजकल हम मशीनीकरण या स्वचालीकरण कहते हैं। प्राचीन युग के आखेटक भारी लट्ठे का एक सिरा उठाकर उसे पतली डंडी पर इस प्रकार टिका देते थे कि यदि कोई जंतु इस टहनी को गिरा देता था, तो लट्ठा उस पर आ गिरता था। बेशक, इस युक्ति को हम मशीन नहीं कह सकते। किंतु निश्चित अर्थ में यह एक स्वचालित युक्ति थी, क्योंकि यह मनुष्य के बिना ही काम करती थी। स्वतः चलनेवाले धनुष-वाण मनुष्य ने इसके बहुत बाद में बनाये। लोग अपने श्रम को आसान वनाने के लिए ही नहीं, वल्कि मनोरंजन के लिए भी भांति-भांति की स्वचालित युक्तियां निकालते आये हैं।

श्रम के औज़ारों का विभेदीकरण करने की चेष्टा भी हम मानवजाति के सारे इतिहास में पाते हैं। पुरापाषाण युग में ही कटी-छंटी रोड़ी के अलावा, जो बहुत समय तक मनुष्य के लिए "हर तरह के काम का औज़ार" वनी रही, पत्थर की खुरचनियां और कुल्हाड़ियां, छेनियां और छुरियां वनीं और परिष्कृत

हुई। इन औज़ारों का विशेष कार्यों के लिए उपयोग होता था।

आधुनिक प्ररूप के मानव के प्रकट होने के साथ श्रम के औज़ारों के विकास में ज़बरदस्त छलांग का दौर आया। यहां कारण क्या है और कार्य (परिणाम) क्या है? इस प्रश्न का यह उत्तर दिया जा सकता है: उत्पादक शक्तियों के विकास में तीव्र वृद्धि एकसाथ ही मानव के उद्‌विकास में नयी छलांग की शर्त भी थी और उसका परिणाम भी।

लोग पत्थर को नये ढंग से काटने-छांटने, संसाधित करने लगे। अब वे औज़ारों के लिए पत्थरों के पतले और हल्के पत्तर वनाकर रखने लगे, जिन्हें कोई भी आवश्यक रूप देना इतना कठिन नहीं होता था। श्रम के औज़ार चूंकि
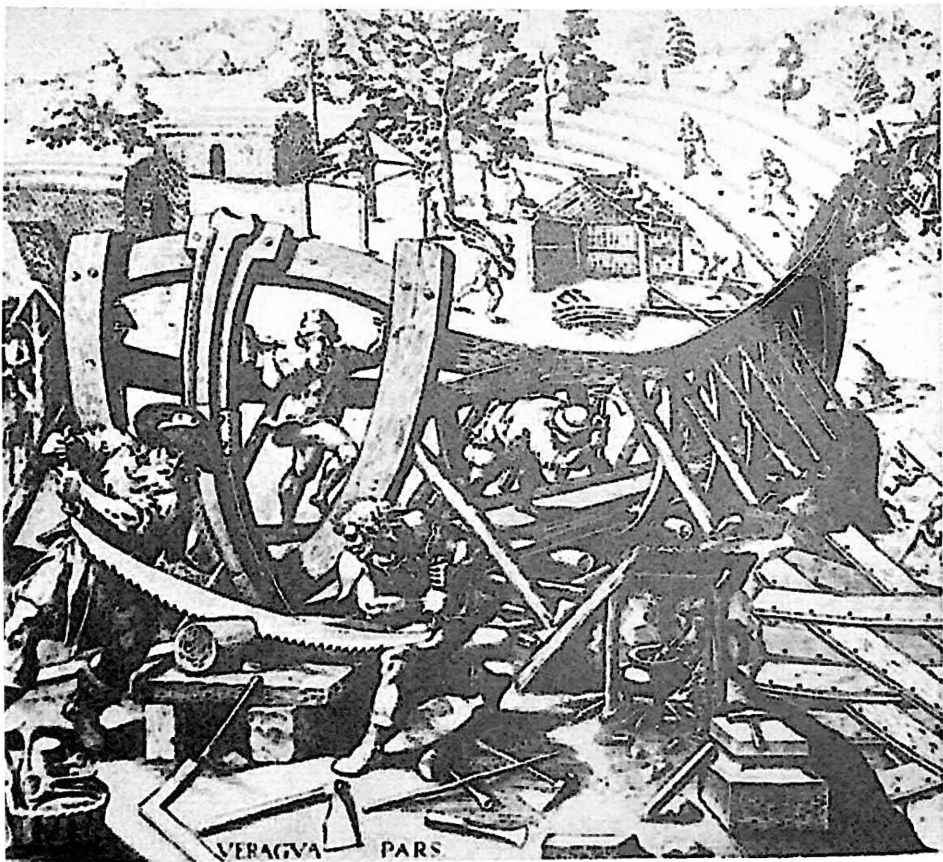
१६वीं शती के अंत में जलपोत इस प्रकार वनाये जाते थे।

हल्के हो गये, सो लोग अब ऐसे स्थानों पर जाते समय, जहां औज़ार बनाने के लिए उपयुक्त पत्थर नहीं मिलता था, पर्याप्त संख्या में औज़ार अपने साथ ले जा सकते थे।

हड्डी और सींग का भी उपयोग बढ़ने लगा। इनसे सूइयां, क़ुदालियां, भालों के अग्रभाग, इत्यादि बनाये जाने लगे। पत्थर की अपेक्षा हड्डी को तराशना कहीं अधिक आसान है, सो हड्डी के दांतेदार अग्रभागवाली बर्छियां बनायी जाने लगीं।

औज़ार अधिक विविधतापूर्ण ही नहीं, अधिक जटिल और परिष्कृत भी बने। पत्थर की कुल्हाड़ी लकड़ी के हत्थे पर लगायी जाने लगी, भालों पर पत्थर या हड्डी का अग्रभाग लग गया। श्रम के औज़ारों में हत्था या मूठ जुड़ जाने से ही काटनेवाले औज़ारों की उत्पादनशीलता तीन-चार गुनी तथा चीरनेवाले औज़ारों की चार से दस गुनी तक बढ़ गयी।

भाला चलाने का "औज़ार" बनाकर मनुष्य ने अपने तकनीकी सृजन के क्षेत्र में एक विशाल क़दम बढ़ाया। धनुष-बाण की ही भांति यह भी एक संश्लिष्ट औज़ार था। एक डंडे पर खांचा बनाया जाता था और उसमें बर्छी रखकर चलायी जाती थी। इस प्रकार हाथ के घुमाव का विस्तार बढ़ता था और परिणामतः बर्छी अधिक शक्ति से छूटती थी। ऐसे औज़ार से छोड़ी गयी बर्छी कुशल से कुशल भालाबरदार के फेंके भाले से दो-तीन गुनी अधिक तेज़ी से जाती थी। धनुष से छोड़े गये बाण की गति तो इससे भी दो-तीन गुनी अधिक होती थी।

कृषि के भी बहुत-से औज़ार नवपाषाण युग में संश्लिष्ट बन गये। उदाहरणतः, हंसिया इस प्रकार बनाया जाता था। चक़मक़ के छोटे-छोटे और तेज़ धारवाले टुकड़े एक ख़ास ढंग से लकड़ी के सांचे में बिठाये जाते थे। ये टुकड़े इतने छोटे होते थे कि माचिस की डिबिया में भी कई दर्जन आ सकते हैं।

संश्लिष्ट औज़ारों में सामान्यतः छोटे पत्थरों का ही इस्तेमाल किया जाता था, उन्हें एक दूसरे से सटाना आसान होता था तथा अधिक बारीकी से तराशा जा सकता था।

बहुत पुराने ज़माने में ही लोग यह समझ गये थे कि भांति-भांति के कुछ औज़ार मिलाकर वे अपना काम आसान तथा अधिक कारगर बना सकते हैं। उदाहरणतः, धनुष की डोरी को बरमे से जोड़ दिया और इस तरह वह एक मिनट में ८०० बार घूमने लगा, जबकि हाथ से चलाने पर वह अधिक से अधिक

७० बार घूमता था। इस यंत्र का उपयोग आग पाने के लिए भी किया जा सकता था: धनुष की डोरी की मदद से डंडी को तेज़ी से घुमाने पर लकड़ी के टुकड़े पर उसके स्पर्श-स्थल में तापमान अधिक तेज़ी से बढ़ता था, सो आग भी जल्दी ही जल उठती थी।

कुम्हार का चक्का और जुलाहे का करघा वना, लोगों ने उत्तोलक (लीवर) के उपयोग के लाभ समझे, बोझ उठाने के लिए बेलन-चरखे की खोज की — यह सब मशीनीकरण ही तो था।

ज़मीन खोदने का डंडा और सैकड़ों टन भारी एक्सकेवेटर, सूई और बिजली की सिलाई मशीन, फावड़ा और आधुनिक कर्षक-हल — ये सब वे औज़ार हैं, जिनकी मदद से मनुष्य अपने अस्तित्व के लिए आवश्यक खाद्य पदार्थ और वस्तुएं उत्पादित करता आया है। इसके साथ ही साथ पृथ्वी को अपनी आवश्यकताओं के अधिक अनुरूप बनाने की चेष्टा में वह उसका कायाकल्प करता आया है।

आधुनिक मोटर कारखाने का कन्वेयर।

पुनर्जागरण काल में लकड़ी के पुल का निर्माण।

लोग सदा प्रकृति की संपदाओं का उपयोग करते आये हैं। इनमें खनिज भी रहे हैं। कहना न होगा कि प्रत्येक युग में प्रकृति की उन संपदाओं की ओर ही विशेष ध्यान दिया जाता था, जिनका उस युग में लोग अपनी भौतिक एवं आत्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सक्रिय उपयोग करते थे। पुरापाषाण युग के मानव को अपने औज़ार बनाने के लिए चक़मक़, लावा कांच और नेफ़राइट की ज़रूरत थी और उसने उन्हें खोजना सीख लिया। लोग तब खनिज रंग – गेरू – पाना भी सीख गये। गेरू से वे अपनी गुफ़ाओं की दीवारों पर चित्र ही नहीं बनाते थे, मृतकों की देहों पर भी यह रंग छिड़कते थे। यह प्रथा सहस्रों वर्ष तक चली। गेरू का लाल रंग रक्त के रंग की याद दिलाता था, सो जीवन का प्रतीक बन गया। कांस्य युग में लोग भूगर्भ से तांबा और रांगा (वंग, टिन), सोना और चांदी निकालने लगे, किंतु साथ ही पत्थर का भी प्रयोग जारी रहा। यूरोप में आरंभ में रांगा कम ही मिलता था, सो उसका उपयोग भी कम होता था। आज से तीन हज़ार साल पहले फ़िनीशियाई लोग और फिर यूनानी लोग रांगा मंगाने के लिए पूर्वी भूमध्यसागर से अपने जहाज़ ब्रिटिश द्वीपों को भेजते थे, जिन्हें तब वंग द्वीप कहा जाता था।

लोहा तो पृथ्वी पर सर्वत्र ही प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। एशिया में कई स्थानों पर मैग्नेटाइट या काला अयस्क पाया जाता है, अफ़्रीका में लैटेराइट मिट्टी भी एक प्रकार का लौह अयस्क है। जब लोगों ने अयस्क से लोहा पाना सीख लिया, तो वह मानवजाति की "प्रमुख धातु" बन गया और आज भी बना हुआ है। अब तो लोग भू-पर्पटी में विद्यमान प्रायः सभी तत्वों का अपनी आवश्यकताओं के लिए उपयोग करते हैं, साथ ही ऐसे तत्वों का भी, जो उन्होंने स्वयं बनाये हैं, जैसे कि टेक्नीशियन। प्राचीन युग में लोग १८ रासायनिक तत्वों से अपना काम चलाते थे, १७वीं सदी आते न आते वे २५ तत्वों का उपयोग करने लगे, १८वीं सदी में २६, १९वीं सदी में ४७, २०वीं सदी के आरंभ में ५४ और इसी शती के मध्य में ९७ तत्वों का।

खनिजों की आवश्यकता हमें उत्पादन के लिए कच्चे माल के तौर पर, खाद और ईंधन के तौर पर है। इन्हें पाने के लिए मनुष्य को सदा कठोर परिश्रम करना पड़ा है और अब भी करना पड़ता है।

पश्चिमी बेलोरूस में नवपाषाण युग की चक़मक़ की खानें हैं। ये खानें इस प्रकार बनायी जाती थीं—पहले एक सीधा कुआं खोदा जाता था, फिर उसके तले से चारों दिशाओं में सुरंगें जाती थीं। बेलोरूस में ये कुएं ८ मीटर तक गहरे हैं और सुरंगें २० मीटर तक लंबी। जानते हैं लोग यहां किन औज़ारों से काम करते थे? हिरण के सींगों से बनी कुदालियों और फावड़ों से! ऐसे सीधे-सादे औज़ारों की मदद से वे टनों क्या, दसियों टन चक़मक़ निकालते थे।

धातुएं पाने के लिए और भी अधिक गहरी खानें खोदी जाने लगीं। प्राचीन रोम में खनन कार्य कितने बड़े पैमाने पर होता था, यह जानकर आज भी हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। दास खनिक उस ज़माने के इंजीनियरों (वे भी दास ही, या छूट चुके दास होते थे, स्वतंत्र नागरिक ऐसे काम प्रायः नहीं करते थे) की देखरेख में पहाड़ के पहाड़ खोद डालते थे। कभी-कभी तो अमूल्य धातुएं पाने के लिए खानें इस प्रकार खोदनी होती थीं कि कुछ समय बाद पहाड़ अपने आप ढह जाये। बड़ा कठिन और जोखिम भरा काम था। अक्सर लोग खानों में दब जाते थे। लेकिन उन दिनों दासों की कौन चिंता करता था।

मध्य युग में खनिजों की खुदाई का काम कई गुना बढ़ा। अब तो मानवजाति के लिए थल से प्राप्त कच्चा माल अपर्याप्त पड़ रहा है। संसार भर में एक चौथाई खनिज तेल आज सागर तल से पाया जाता है। रांगा पाने के लिए भी

मनुष्य सागर तल पर उतर रहा है। वहां से वह मैंगनीज़-लौह संग्रंथन (ढेले) निकाल रहा है, सागर तल की धातुयुक्त काई का अध्ययन कर रहा है।... अभिप्राय यह कि अब सागर तल का दोहन हो रहा है और, संभवतः, निकट भविष्य में मानव पृथ्वी और सागर की ऐसी गहराइयों तक पहुंच जायेगा, जिनकी आज कल्पना करना कठिन है।

मानव-इतिहास में कई बार ऐसा हुआ है कि उत्पादन-कार्य में नयी सामग्रियों का उपयोग आरंभ होने के साथ सारे आर्थिक जीवन का आमूल पुनर्गठन हुआ, दूसरी ओर, आर्थिक जीवन की आवश्यकताओं को देखते हुए औज़ार बनाने के कार्यकलाप में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये।

प्राचीन युग का कांसा अपने तकनीकी गुणों की दृष्टि से काफ़ी अच्छी सामग्री था। उत्तम कांसे से बनी तलवारें तो कुछ बातों में लोहे की तलवारों से भी श्रेष्ठ थीं। ज्ञात है कि ईसवी संवत के आरंभ में भी लोहे की तलवार ज़ोरदार चोट लगने से मुड़ जाती थी और रणक्षेत्र में ही उसे सीधा करना पड़ता था। कांसे की अच्छी तलवार के साथ ऐसा कुछ नहीं होता था। कांसे के औज़ार भी कई बातों में लोहे के औज़ारों से बुरे नहीं थे। हां, कांसे में एक कमी ज़रूर थी: इसे बनाने के लिए तांबा और रांगा चाहिए था, ये धातुएं इतनी अधिक मात्रा में नहीं मिलतीं और इन्हें पाना भी इतना आसान नहीं है। यही कारण था कि कांसे के लिए व्यापक उपयोग का रास्ता बंद था। उदाहरणतः, हल के फाल या कुदाली के लिए कांसा इस्तेमाल करना महंगा पड़ता था और साथ ही सख़्त ज़मीन की जुताई करते समय कांसे के फाल के टूटने का ख़तरा भी अधिक था।

उल्लेखनीय है कि मैक्सिको और पेरू की प्राचीन सभ्यताओं में, जो अनेक लक्षणों में उत्तरी अफ़्रीका और पश्चिमी एशिया की "कांस्य" सभ्यताओं जैसी ही थीं, धातु के औज़ारों का उपयोग बिल्कुल ही नहीं होता था। पत्थर और हड्डी से ही काफ़ी अच्छे औज़ार बना लिये जाते थे, और, जैसा कि सोवियत पुरातत्वविद स० अ० सेम्योनोव ने अपने रोचक प्रयोगों से सिद्ध किया है, इन्हें बनाने में और इनकी मदद से नौकाएं, मूर्तियां, आदि बनाने में अनेक वर्ष नहीं (अभी तक वैज्ञानिकों की यही धारणा थी), बल्कि कुछ घंटे या दिन लगते हैं।

अमरीका की सभ्यताओं के उदाहरण को तथा पत्थर के औज़ारों की अपेक्षाकृत उच्च गुणवत्ता को देखते हुए कोई यह कह सकता है कि आर्थिक और सामाजिक-

राजनीतिक जीवन के विकास का उस सामग्री के साथ कोई विशेष संबंध नहीं होता, जिससे श्रम के औज़ार बनाये जाते हैं। किंतु वास्तव में ऐसा नहीं है। इसका ज्वलंत उदाहरण है लोहा, जिससे एक पूरे युग का नाम पड़ा है।

लोहे के हल की मदद से उस ज़मीन पर भी खेती शुरू की जा सकी, जहां पत्थर का फाल काम नहीं देता था; लोहे की कुल्हाड़ी ने खेतों के लिए जंगल साफ़ करने का काम आसान बनाया। लोहे के औज़ारों की उच्च उत्पादनशीलता से सामाजिक विकास की गति भी अनिवार्यतः तीव्र हुई।

लोहे के फाल ने अनेक शतियों के लिए कृषियोग्य भूमि की कमी की समस्या हल कर दी, कांस्य युग का जनसांख्यिक संकट दूर कर दिया। इस सर्वाधिक
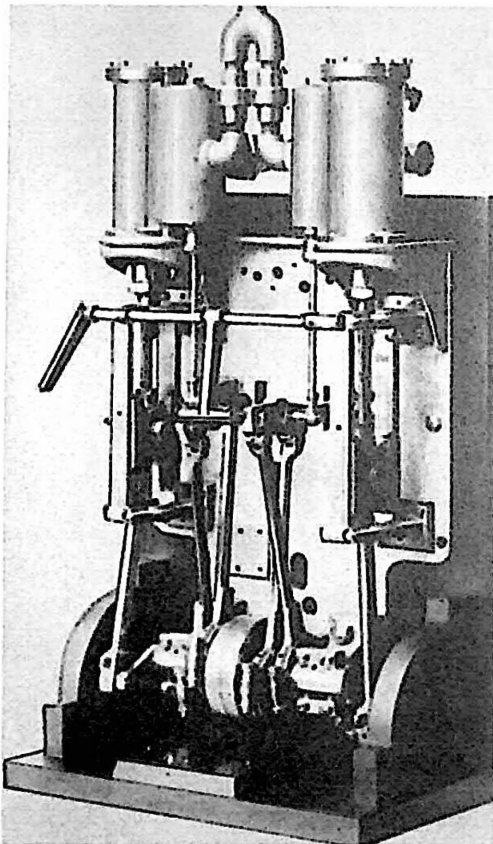
भाप से चलनेवाला एक पहला इंजन।

"जनव्यापी" धातु ने इतिहास में इतनी विशाल भूमिका अदा की है कि मानव द्वारा अपने कार्यकलापों में लोहे का उपयोग शुरू किये जाने को कुछ इतिहासकार "लौह क्रांति" ही कहते हैं।

लोहा आज भी सबसे अधिक महत्वपूर्ण श्रम-औज़ारों के उत्पादन की प्रमुख सामग्री है। अतः, पुरातत्वविद वर्तमान शती को भी लौह युग में ही रख सकते हैं।

श्रम-औज़ारों के मामले में प्रगति सारे समाज की उत्पादक शक्तियों में वृद्धि की सबसे अधिक प्रखर अभिव्यक्ति है। उत्पादक शक्तियों के स्वरूप से मेल खाती हुई ही उत्पादन संबंधों की पद्धति भी होनी चाहिए, दूसरे शब्दों में, समाज की सामाजिक संरचना उत्पादक शक्तियों के स्वरूप के अनुरूप होनी चाहिए। समाज के विकास की इस नियमसंगति का पता मार्क्स ने लगाया, और मानवजाति के इतिहास का सारा क्रम इसकी पुष्टि करता है।

गहरी जुताई के लिए बना जटिल हल, जिसे घोड़ा या बैल चलाता था, दासप्रथा के लिए ज़बरदस्त प्रहार सिद्ध हुआ।

भाप के इंजन के आविष्कार ने सामंतवाद और फिर पूंजीवाद के भी अस्तित्व के लिए घातक भूमिका अदा की।

फ़ेडरिक एंगेल्स ने यह विचार इन शब्दों में व्यक्त किया है:

"१७वीं और १८वीं शतियों में जो लोग भाप का इंजन बनाने के लिए काम कर रहे थे, उन्हें इस बात का गुमान तक न था कि वे ऐसा औज़ार बना रहे हैं, जो अन्य किसी भी शक्ति से अधिक हद तक संसार भर में सामाजिक संबंधों में क्रांतिकारी परिवर्तन लायेगा, और जो, विशेषतः यूरोप में, अल्पमत के हाथों में संपदा संकेंद्रित करके और बहुमत को सर्वहारा बनाकर पहले तो बुर्जुआ वर्ग को सामाजिक और राजनीतिक प्रभुत्व प्रदान करेगा, और फिर बुर्जुआ एवं सर्वहारा के बीच वर्ग-संघर्ष पैदा करेगा, वह संघर्ष, जिसकी परिणति केवल बुर्जुआ वर्ग के पतन और सभी वर्ग-विरोधों के उन्मूलन के साथ हो सकती है।"

लेनिन ने, एक ओर, उत्पादन संबंधों और परिणामतः समाज की सारी व्यवस्था तथा, दूसरी ओर, उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर के बीच अनुरूपता के सिद्धांत के आधार पर ही यह नारा पेश किया था: "कम्युनिज़्म का अर्थ है सोवियत सत्ता जमा सारे देश का विद्युतीकरण।"

ऊर्जा

मानवजाति द्वारा बनायी जानेवाली "द्वितीय प्रकृति", अर्थात भौतिक संस्कृति, लोगों की ऊर्जा-आवश्यकताओं की पूर्ति में भी महती भूमिका निभाती है।

अत्यंत दीर्घकाल तक लोगों की शारीरिक, मांसपेशियों की शक्ति ही उन्हें उपलब्ध एकमात्र "ऊर्जा आधार" थी। कालांतर में मानव आग का उपयोग करने लगा, और फिर आज से छह-आठ हज़ार साल पहले पालतू जानवरों की शक्ति भी इस "भंडार" में जुड़ी। प्रायः उसी समय पवन की शक्ति का भी पहली बार उपयोग किया गया – जहाज़ चलाने के लिए। भाप के इंजन के आविष्कार से पहले मानव ने जो सबसे अधिक तीव्र गति अनुभव की, वह उसने पाल

प्राचीन रोमवासियों का चप्पुओंवाला जलपोत।
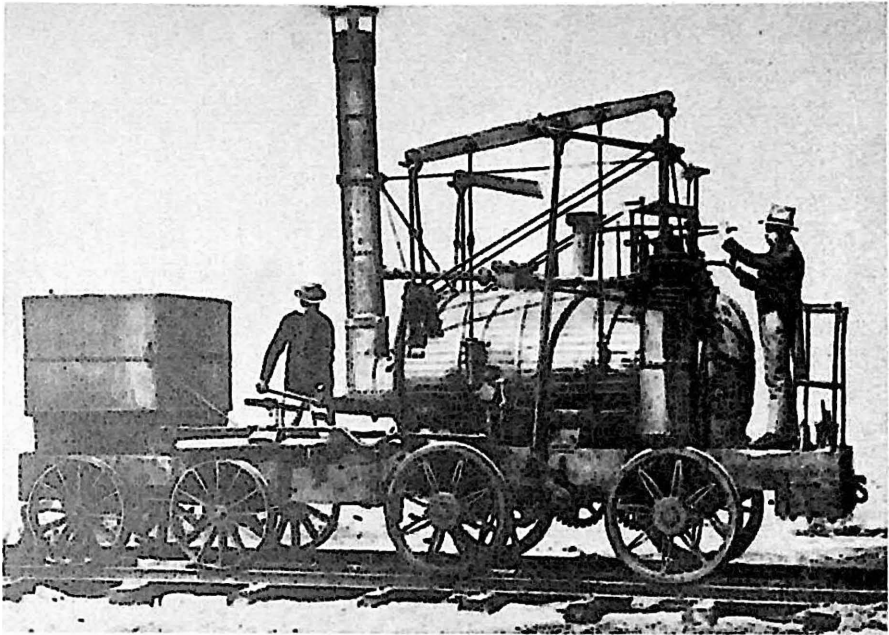
१८१३ में बना भाप-इंजन।

की कृपा से ही पायी।

इसके कई हज़ार साल वाद पवन-चक्कियां वनीं, जो शीघ्र ही मात्र चक्कियां नहीं रह गयीं: पवन की ऊर्जा अब चक्की के पाट ही नहीं चलाती थी, बल्कि लोहा गलाने की भट्ठियों की धौंकनियां, ऊन से कपड़ा वनानेवाली मशीनें और वे पंप भी चलाती थी, जो समुद्र के पानी में डूबी नीची ज़मीन से पानी निकालते थे।

जल-ऊर्जा का उपयोग करना भी लोग प्राचीन काल में ही सीख गये थे। ईसवी संवत से पूर्व ही, पवन-चक्कियों से बहुत पहले पनचक्कियां वनी थीं। लोगों ने सिंचाई और जल-आपूर्ति हेतु पानी पंप करने के लिए इन "जल-इंजनों" का उपयोग करना सीख लिया। फिर इनसे कल-कारखाने भी चलाये जाने लगे।

'मानव, मशीन, इतिहास' नामक पुस्तक के लेखक जे० लिली वताते हैं कि इंगलैंड के सागर तट पर ईसवी संवत की दूसरी सहस्राब्दी के आरंभ में ही प्रायः पचास व्यक्तियों के पीछे एक पनचक्की थी—उस ज़माने में संसार में और
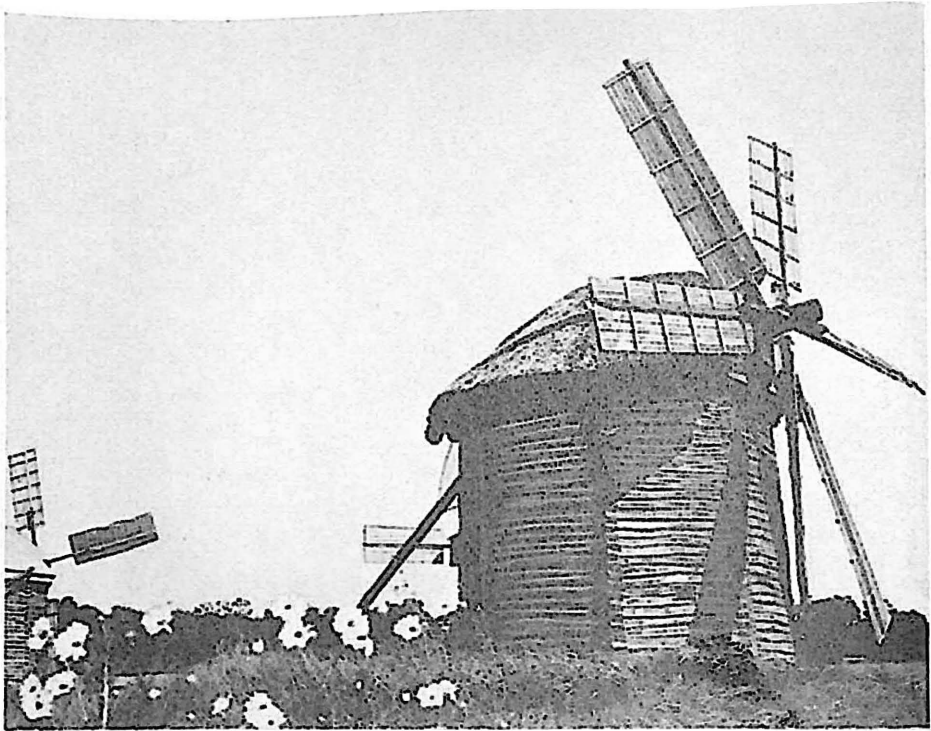
लोगों ने बहुत पहले ही पवन की ऊर्जा का उपयोग करना सीख लिया था।

कहीं भी लोग इतने ऊर्जा-संपन्न नहीं थे। कालांतर में ब्रिटेन ने "विश्व भर की कर्मशाला" होने की जो ख्याति पायी, उसका पूर्वलक्षण यह संपन्नता थी।

१८वीं शती में रूस में नदियों की ऊर्जा से ऐसे-ऐसे कारखाने चलते थे, जो आज के मापदंड से भी विशाल थे। उनके कुछ चित्र उपलब्ध हैं, जिन्हें देखकर आधुनिक युग के महाकाय कल-कारखानों से परिचित व्यक्ति भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता।

वैसे, १८वीं शती तक मानव द्वारा ऊर्जा-उपयोग को जीवनयापन की पद्धतियों के सादृश्य में "हस्तगतकारी" कहा जा सकता है। पवन और जल की प्राकृतिक शक्ति का उपयोग होता था, किंतु मानव ने ऊर्जा के किसी नये स्रोत की रचना नहीं की थी। लाखों वर्षों से मनुष्य की सेवा करती आयी अग्नि की मदद से

लोग जंगल जलाते और भोजन पकाते थे, चट्टानें तोड़ते और धातु गलाते थे, कांच बनाते और मिट्टी के वर्तन पकाते तथा ईंटें बनाते थे। इन सब उत्पादन कार्यों में अग्नि की भूमिका एक प्रकार से श्रम के औज़ार की ही भूमिका थी। वाष्पचालित मशीनें बनने पर ही वह परिवर्तन आया, जिसे ऊर्जा क्रांति कहा जा सकता है। स्वयं यह क्रांति औद्योगिक क्रांति का एक अंश थी।

पिछले दो सौ वर्षों में मानवजाति की ऊर्जा-संपन्नता सौ गुनी से भी अधिक बढ़ी है। कुछ आंकड़े देखिये। १८वीं शती के अंत में यूरोप की सारी ऊर्जा-क्षमता अधिक से अधिक ३ करोड़ अश्व-शक्ति थी। इसका एक तिहाई से अधिक मवेशियों से ही मिलता था, इतना ही भाग जलायी गयी लकड़ी की ऊर्जा का था, १० लाख अश्व-शक्ति स्वयं लोगों की शारीरिक शक्ति थी, इतनी ही या इससे कम उस पवन की, जो पालदार जहाजों को और पवन-चक्कियों को चलाती

पनचक्कियां सदियों से लोगों की सेवा कर रही हैं।

थी। सभी जल-चक्कों की (पनचक्कियां चलानेवाले या कल-कारखानों को ऊर्जा प्रदान करनेवाले, दोनों की ही) कुल क्षमता १५-३० लाख अश्व-शक्ति आंकी जाती है। एक शताब्दी बीतने पर, १९वीं शती के अंत में, वाष्प इंजनों की क्षमता ही ३ करोड़ अश्व-शक्ति थी। अब तो यूरोप की ऊर्जा-क्षमता ३ अरब अश्व-शक्ति की सीमा भी कब की लांघ चुकी है।

कुछ वैज्ञानिकों के मत में, पृथ्वी पर अतितापन का ख़तरा मंडरा रहा है। मानवजाति के कार्यकलापों के परिणामस्वरूप धरातल का तापमान इतना बढ़ सकता है कि इससे जलवायु का संतुलन बिगड़ जायेगा। इसलिए यह भी कहा जाता है कि ऊर्जा-उत्पादन की मानवजाति की क्षमता ऊर्जा-संसाधनों के आकार के कारण इतनी नहीं, जितनी कि इन संसाधनों के अत्यधिक व्यापक उपयोग के कुछ संभाव्य परिणामों के कारण सीमित है।
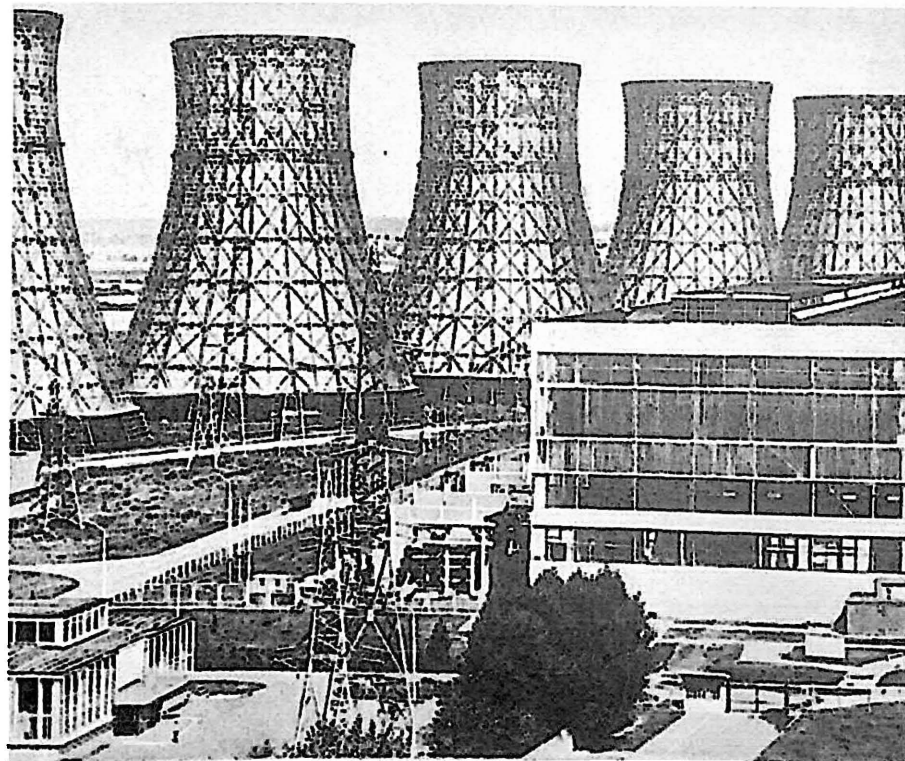
परमाणु शक्ति का शांतिमय उपयोग। एक परमाणु बिजलीघर।

दूसरी ओर, कुछ वैज्ञानिकों ने ऐसी भविष्यवाणियां भी की हैं कि ईंधन के प्राकृतिक भंडार समाप्त हो जाने के साथ पृथ्वी के अतितापन की समस्या ही नहीं रहेगी। बहरहाल, अभी तो लोग कोयले और तेल के नये-नये प्राकृतिक भंडार खोजते जा रहे हैं, हालांकि ईंधन के इन रूपों का इतना तीव्र उपयोग होने के कारण इनके भंडार बड़ी तेज़ी से खत्म हो रहे हैं।

परमाणु और तापनाभिकीय ऊर्जा का उपयोग करके मानवजाति तेल पर निर्भरता से बच सकती है। कुछ विशेषज्ञों का अनुमान है कि २०वीं शती के अंत तक हमें कुल ऊर्जा का एक चौथाई भाग परमाणु बिजलीघरों से मिलेगा।

अनेक वैज्ञानिक सूर्य से ही सबसे अधिक उम्मीद लगाये हुए हैं। सूर्य से पृथ्वी को जो ऊर्जा मिलती है, उसका बड़ा भाग, मनुष्य की दृष्टि में, व्यर्थ ही जाता है; वह बस पर्वतों की चट्टानों और असीम मरुभूमियों की रेत को गर्माती है। वैज्ञानिक नयी-नयी, अधिक परिष्कृत सौर बैटरियां बना रहे हैं, यदि वे उन्हें पर्याप्त हद तक उत्पादनशील बना लेंगे, तो मानवजाति के लिए ऊर्जा पाने की चिंता मिट जायेगी। इसके साथ ही यह बात भी बहुत महत्वपूर्ण है कि तब, संभवतः, अतितापन की समस्या नहीं रहेगी – मनुष्य उसी ताप का ही प्रयोग करेगा, जो पृथ्वी को सूर्य से निरंतर मिलता है।

आज मानवजाति को ईंधन के अभाव का सामना करना पड़ रहा है। इस ऊर्जा-संकट को देखते हुए लोग ऊर्जा के नये स्रोतों की खोज में जुट गये हैं। ऊर्जा-संकट से पवन-मोटरों का तीव्र विकास होने लगा है, ज्वार बिजलीघर बनाने और भूगर्भीय ताप का उपयोग करने की दिशा में क़दम बढ़ाने की प्रेरणा मिली है। परमाणु बिजलीघर बनाये जा रहे हैं। ऐसी-ऐसी परियोजनाएं भी प्रकट हो रही हैं, जो आज हमें कल्पनातीत ही लगती हैं।

आज मानवजाति ऊर्जा की समस्या हल करने में अपने सारे बौद्धिक प्रयास लगा रही है और पूरे विश्वास के साथ यह कहा जा सकता है कि देर-सवेर वह अपनी ऊर्जा-आवश्यकताओं की वृद्धि को पृथ्वी और अंतरिक्ष के ऊर्जा भंडारों के साथ संतुलित करना सीख लेगी।

दूरी पर विजय

तेज़ी से, जल्दी-जल्दी, तुरंत।... इन शब्दों का ही हम लोग अब निरंतर अधिक उपयोग करने लगे हैं। ये हमारे युग की बढ़ती तीव्र गति के सर्वाधिक

अनुरूप हैं। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में समय के साथ मनुष्य के संबंधों में जो परिवर्तन आया है, वह मानव-इतिहास में अभूतपूर्व है।

हमने यह काल-खंड ही क्यों इंगित किया है? हम पाठकों का ध्यान प्रविधि के इतिहास में एक सीमा की ओर दिलाना चाहते हैं, उस सीमा की ओर, जहां से मनुष्य ने पृथ्वी पर ऐसी गति से आना-जाना सीख लिया, जो पहले उसे पहुंच से बाहर लगती थी। आज से डेढ़ सौ से कुछ अधिक वर्ष पहले ही भाप के इंजन ने सवारी डिब्बे चलाये। पहली बार थल पर ऊर्जा के ऐसे स्रोत का उपयोग हुआ, जो मानव ने बनाया था, न कि प्रकृति ने उसे प्रदान किया था। ऊर्जा का यह स्रोत था भाप का इंजन।

जून ११८९ में जर्मनी का सम्राट फ़्रेडरिक बर्बारोसा अपने क्रूसयुद्ध पर निकला। अपने पुत्र के नाम पहला पत्र उसने १६ नवंबर को एड्रियानोपोल (संगमरमर सागर से थोड़ी दूर स्थित नगर) से भेजा। यह पत्र सम्राट के पुत्र को अगले साल मार्च में मिला। इस अभियान में सम्राट मारा गया, इसका समाचार चार महीने बाद ही जर्मनी पहुंचा।

मध्ययुगीन रूस में भी प्राचीन यूनान और ईरान की भांति, नेपोलियन के युग के फ़्रांस और प्राचीन मिस्र की ही भांति, हर मार्ग स्वाभाविकत: दिनों में मापा जाता था। १०वीं शती के कीयेव रूस में अश्वारोही का एक दिन लगभग पचास किलोमीटर के बराबर था। यदि एक दिन में कोई इससे अधिक दूरी तय कर लेता था, तो इसका अर्थ यह होता था कि रास्ते अच्छे हैं और घोड़ा बढ़िया, या घुड़सवार जवान है, अथक और उत्साही है। किंतु सबसे अधिक शक्तिशाली और तेज़ घोड़ा अश्वारोही को तीस किलोमीटर प्रति घंटे से अधिक रफ़्तार से नहीं ले जा सकता था।

१६वीं शती के द्वितीय चतुर्थांश तक मनुष्य के चलने-फिरने की गति उसकी अपनी टांगों की शारीरिक शक्ति से, घोड़े के दौड़ने की रफ़्तार और पालदार जहाज़ की रफ़्तार से निर्धारित होती थी।

किसी ज़माने में घोड़े को पालतू बना लेने से मनुष्य की थल पर रफ़्तार कम से कम दुगनी हो गयी थी। पाल की खोज और परिष्कार से पतवारवाली नौकाओं की गति से दुगनी, तिगुनी, चौगुनी तक रफ़्तार पा ली गयी। किंतु जैसा कि विलक्षण आस्ट्रियाई लेखक स्टीफ़न ज़्वीग ने उचित ही लिखा है: "वैलनश्टाइन की सेना सीज़र की अक्षौहिणी से अधिक तेज़ी से नहीं बढ़ती थी; नेपो-

लियन की फ़ौजें चिंगीज़खान के झुंडों से अधिक तेज़ी से हमले नहीं करती थीं; नेलसन के सैनिक पोतों ने वाइकिंगों की नौकाओं या फ़िनीशियाइयों के पोतों से थोड़ी ही अधिक गति से सागर पार किया। लार्ड बायरन ने चाइल्ड हैरल्ड की यात्राओं में प्रतिदिन प्राय: उतने ही मील की दूरी तय की, जितनी ओवीडियस ने पोंटियस में देश-निकाले के रास्ते में, १८वीं शती में गेटे ने प्राय: उतनी ही सुविधा और उतनी ही रफ़्तार से यात्राएं कीं, जितनी प्रथम सहस्राब्दी ईसवी के आरंभ में ईसा के धर्मदूत संत पाल की यात्राओं की थी। नेपोलियन के युग में भी देशों के बीच दिक् और काल की उतनी ही दूरी थी, जितनी रोमन साम्राज्य के वर्षों में; प्रकृति की शक्ति अभी भी मानव-संकल्प के क़ाबू के बाहर थी।"

१९वीं शती के तीसरे दशक में ही रेलगाड़ियां घोड़ों से दुगनी, तिगुनी रफ़्तार से चलने लगीं। यहां यह बात भी बहुत महत्वपूर्ण थी कि रेलगाड़ियां बहुत देर तक इस रफ़्तार से चल सकती थीं। अल्प समय में ही रेलगाड़ियां प्राय: उस रफ़्तार से चलने लगीं, जिससे आज भी चलती हैं। घोड़े पर जहां दिन में ५०-१०० या बहुत हुआ तो १५० किलोमीटर की दूरी तय की जा सकती थी, वहीं रेलगाड़ियां १९वीं शती में ही चौबीस घंटों में दो हज़ार किलोमीटर तक का फ़ासला पार करने लगीं।

वाष्प और डीज़ल इंजनों के प्रयोग से जल पोतों की रफ़्तार भी बहुत बढ़ गयी।

१९वीं शती के अंत में आंतरिक दहन के इंजन का आविष्कार होने के साथ मोटरगाड़ियां और हवाई जहाज़ बने। फिर २०वीं शती के मध्य में जेट विमानों और, अंतत:, अंतरिक्ष राकेटों ने हमारे जीवन में स्थान बना लिया। आवागमन के नये साधनों के प्रकट होने के साथ-साथ गतियां भी अत्यंत तेज़ी से बढ़ी हैं।

मास्को से दिल्ली पहुंचने में केवल छह घंटे लगते हैं। आधुनिक मानवनिर्मित भू-उपग्रह एक घंटे से कुछ अधिक समय में पृथ्वी की एक परिक्रमा कर लेता है। चंद्रमा, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, आदि को भेजे जानेवाले राकेटों की गति इन भू-उपग्रहों की गति से भी दुगनी, तिगुनी, चौगुनी अधिक होती है।

फ़्रांसीसी लेखक अलेक्सांद्र ड्यूमा के उपन्यासों के नायक द'अर्तान्यां को

जहाज़ पर इंग्लिश चैनल पार करने में लगभग चौबीस घंटे लगे थे। आज होवर पोत एक घंटे में यह जलडमरूमध्य पार कर लेता है।

हम जानते हैं कि दूरी को समय से विभाजित करके वेग (रफ़्तार) जाना जाता है। लोग इस भाजक को निरंतर घटाते जा रहे हैं।

आधुनिक शब्दावली में कहें तो सूचना-प्रेषण का मानव-समाज में विकास कैसे हुआ? हम जानते हैं कि क्रीड़ा की एक सबसे कठिन प्रतियोगिता मैराथन दौड़ का नाम मैराथन के पास हुए युद्ध में यूनानियों की विजय का समाचार एथेंस लेकर आये दूत के सम्मान में रखा गया। चालीस किलोमीटर से कुछ अधिक की यह दूरी दूत ने तीन घंटे से भी कम समय में पार की। विजय का समाचार सुनाकर वह वहीं ढेर हो गया। लेकिन सबसे तेज़ धावक के नाते उसकी कीर्ति आज तक बनी हुई है।

दूतों की गति बहुत हद तक इस बात पर निर्भर होती थी कि सड़कें कैसी हैं। इसलिए भी लोग प्राचीन युग से ही इस बात का ध्यान रखते आये थे कि अच्छी सड़कें बनायी जायें और उनका उचित रख-रखाव हो।

सभी विशाल राज्यों में, जहां शत्रु के आक्रमण या देश के बाहरी भागों में विद्रोह के बारे में शीघ्रातिशीघ्र जान लेना नितांत आवश्यक था, विशेष राजमार्गों का, जो सर्वप्रथम सूचना-संचार के लिए होते थे (साथ ही माल और सेना की आवाजाही के लिए भी) सदा ध्यान रखा जाता था। प्राचीन फ़ारस के उत्तम राजमार्ग, जो देश के भीतर भी और पड़ोसी राज्यों के साथ भी संचार और व्यापार आसान बनाते थे, उसकी समृद्धि का आधार बने। वैसे, यहां यह भी कहा जाना चाहिए कि वे ही उसके पतन का भी कारण बने : सिकंदर मकदूनियाई और उसकी अपेक्षाकृत छोटी किंतु द्रुतगामी सेना की सफलताओं का एक कारण यह भी था कि उसने इन उत्तम मार्गों से लाभ उठाया। रोमन साम्राज्य के मार्गों की ख्याति तो सहस्राब्दियों तक बनी रही है।

अतीत में सबसे अच्छे मार्ग प्राचीन पेरू में बनाये गये, जहां इंकों का भव्य राज्य था। शायद, इसका एक कारण यह था कि ये लोग न पहिये से परिचित थे, न घोड़े से। रास्तों को सीधा करने और उनमें उतार-चढ़ाव कम करने के लिए इंकों ने दर्रों को पाटा, पहाड़ों में सुरंगें खोदीं। चार सौ साल पहले ध्वस्त हुए इस साम्राज्य के भूक्षेत्र में आज जो राज्य हैं, वे अभी तक मार्ग-निर्माण की श्रेष्ठता और परिवहन मार्गों की संख्या में उस शक्तिशाली साम्राज्य के स्तर

तक नहीं पहुंच पाये हैं।

फ़ारस हो या रोम, भारत या पेरू—सर्वत्र ही सामान्य संचार-संपर्क में लगनेवाला समय कम करने का एक ही उपाय था: एक संदेशवाहक (पैदल या घुड़सवार) दूसरे को, दूसरा तीसरे को संदेश देता जाये। इस प्रकार एक दिन में दसियों नहीं, सैकड़ों किलोमीटर की दूरी तय कर ली जाती थी। संदेशवाहकों का ऐसा सिलसिला बनाकर गति में जो तीव्रता लायी गयी, वह अल्पकालिक ही थी, दीर्घकालिक नहीं।

इसीलिए काफ़ी पुराने ज़माने में ही लोग विशाल दूरियों तक संकेत भेजने के उपाय खोजने लगे—मीनारों पर रोशनियां और धुआं, आदि। बेशक, इस तरह केवल सरलतम सूचना ही दी जा सकती थी, किंतु वह अत्यंत महत्वपूर्ण होती थी। सूचना कुछ मिनटों में ही सैकड़ों किलोमीटर दूर तक पहुंच सकती थी। लेकिन इस विधि से ब्योरे बता पाना, चाहे वे कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न होते, असंभव था।

इस वस्तुगत आवश्यकता ने समय के साथ पहले "तार" को जन्म दिया। हां, वह बिजली का नहीं था। यह दृश्य संकेत भेजने की युक्तियों से "बना" होता था, जिन्हें इतनी दूरी पर रखा जाता था कि एक चौकी से दो निकटतम चौकियां अच्छी तरह दिखायी दें।

विद्युत तार, सही-सही कहा जाये तो विद्युत-चुंबकीय तार १९वीं शती के चौथे दशक में बना। इसका आविष्कार रूसी वैज्ञानिक पावेल शिलिंग ने किया। संसार के दूसरे प्रमुख आविष्कारकों ने इसके कई नये-नये रूप बनाये और वे अति शीघ्र ही विश्व भर में फैल गये। यह इस बात का प्रमाण है कि यह खोज समाज की कितनी अधिक तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करती थी।

इस सिलसिले में हम एक बार फिर स्टीफ़न ज़्वीग के शब्द उद्धृत करना चाहेंगे: "रेलगाड़ियों और स्टीमरों की रफ़्तार उस ज़माने के लोगों को कितनी भी आश्चर्यजनक क्यों न लगी हो, वह अवबोधन की सीमा से परे नहीं थी।... हम, बाद की पीढ़ियों के लोग कभी भी अंत तक उन लोगों का हर्षोत्साह नहीं समझ पायेंगे, जो विद्युत टेलीग्राफ़ की पहली सफलताओं के प्रत्यक्षदर्शी थे, इस बात पर उनका असीम उल्लासमय विस्मय नहीं समझ पायेंगे कि लीडेन जार की वही प्राय: अगोचर चिनगारी, जो कल तक जार के पास ले जायी गयी उंगली तक एक इंच की दूरी ही पार करती थी, सहसा एक प्रबल शक्ति बन

गयी है, जो मैदानों, पर्वतों और महाद्वीपों को लांघ सकती है; कि वह विचार, जो अभी-अभी व्यक्त किया गया है, वे शब्द, जो अभी-अभी लिखे गये हैं, पलक झपकते ही हज़ारों मील दूर पढ़े जाते हैं, समझे जाते हैं; कि अदृश्य विद्युतधारा... संसार भर में फैल सकती है, पृथ्वी की परिक्रमा कर सकती है।..."

कुछ दशक और बीतने पर रूस में अलेक्सांद्र पोपोव और इटली में मार्कोनी के आविष्कार के साथ संचार के लिए तारों की भी आवश्यकता नहीं रही। रेडियो तरंगों ने सारे संसार को एक सूत्र में पिरो दिया।

आज रेडियो की सूई घुमाते हुए मनुष्य संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक की यात्रा करता है, सभी स्थानों से आवश्यक सूचना पाता है। रेडियो तरंगों की मदद से उत्तर ध्रुव के पास हिम खंड पर जाड़ा काट रहे वैज्ञानिक, ब्राज़ील के बियाबान जंगलों में जा रहे अभियान दल के सदस्य और हिमालय के शिखरों पर चढ़ रहे पर्वतारोही एक दूसरे से बातचीत कर सकते हैं।

विज्ञान-साहित्य के महान लेखक जूल वर्न को इस बात का भारी अफ़सोस था कि वह रेडियो बनने की भविष्यवाणी नहीं कर सके।

रेडियो ने हमारी संस्कृति का इस हद तक कायाकल्प किया है कि इसकी कल्पना करना भी कठिन है। बात केवल यही नहीं है कि तत्क्षण संपर्क स्थापित किया जा सकता है। संसार के अनेक देशों में दूर-दराज़ के इलाक़ों में रह रहे निरक्षर लोगों को ट्रांज़िस्टर रेडियो की बदौलत सूचना का नया स्रोत मिला है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इसका उनके आत्मिक जीवन पर भी तथा सामाजिक-राजनीतिक जीवन पर भी सक्रिय प्रभाव पड़ता है। पहले आदमी की बात पत्र या संदेश के रूप में ही दूरी पर पहुंचती थी, फिर समाचारपत्रों द्वारा और अब वह प्रकाश की गति से चारों ओर फैलती है।

इससे अधिक गति, कम से कम आधुनिक भौतिकविज्ञानियों के मत में, हो ही नहीं सकती। यहां अंतिम सीमा तक पहुंचा जा चुका है, और आज ही वे इंजीनियर इस बात पर चिंतित हैं, जो ३ लाख ८० हज़ार किलोमीटर की दूरी पर 'लुनाखोद' चलाते हैं या मंगल ग्रह को जा रहे राकेट के उड़ान-मार्ग में संशोधन करते हैं। आज के अंतरिक्ष संचार कर्मियों की दृष्टि में, प्रकाश की गति बहुत धीमी है।

व्यापार का अर्थ है शांति

सारी मानवजाति की संस्कृति एक है और इस एकता को बनाये रखने का एक सर्वाधिक प्राचीन एवं सशक्त कारक व्यापार रहा है। दूसरी ओर, मानव-जाति की संस्कृति, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अत्यंत विविधतापूर्ण है और यही व्यापार के अस्तित्व का एक कारण है।

वस्तुओं के वितरक की भूमिका अदा करते हुए व्यापार ही हमें प्रायः वे सब चीजें दिलाता है, जिनका हम अपने जीवन में उपयोग करते हैं: खाद्य पदार्थों, वस्त्रों, जूतों, फ़र्नीचर से लेकर पुस्तकों और टेलीविजनों तक।

व्यापार ने ही खेतों, फ़ार्मों, बाग़ों, मिलों, कारखानों, मुद्रणालयों से हम सब तक असंख्य सूत्र फैलाये हैं।

निस्संदेह, व्यापार के आधुनिक रूप और विधियां मानव-सभ्यता के सहस्राब्दियों के विकास की देन हैं। आदिम समुदाय, नियमतः, जीवन के लिए आवश्यक सभी वस्तुओं का उत्पादन स्वयं ही करते थे। किंतु ये भी अपने विकास की प्रक्रिया में ऐसी वस्तुओं का अभाव महसूस करने लगे, जो निकट या दूर के पड़ोसियों के पास प्रचुरता में थीं। मुख्यतः यह बात कच्चे माल पर लागू होती है। लावा कांच श्रम के औज़ार और आयुध बनाने की अनुपम सामग्री है, इसकी किरच को आश्चर्यजनक हद तक पैना बनाया जा सकता है। १२-१५ हज़ार साल पहले उत्तर पुरापाषाण युग में ही इसके प्राकृतिक भंडारों से (ऐसा एक स्थान वर्तमान आर्मीनिया के भूक्षेत्र में था) यह सामग्री ३५०-४०० किलोमीटर दूर तक पहुंचायी जाती थी। नवपाषाण युग में, जब औज़ारों और आयुधों की गुणवत्ता की अपेक्षाएं बढ़ गयीं, तो इस उत्तम सामग्री की मांग भी बढ़ी। अब लावा कांच प्राकृतिक भंडारों से ९०० किलोमीटर दूर तक भी पहुंचने लगा। प्राकृतिक भंडार के निकटवर्ती २५०-३५० किलोमीटर अर्धव्यास के क्षेत्र में लावा कांच सारे "पाषाण उद्योग" का आधार होता था। दूरवर्ती इलाक़ों में लावा कांच से बने औज़ारों का अंश घटता जाता था। अंततः, ६००-९०० किलोमीटर दूर स्थित इलाक़ों में लावा कांच केवल एक प्रतिशत औज़ार बनाने के काम आता था। लेकिन वह वहां तक पहुंचता तो था! अब ज़रा यह याद करें कि उस युग में (सातवीं-छठी सहस्राब्दी ई० पू०) कोई परिवहन साधन नहीं थे। एक आदमी अपनी पीठ पर तीस किलोग्राम से कुछ ही अधिक भार ले जा सकता था, और

इसके काफ़ी बाद के युग में भी एक दिन का पैदल रास्ता २५ किलोमीटर के बराबर ही होता था। सो, यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि इस प्रकार का कच्चा माल दूर-दूर तक पहुंचाना कितना श्रमसाध्य कार्य था।

उस युग में विनिमय के ठोस रूप क्या थे, इसका पता लगाना तो अब कठिन है। लेकिन इसका कुछ अनुमान हम आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों जैसी जन-जातियों की जीवन-पद्धति के प्रेक्षणों से लगा सकते हैं। बेशक, चर्चा उन दिनों के प्रेक्षणों की है, जब यूरोपवासियों ने इनकी परंपरागत जीवन-व्यवस्था भंग नहीं की थी। सभी आस्ट्रेलियाई क़बीले तब पाषाण युग में रह रहे थे, उस अवस्था में, जिससे संसार के आर्थिक दृष्टि से विकसित भागों के जनगण हज़ारों वर्ष पहले ही गुज़र चुके थे। इन क़बीलों के बीच प्राय: परस्पर वैमनस्य भी रहता था। किंतु इसके बावजूद विनिमय के जटिल और बहुपक्षीय संबंध इस सारे महाद्वीप में फैले हुए थे।

विनिमय के साथ प्राय: बड़ी जटिल रस्में जुड़ी होती थीं, निश्चित अर्थ में यह एक अनुष्ठान ही होता था।

आस्ट्रेलिया में दूरवर्ती भागों से सामग्री पाने के प्राचीन रूप भी, प्रत्यक्षत:, बने रहे थे। उदाहरणत:, अंतिम संस्कार के लिए गेरू की आवश्यकता होती थी। वे क़बीले, जिनके इलाक़े में गेरू पाया जाता था, अपने पड़ोसियों के लिए इस आवश्यकता के महत्व को समझते थे, भले ही उनके बीच शत्रुता चल रही हो। दो-तीन व्यक्तियों के दल निर्बाध रूप से शत्रु क़बीले के क्षेत्र में चले जाते थे और गेरू लादकर ले आते थे। भोजन या आखेट के आयुधों के बदले गेरू का विनिमय भी हो सकता था। कुछ क़बीले भाले या बूमरैंग, आदि बनाने में ख़ास तौर पर माहिर माने जाते थे। उनके बनाये आयुध एक क़बीले से दूसरे तक होते हुए हिंद महासागर तट से प्रशांत महासागर तक या इससे विपरीत दिशा में, एक छोर से दूसरे छोर तक सभी क़बीलों के पास पहुंच जाते थे।

बहुधा विनिमय के सहभागी यह दिखावा करते थे कि वे वस्तुओं का आदान-प्रदान नहीं कर रहे, बल्कि उन्हें एक दूसरे को भेंट कर रहे हैं।

उत्तरी अमरीका में जब यूरोपवासी पहुंचे, तो वहां के रेड इंडियन नवपाषाण युग की विकसित अवस्था में थे और उनके यहां विनिमय के रूप अधिक जटिल थे।

उदाहरणत:, होपी क़बीले में विनिमय का प्रबंध विशेष बिरादरियां करती

थीं, जो शिल्पियों से उनकी बनायी वस्तुएं लेती थीं और बदले में उन्हें निर्वाह-साधन प्रदान करती थीं। विनिमय के मामले में रेड इंडियनों की सबसे बड़ी उपलब्धि इस बात को माना जाता है कि वहां वर्ष के किन्हीं निश्चित दिनों में विशेष मेले होते थे या बाज़ार लगते थे, जहां आदान-प्रदान में रुचि रखनेवाले सभी लोग आते थे।

नवपाषाण युग में समाज का वर्गीय विभेदीकरण होने लगता है। मनुष्य का जीवन अधिक भरा-पूरा हो जाता है, किंतु साथ ही अधिक जटिल और संकटपूर्ण भी। इस अवस्था से गुज़र रहे रेड इंडियन क़बीलों में प्रायः घोर शत्रुता पायी जाती थी। लेकिन मेले के दिनों में सभी शत्रु क़बीलों के बीच युद्ध-विराम की घोषणा हो जाती थी। उल्लेखनीय है कि उत्तरी अमरीका की बहुत-सी इंडियन भाषाओं में "शांति" शब्द उसी धातु से बना है, जिससे "व्यापार" या "विनिमय" शब्द। लोग जहां शुरू में खाद्य पदार्थों और शिल्प की वस्तुओं के सीधे

भारत में सब्ज़ियों का बाज़ार।

आदान-प्रदान और फिर उनके व्यापार के लिए एकत्रित होते थे, वे स्थान सांस्कृतिक केंद्र बन जाते थे। ऐसे स्थानों पर ही व्यापारिक नगर बसते थे।

हर नये श्रम-विभाजन के साथ समाज में व्यापार अधिक आवश्यक होता जाता था, उसकी भूमिका बढ़ती जाती थी। आद्यभारतीय और प्राचीन भारतीय समाजों में, प्राचीन मिस्र और सुमेर के समाजों में दसियों नहीं, सैकड़ों व्यवसायों के लोग थे। ऐसे समाजों का व्यापार के बिना काम नहीं चल सकता था। उनमें माल का विनिमय एक बुनियादी आवश्यकता बन गया था।

बुनकर और कुम्हार, नानवाई और राजगीर, इत्रफ़रोश और स्वर्णकार, ये सब व्यापार के बिना कैसे रह सकते थे? लोगों के पेशों के बीच भेद जितने अधिक होते हैं, समाज की रचना जितनी अधिक जटिल होती है, उसमें व्यापार की भूमिका उतनी ही अधिक महती होती है। आस्ट्रेलिया या ग्रीनलैंड के मूल निवासी तक अपनी आवश्यकता की वस्तुएं पाने के लिए सैकड़ों किलोमीटर दूर जाते थे, विकसित समाजों के व्यापार संबंधों के असंख्य सूत्र तो सागरों और रेगिस्तानों, वनों और पर्वतों के पार भी फैले होते हैं।

चौथी-तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० में हड़प्पा (मोहनजोदड़ो) सभ्यता भारत उपमहाद्वीप के जिस भाग में फैली हुई थी, उसका क्षेत्रफल मिस्र और मेसोपोटामिया, दोनों के कुल क्षेत्रफल से अधिक था। दसियों नगरों और सैकड़ों बस्तियों के बीच व्यापारिक संबंध ही बहुत हद तक इतने बड़े भूभाग में सांस्कृतिक एकता बनाये हुए थे। सिंधु घाटी के निवासी इस उपमहाद्वीप के दूरवर्ती भागों के साथ भी व्यापार करते थे। दक्षिण भारत से वे सोना और रत्न पाते थे, कुछ रत्न मध्य एशिया से भी आते थे। पुरातत्वविदों को यहां पूर्वी एशिया के साथ व्यापार के भी चिह्न मिलते हैं। प्रत्यक्षतः, भारत से पश्चिम में स्थित देशों के साथ व्यापार बड़े पैमाने पर होता था और यह मुख्यतः समुद्र के रास्ते होता था। हड़प्पा की मुद्राओं पर विशाल जल-पोत अंकित हैं। लोथल में तो पुरातत्वविदों को ऐसे अवशेष मिले हैं, जिनसे उन्होंने अनुमान लगाया है कि यहां दो सौ मीटर से भी अधिक लंबा नौका-घाट था। किसी ज़माने में सुमेर में आद्यभारतीयों की कोठियां थीं। सिंधु घाटी के व्यापारी जहाज़ों पर अरब देशों को और, संभवतः, पूर्वी अफ़्रीका तक भी जाते थे।

व्यापार का विकास व्यापारिक राज्यों में आर्थिक खुशहाली तो लाता ही था, साथ ही उनका सांस्कृतिक प्रभाव भी फैलाता था।

फ़िनीशियाई व्यापारी अपने समुद्री जहाज़ों पर दूर और पास के अनेक देशों के साथ व्यापार के लिए जाते थे। उन्हीं को इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि फ़िनीशियाई लिपि संसार की अनेक भाषाओं की लिपि का आधार बनी।

अपेक्षाकृत छोटे देश यूनान ने मानव-सभ्यता पर गहरी छाप छोड़ी है। इस प्रभाव के कारण अनेक हैं। प्रमुख कारणों में एक यह भी है कि यूनानी लोग कृषक, पशुपालक और शिल्पी ही नहीं, व्यापारी भी थे।

रोमन साम्राज्य की अखंडता शस्त्रास्त्रों के बल पर ही नहीं, बल्कि साम्राज्य के विभिन्न भागों के बीच बने व्यापारिक संबंधों पर भी टिकी हुई थी।

मध्ययुगीन अरब ख़िलाफ़त में ऐसे सूरमा-सौदागरों की कमी न थी, जो मुनाफ़े के सौदे की खातिर काले कोसों जाने को तैयार रहते थे। अरब सौदागर केंद्रीय अफ़्रीका और उत्तरी यूरोप तक पहुंच गये, उराल-पार के आखेटकों और हिरणपालकों के साथ व्यापार करने लगे, मध्यस्थों के ज़रिये उन्होंने चुकोत्का और कमचात्का के निवासियों के साथ संपर्क स्थापित किये (यहां से समुद्री सूंस नार्ह्वेल के दांत, जो उन दिनों अपने आरोग्यकारी गुणों के लिए अमूल्य माने जाते थे, सखालीन, जापान और चीन के रास्ते वे बगदाद तक पहुंचाते थे)। ऐसे सौदागरों की छवि ही अरब लोककथाओं में सिंदबाद के रूप में अंकित हुई।

उन दिनों यूरोप, एशिया और अफ़्रीका में अरब सिक्के—दिरहम और दीनार—हज़ारों नहीं, लाखों की तादाद में चलते थे। यहां यह भी इंगित किया जाना चाहिए कि मध्ययुगीन शासक—राजा, नवाब, खान, आदि—व्यापार की आवश्यकताओं का ध्यान रखते थे। कुलीन-अभिजात वर्ग के विरुद्ध संघर्ष में शिल्पियों और व्यापारियों के संपन्न नगर उनका अवलंब जो होते थे।

कतिपय सामंतवादी देशों में आंतरिक और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार कितना भी विकसित क्यों न रहा हो, वह उस मंज़िल से बहुत दूर था, जिस पर पूंजीवादी समाज में व्यापार पहुंचा। बुर्जुआ क्रांतियों की प्रमुखतम मांगों में एक मांग यह भी थी कि एक देश के अलग-अलग भागों के बीच व्यापार पर लगे प्रतिबंध हटाये जायें।

१८वीं शती के सत्तरोत्तर दशक में ब्रिटिश सरकार ने अमरीकी उपनिवेशों में आयात की जानेवाली कुछ वस्तुओं पर अतिरिक्त कर लगा दिये, इससे जो

घटना-क्रम आरंभ हुआ, उसका अंत संयुक्त राज्य अमरीका की स्वतंत्रता की घोषणा के साथ हुआ।

लेनिन ने लिखा है: "सारी दुनिया में सामंतवाद पर पूंजीवाद की अंतिम विजय के काल का राष्ट्रीय आंदोलनों से संबंध रहा है। इन आंदोलनों का आर्थिक आधार यह तथ्य है कि माल-उत्पादन की पूर्ण विजय प्राप्त करने के लिए बुर्जुआ वर्ग द्वारा अंदरूनी मंडियों पर क़ब्ज़ा किया जाना, एक ही भाषा बोलनेवाले निवासियों के राजकीय दृष्टि से एकताबद्ध इलाक़ों का होना और इस भाषा के विकास तथा साहित्य में उसकी परिपुष्टि में सभी बाधाओं का हटाया जाना आवश्यक है।... आधुनिक पूंजीवाद के उपयुक्त, सचमुच स्वतंत्र तथा व्यापक वाणिज्यिक आदान-प्रदान के लिए, जनसंख्या के सभी अलग-अलग वर्गों के स्वतंत्र तथा विस्तृत ढंग से समूहबद्ध होने के लिए और अंततः मंडी और छोटे-बड़े हर मालिक, खरीदार तथा विक्रेता के बीच घनिष्ठ संबंधों की स्थापना के लिए एक ही भाषा तथा अबाध विकास सबसे महत्वपूर्ण शर्तों में से एक है।"

विभिन्न धर्मों और धार्मिक संगठनों का अलग-अलग समय पर व्यापार के प्रति रुख अलग-अलग रहा है। मध्य युग में कैथोलिक चर्च ने अनेक बार व्यापार का सीधे-सीधे विरोध किया, जबकि विभिन्न प्रोटेस्टेंट संप्रदायों ने इसे पुण्य कर्म बताया। यह स्वाभाविक भी था: प्रोटेस्टेंट संप्रदायों के अधिसंख्य अनुयायी बुर्जुआ परिवारों के जो थे।

इस्लाम का अरब में उन दिनों उद्‌भव हुआ, जब वहां से महत्वपूर्ण व्यापार-मार्ग गुज़रते थे। क़ुरान पढ़ते हुए यह स्पष्टतः देखा जा सकता है कि उसके रचयिता की व्यापार में गहरी रुचि थी और वह इस मामले में अज्ञानी नहीं था।

सामाजिक परिस्थितियां भी बहुत हद तक व्यापार का स्वरूप निर्धारित करती हैं। इतिहास में व्यापार-युद्धों के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने बहुधा प्रत्यक्ष सैनिक कार्रवाइयों का रूप लिया। इनमें शर्मनाक उद्देश्यों से लड़े गये कई युद्ध भी थे, जैसे कि १९वीं शती में इंगलैंड का चीन के साथ युद्ध, जो उसने चीन में अफ़ीम बेचने का अधिकार पाने के लिए लड़ा।

खेदवश, व्यापार के साथ प्रायः भ्रष्टाचार और रक्तपात जुड़ा होता है। किंतु फिर भी, कुल जमा देखा जाये तो व्यापार समाज की प्रगति में, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंधों के विकास में सक्रिय रूप से सहायक होता है।
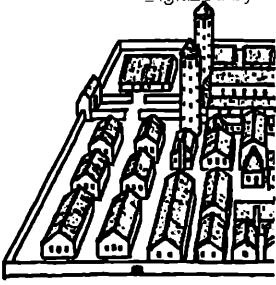
रक्षा की खोज में

मानवजाति के सारे इतिहास के दौरान लोग अपने लिए रक्षा की खोज में रहे हैं — ठंड और गर्मी से, बारिश और हिमपात से, हवा और धूल से उन्हें अपनी रक्षा करनी होती है ; हिंसक जंतुओं और शत्रुओं से रक्षा करना आवश्यक रहा है ; और शत्रुओं में, शायद, सबसे अधिक खतरनाक और उग्र शत्रुओं — रोगजनक जीवाणुओं और विषाणुओं — से रक्षा के उपाय वे आज भी ढूंढ़ रहे हैं।

मनुष्य ने मकान बनाना, वस्त्र सीना, श्रम-औज़ार बनाना, अपने आस-पास के प्राकृतिक परिवेश में रोगहर औषधियां पाना और उनका उपयोग करना सीख लिया है। इस सबकी कहानी हम आवास के इतिहास से आरंभ करते हैं।

आवास

अभी कुछ समय पहले तक वैज्ञानिक यह मानते थे कि सरलतम स्वरूप का आवास केवल आधुनिक मानव, अर्थात होमो सेपिएन्स, ने ही बनाया, जबकि उसके पूर्वज स्वयं प्रकृति द्वारा प्रदत्त शरण-स्थलों, जैसेकि गुफाओं, का उपयोग आवास के तौर पर करते थे। यह दृष्टिकोण तर्कसंगत प्रतीत होता था, क्योंकि कुछ क़बीले जो १९वीं और २०वीं शती तक "आदिम" अवस्था में बने रहे थे, उन्हें मकान तो क्या, झोंपड़ी तक बनानी नहीं आती थी। उदाहरणत:, अंडमान द्वीपसमूह के मूलनिवासी सपाट स्थान पर हवा से बचने के लिए बनायी गयी एक प्रकार की आड़ से ही काम चलाते थे।

लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि आधुनिक युग तक बने रहे गोत्रीय समाजों का अध्ययन करते हुए वैज्ञानिकों का वास्ता सामाजिक और तकनीकी विकास के कुछ क्षेत्रों में "बाहरी व्यक्तियों" से होता है ; उनका इतिहास तो किन्हीं भी दूसरे मानव-दलों के इतिहास से कम लंबा नहीं है। इतने लंबे पथ पर कोई भी जनगण कुछ पा ही नहीं, खो भी सकते हैं।
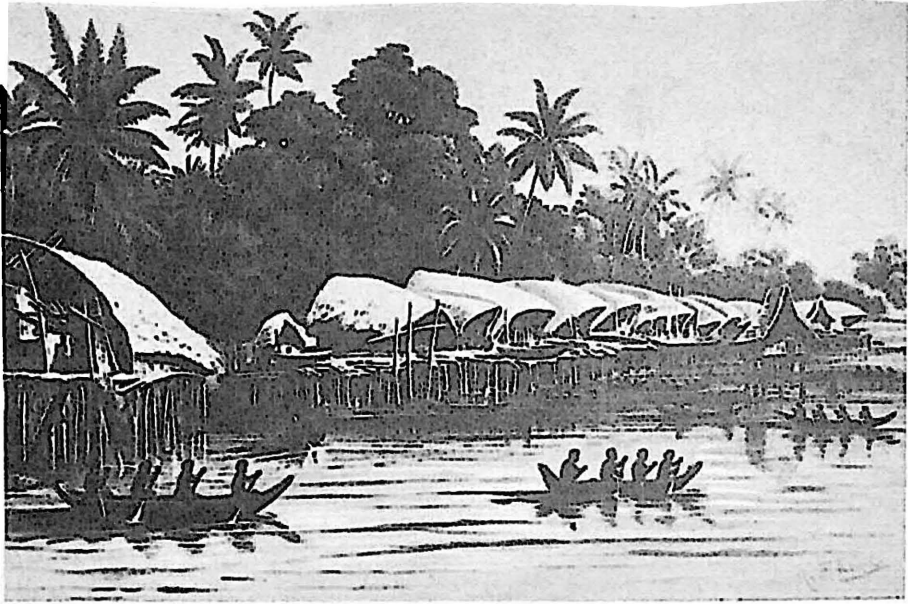
संसार के अनेक भागों में वल्लियों पर मकान बनाये जाते हैं। यह वस्ती न्यू गिनी में है।

अंग्रेज़ पुरातत्वविद लुईस लिकी को अफ़्रीका में एक ऐसे निर्माण-कार्य के अवशेष मिले, जो मनुष्य ने लगभग १७ लाख ५० हज़ार साल पहले किया था! प्राय: २० वर्ग मीटर क्षेत्रफल में कई सौ लावा-पिंड बिछाये गये थे। लुईस के कार्य को जारी रखते हुए उनकी पत्नी मैरी ने यह अनुमान लगाया कि इन लावा-पिंडों के वीच डंडे फंसाकर उन पर पशु-चर्म फैलाये जाते थे। कुछ-कुछ इस तरह के आवास तो अभी हाल ही तक उत्तर की कई जनजातियां बनाती रही हैं!

यह अनुमान पूर्णतः यथार्थपरक है। पुरातत्वविदों ने अव यह प्रमाणित कर दिया है कि डंडों-बांसों के ऐसे ढांचेवाले मकान ही आज से ४-२ लाख साल पहले वे लोग बनाते थे, जो फ़्रांस के दक्षिण में भूमध्यसागर तट के पास वहां रहते थे, जहां अव नाइस नगर है। ये अस्थायी आवास थे, जो वर्ष में कुछ दिनों के लिए ही वनाये जाते थे, लेकिन थे तो आवास ही!

पत्थरों, रेत और अश्मीभूत काई में उस मानव के आवास के अवशेष वचे रहे हैं, जो, बहुत-से वैज्ञानिकों के मत में, "मानव" कहलाने का पहला अधिकारी

था, होमो वंश का पहला प्रतिनिधि था। उसे "होमो इरेक्टस", अर्थात "सीधा चलनेवाला मानव" भी कहा जाता है। इधर, उसका आर्कैंथ्रोपस, अर्थात आदि मानव नाम अधिक प्रचलित हो गया है। उसकी अस्थियां कुछ अधिक मोटी थीं, मांसपेशियां, प्रत्यक्षत:, आज के लोगों की मांसपेशियों से अधिक शक्तिशाली थीं। उसका निचला जवड़ा खासा भारी-भरकम था, ठोड़ी प्राय: थी ही नहीं, चक्षु-कोटरों के ऊपर की अस्थियां बहुत आगे को निकली हुई होती थीं, माथा संकरा, ढलवां, मानो कटा हुआ-सा था। लेकिन इस मस्तक के पीछे वह मस्तिष्क काम करने लगा था, जो बहुत कुछ कर पाने में सक्षम था।

नाइस में हुए पुरातात्विक उत्खनन में इक्कीस झोंपड़ियों के अवशेष मिले हैं। ७.८ से १४.७ मीटर तक लंबा और ४ से ६ मीटर तक चौड़ा अंडाकार घेरा पत्थरों से बनाया गया था। इन पत्थरों के पास खूंटों या डंडियों के चिह्न बचे रहे हैं, जिन्हें रेत में एक दूसरे से सटाकर गाड़ा जाता था और इस तरह दीवारें बनती

एथेंस। पार्थेनोन।

थीं। छत तले, प्रत्यक्षतः, पेड़ों के तनों की टेक दी जाती थी (इन तनों से कोई तीस सेंटीमीटर व्यास के छोटे-छोटे गढ़हे बचे रह गये हैं)।

झोंपड़ी के बीचोंबीच चूल्हा है, जिसके उस तरफ़ पत्थरों की आड़ है, जिधर से यहां सदा हवा चलती है। चूल्हा झोंपड़ी के भीतर होने पर भी उसे हवा से बचाना पड़ता था – इसका अर्थ यह है कि लोग अभी ऐसी दीवारें बनाना नहीं सीख पाये थे, जिनमें से हवा न आये। ऐसे मकान में लोग काम करते थे, औज़ार बनाते थे – एक सपाट पत्थर के इर्द-गिर्द, जो, फ़्रांसीसी पुरातत्वविद ल्युम्ले के अनुसार, कारीगर के बैठने का स्थान था, यहां बनाये गये औज़ार तथा उनके उत्पादन के दौरान बचे-खुचे पत्थरों के टुकड़े मिले हैं। यह मकान होमो इरेक्टस के लिए शयनागार, कार्यशाला और रसोईघर – सभी का काम देता था। इसकी काफ़ी जटिल संरचना यह बताती है कि यह मानव की पहली स्थापत्य कृति नहीं थी। झोंपड़ी के स्थान पर रेत कितनी दबी हुई है, इसे देखकर वैज्ञानिकों ने यह अनुमान लगाया है कि लोग ऐसे आवास में कुछेक दिन ही रहते थे और फिर, शायद, आगे कहीं चले जाते थे।

वैज्ञानिकों का अनुमान है कि प्रायः इसी काल में पृथ्वी के उन भागों में, जहां जलवायु अधिक कठोर थी, लोग पहले तहखानेनुमा आवास बनाने लगे – एक गड्ढा खोदकर वे उस पर टहनियों या तनों का ढलवां छप्पर बना लेते थे, इस तरह हिमपात और वर्षा से, वन्य जंतुओं के संभाव्य आक्रमणों से अपनी रक्षा करते थे। शुरू में तो, शायद, यह छप्पर बिना किसी क्रम के टहनियां और तने डालकर बना लिया जाता था और उसके तले गड्ढा भी, प्रत्यक्षतः, गोल ही होता था – ऐसा गड्ढा खोदना आसान होता है और उसकी दीवारें ढहती भी कम हैं। फिर, अपने हर ज्ञान की ही भांति, लंबे और कठोर अनुभव से लोगों ने तनों और टहनियों को निश्चित क्रम में लगाना सीखा; गड्ढा भी वे चौकोर बनाने लगे, इसे बनाना तो अधिक कठिन था, किंतु इसमें रहना कहीं अधिक सुविधाजनक था। फिर छप्पर ज़मीन से ऊपर उठ गया, झोंपड़ी बन गया ... और वे मकान बने, जिनमें सुदूर अतीत में स्लाव और जर्मन लोग रहते थे। अभी कुछ समय पहले तक कम्चादल, आदि कुछ जनजातियां ऐसे मकान बनाती थीं।

तहखानेनुमा पहले विशाल मकानों में प्रायः अनेक परिवार, पूरा का पूरा गोत्र ही रहता था। ऐसे आवासों में रहनेवाले कुछ जनगण तहखाने की दीवारों में गहरे "आले" बना लेते थे, जिनमें अलग-अलग परिवार रहते थे।

प्राचीन ऐज़्टेक लोगों का मंदिर, जो चांद्र पिरामिड के नाम से जाना जाता है (मैक्सिको)।

ऐसे आवास में न धुआंरा होता था, न खिड़की। छत में बने छेद के रास्ते इसमें घुसा जाता था। कालांतर में प्रवेशमुख पर ओट लगायी जाने लगी और इस तरह द्वार बना। इसके पीछे-पीछे ही "दरवाज़े की घंटी" भी बना ली गयी। यदि हम यह मान लें, तो इसका एक उदाहरण जावा द्वीप के ओंतोंग क़बीले में पायेंगे: यहां दरवाज़े पर एक झुनझुना लटका होता है। प्राचीन यूनान में इस उद्देश्य से विशेष हथौड़ियां बनायी गयी थीं, जो प्रवेशद्वार पर लटकी होती थीं या फ़र्श पर रखी होती थीं (इनका प्रचलन आज भी इंगलैंड में पाया जाता है)।

खिड़की तो दरवाज़े से हज़ारों साल बाद बनायी गयी। अरसे तक यह माना जाता रहा था कि सबसे पहले खिड़की द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के अंत या प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० के आरंभ में पश्चिमी एशिया में कहीं बनायी गयी। यदि आप प्राचीन युग की सुमेरी-बावुल, आदि महान सभ्यताओं के बारे में कोई ऐतिहासिक
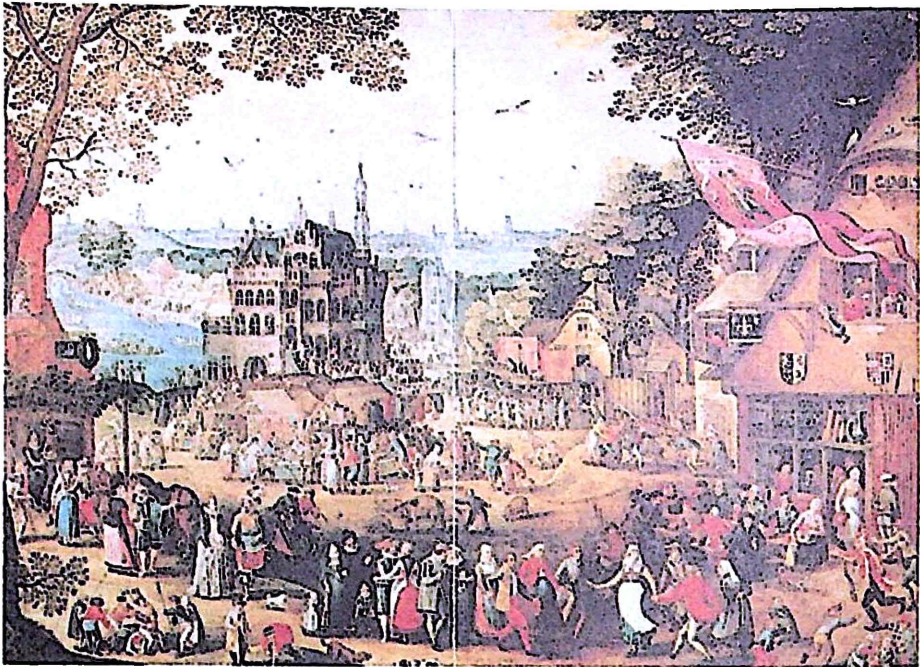
उत्सव के समय पश्चिमी यूरोप का एक नगर (१६वीं-१७वीं शती)।

कथा-उपन्यास पढ़ें, तो ध्यान रखें कि उस काल के मिट्टी के मकानों और महलों में खिड़कियां नहीं होती थीं। हां, इधर, हाल ही में साइप्रस में हुई पुरातात्विक खुदाई से इस बात के प्रमाण मिले हैं कि खिड़की की खोज लोगों ने पुराने अनुमानों से बहुत अधिक पहले कर ली थी। पता चला है कि खिड़की आठ हज़ार साल पुरानी है, किंतु, प्रत्यक्षत:, इसका व्यापक प्रसार लंबे समय तक नहीं हुआ।

शायद, यही कारण है कि आरंभ में अनेक जनगण के आवासों में दरवाज़ा खिड़की और धुआंरे, दोनों का काम करता था। लगता है कि शुरू-शुरू में तो "खिड़की" भी इसलिए बनायी गयी कि चूल्हे का धुआं उसके रास्ते से निकले। यह अकारण ही नहीं कि चीनी भाषा में खिड़की के लिए जो चित्रलिपिक है, उसमें छिद्र का चिह्न भी शामिल है।

गरम देशों में आरंभ से ही तहखानेनुमा नहीं, बल्कि ज़मीन पर ही बनाये

गये आवासों की प्रधानता रही है। उष्ण कटिबंध की झोंपड़ियों की भी, वैज्ञानिकों के मत में, लंबी वंशावली है, जो ऊपर चर्चित पवन-ओट से आरंभ होती है।

शनैः-शनैः चूल्हा और शय्या आवास के दो प्रमुख तत्व बन गये। आवास में जो स्थान अपने प्रकार्यों में भिन्न थे, उन्हें इन प्रकार्यों का विशेषीकरण होने के साथ-साथ एक दूसरे से अलग किया जाने लगा। आवास के भागों के इस "पृथक्करण" की मंज़िलें मैक्सिको में मिले प्राचीन भवनों के अवशेषों में देखी जा सकती हैं। आरंभ में चटाइयों से पर्दा किया जाता था, फिर पशु-चर्मों और क़ालीनों का उपयोग होने लगा, अंततः लकड़ी और पत्थर के पार्टीशन बनने लगे। बस्तियों में सामुदायिक भवन भी बनाये जाने लगे— प्राचीन मैक्सिको में मंदिर और हम्माम ऐसे स्थान थे। लोग खाद्य-पदार्थों के भंडार बनाकर रखने लगे, तो आवासों में इनके लिए विशेष कोठरियां बनने लगीं। आवास का आकार भी बढ़ा। कुछ जनगण बहुमंजिले मकान बनाने लगे। उत्तरी अमरीका में वर्तमान कनाडा के भूभाग पर रहनेवाले रेड इंडियन तीन, चार
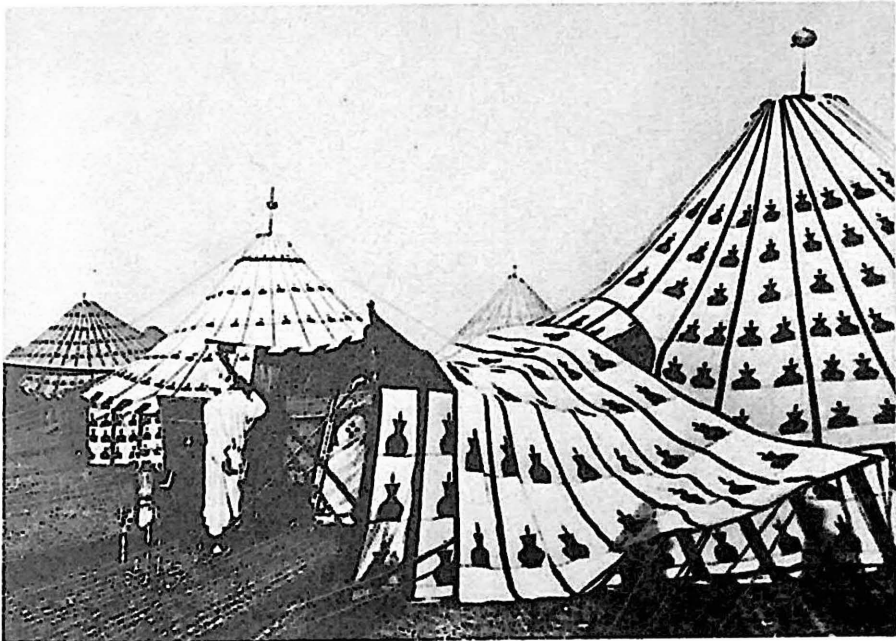
ख़ानाबदोश अरबों का ख़ेमा।

और पांच मंज़िलें तक मकान बनाने लगे। प्राचीन रोम में मंज़िलों की संख्या सात तक पहुंची थी।

प्राचीन मिस्र के पिरामिडों में, संभवतः, भव्य, विशाल भवनों के निर्माण की मानव की आकांक्षा अभिव्यक्त हुई है। मिस्रवासियों के लिए तो पिरामिड मक़बरा भी थे और आवास भी। मंदिर यदि देवालय थे, तो पिरामिड दिवंगतों का आवास। ऐसी धारणा प्राचीन मिस्रवासियों की ही नहीं थी, आधुनिक उक्राइनी भाषा में भी "ताबूत" और "घर" शब्द एक ही धातु के हैं।

आवास के निर्माण में हमारे पूर्वजों ने अच्छी आविष्कारशीलता का परिचय दिया। साइबेरिया के प्राचीन निवासी मैमथ के दांतों और ह्वेलों की पसलियों पर

रूसी काष्ठ-स्थापत्य का एक नमूना।

पशु-चर्म चढ़ाकर अपने लिए आवास वना लेते थे। अधिक समीप का काल लें, तो यायावरों के तंवू और मध्य एशिया के जनगण के मोटी दीवारोंवाले मिट्टी के मकान, जहां तेज़ से तेज़ गर्मी में भी ठंडक रहती है, इस बात के उदाहरण हैं कि किस प्रकार मनुष्य अपने आवास को प्राकृतिक परिस्थितियों और अपनी जीवनचर्या की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालता आया है। एस्कीमो लोगों के इग्लू का उल्लेख तो हम ऊपर कर ही चुके हैं। मेलानेशिया और माइक्रोनेशिया के लोगों के वल्लियों पर वने तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के जनगण के "तैरते" मकान (कश्मीरी शिकारा) भी इस वात का प्रमाण हैं कि अपने निवास-स्थल के प्राकृतिक परिवेश की विशिष्टताओं को ध्यान में रखने की कितनी योग्यता लोगों में है; "पानी पर वने मकान" यूरोप में भी हैं, विशेषतः, नीदरलैंड में। यहां की आवादी का काफ़ी वड़ा भाग ऐसे गृहों में रहता है। मोहनजोदड़ो की प्राचीन संस्कृति का अध्ययन कर रहे पुरातत्वविदों ने तो यह देखकर दांतों तले उंगली दबा ली कि वहां के मकानों में ताज़ी हवा के आने और मकानों को ठंडा रखने की कितनी उत्तम व्यवस्था थी। यहां मकान, संपन्न लोगों के मकान तो अवश्य ही, पकी ईंटों से वनाये जाते थे, वे खुले और आरामदेह होते थे, प्रायः सभी मकानों में शौचालय और स्नानागार थे।

प्रत्येक पीढ़ी अपने वंशजों के लिए भवन छोड़ जाती है, जो शतियों और सहस्राब्दियों तक अपने युग की भावना अपने में लिये रहते हैं। महान रूसी लेखक निकोलाई गोगोल ने स्थापत्य को वह इतिवृत्त कहा था, जो तव ध्वनित होता है, जव गीत और किंवदंतियां तक विस्मृति के गर्भ में समा चुके होते हैं।

भवनों की आयु उनके निर्माताओं की आयु से दसियों, सैकड़ों, हज़ारों वर्ष अधिक लंवी होती है और वे पीढ़ियों को जोड़नेवाली कड़ी वनते हैं।

भवनों में इस या उस युग में उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर प्रतिविंवित होता है। भवन हमें अपने युग की सामाजिक व्यवस्था की, तत्कालीन लोगों के व्यवसायों, आदतों, उनकी आस्थाओं और दृष्टिकोणों की गाथा सुना सकते हैं।

स्थापत्य अपनी भाषा में उस युग का विवरण पेश करता है, जिस युग में उसकी रचना हुई। प्रायः यह विवरण लिखित दस्तावेज़ों से अधिक पूर्ण और विस्तृत होता है।

प्राचीन यूनान और रोम के भवनों के अनुपातों में संसार का वह सामंजस्य-

एक आधुनिक नगर के पास का दृश्य (सोवियत संघ)।

पूर्ण चित्र प्रतिबिंबित हुआ है, जो उस युग के लोगों के मनोमस्तिष्क में बना हुआ था।

प्राचीन यूनानी दर्शन में मानव को ही "सभी वस्तुओं का मापदंड" घोषित किया गया। किंतु प्रोटागोरस द्वारा यह सिद्धांत निरूपित किये जाने से बहुत पहले ही यूनानी वास्तुकार ऐसे देवालय बनाने लगे थे, जो संसार के प्रति इस दृष्टिकोण को ही व्यक्त करते थे।

रूसी गिरजा भी मनुष्य का प्रतीकात्मक चित्र था – गिरजे का शीर्ष भी होता था और स्कंध भी।

सुविख्यात अमरीकी वास्तुकार फ़्रैंक लॉयड राइट के शब्दों में, आधुनिक स्थापत्य (वास्तुकला) सीधे ध्येय की ओर लक्षित शक्ति है। हमारे विचार में, किसी भी युग की सच्ची वास्तुकला के लिए यह बात सच है।

प्राचीन यूनानी, रोमन, भारतीय, रूसी स्थापत्य के अनमोल रत्नों को हम कभी आंख भर नहीं देख सकते। समसामयिक वास्तुकारों के उत्कृष्ट भवनों का

वर्णन करते हुए पृष्ठ के पृष्ठ रंगे जा सकते हैं।... लेकिन, आइये, ज़रा इस वात पर ग़ौर करें कि यह स्थापत्य, यह वास्तुकला है क्या?

इसकी संक्षिप्त परिभाषा यह हो सकती है: स्थापत्य दत्त समाज की तकनीकी संभावनाओं तथा इस समाज के सदस्यों के सौंदर्यबोध के अनुरूप भवनों का नक़्शा बनाने और उनका निर्माण करने की कला है।

यह वह कला है, जिसकी कृतियां मनुष्य की भौतिक और आत्मिक, दोनों प्रकार की बुनियादी आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष पूर्ति करती हैं। ये कृतियां अच्छी और वुरी, अत्युत्तम और निकृष्टतम हो सकती हैं।... आज प्राकृतिक परिवेश की बहुत बातें होती हैं। लेकिन अगर हम ज़रा ग़ौर से देखें, तो पायेंगे कि मनुष्य और वन्य प्रकृति के बीच वास्तु-परिवेश स्थित है, जिसने प्रकृति को भी अपनी परिधि में ले लिया है – उद्यान-वास्तुकला भी तो स्थापत्य का एक रूप है।

अधिकतर लोग वास्तु-परिवेश को ऐसे ही लेते हैं, जैसे कि वायु को – वायु से हम सांस लेते हैं, लेकिन कभी यह नहीं सोचते कि वायु का हमारे लिए क्या महत्व है।

स्थापत्य वह कला है, जो प्रत्यक्ष रूप से लोगों के जीवन को संचालित करती है। वहुमंज़िले मकान में हम सीढ़ी से एक मंजिल से दूसरी पर जाते हैं, यह सीढ़ी वहीं वनी होती है, जहां वास्तुकार ने उसके लिए स्थान निर्धारित किया; अपने फ़्लैट में हम वहीं पर खाना पकाते हैं, जहां वास्तुकार ने रसोईघर वनाया।...

स्थापत्य के सिद्धांतकार कहते हैं कि उसका कार्यभार जीवन-प्रक्रियाओं को पृथक करना और उनके बीच संवंध स्थापित करना है। कोई किताव अच्छी न लगे, तो उसे वंद करके एक ओर रखा जा सकता है, चित्रकला की कृति घटिया लगे, तो हम उसे नहीं देख सकते, फ़िल्म वेकार हो, तो शो के बीच में उठकर चले जा सकते हैं, लेकिन अपने वास्तु-परिवेश को छोड़कर हम नहीं जा सकते, वह हमें पसंद हो या न हो। मनोवैज्ञानिक तो यह भी कहते हैं कि समकोणिक मकानों में रहनेवाले लोगों का विश्वबोध उन लोगों के विश्वबोध से भिन्न होता है, जो परंपरागत रूप से गोलाकार आवास बनाते आये हैं।

वास्तुकारों के कंधों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है: उन्हें मानवजाति के प्रतिदिन, प्रतिक्षण के रहन-सहन के संचालन का काम सौंपा गया है।

वास्तुकला ने संसार के साथ क्या किया है? उसने इसमें आदर्श रेखाओं का समावेश किया है, अमूर्त ज्यामितीय आकृतियों को पत्थर, कंकरीट और कांच

की कृतियों में परिवर्तित किया है। प्रकृति में कही (शायद, क्रिस्टलों को छोड़कर) आपने शुद्ध पिरामिड, घन या समांतरषट्भुज देखा है?

आधुनिक स्थापत्य में तो कहीं अधिक जटिल आकृतियों का भी उपयोग होता है, जिनके, कुछ विरले अपवादों को छोड़कर, प्रकृति में कोई समरूप नहीं पाये जाते।

दिक् का संचालन करना तो वास्तुकला का "काम" ही है। लेकिन उसने काल को संचालित करना भी सीख लिया है। केवल इस अर्थ में ही नहीं कि भवनों की आयु उनके निर्माताओं की आयु से हज़ारों वर्ष अधिक होती है।

मानव ने प्रकृति में और स्वयं अपने कार्यकलाप में लयबद्धता का पता लगाया, यह पाया कि अनेक तत्वों का निश्चित काल में नियमबद्ध आवर्तन होता रहता है। लय और आवर्तन का यह ज्ञान संसार पर विजय पाने में मानवजाति के लिए बहुत सहायक रहा है। "लय", "आवर्तन" शब्द दिक्मूलक कलाओं के लिए भी प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि इनके अवबोध की प्रक्रिया काल में ही होती है। दिक्मूलक कलाएं स्थापत्य से ही आरंभ हुईं, स्थापत्य ने ही सबसे पहले दिक् को वशीभूत करके उसमें काल के लक्षणों का समावेश किया, काष्ठ और प्रस्तर को उसने जो रूप दिये, उनमें व्यवस्था और नियमसंगति मूर्तित की।

स्थापत्य में मानव, नियमतः, प्रकृति की अनुपूर्ति करता आया है, उसका अनुकरण नहीं। लेकिन क्या, सदा ही स्थापत्य यही पथ चुनेगा?

अमरीकी विज्ञान-साहित्य लेखक थियोडोर स्टार्जन ने क्सेनेडु नामक ऐसे ग्रह की कल्पना की है, जहां आदर्श समाज बना लिया गया है। यहां के आवास का वर्णन वह इन शब्दों में करते हैं:

"...वे पार्क आधा पार कर चुके थे, जब अंततः ब्रिल की समझ में आया कि यही बोनायन का आवास है। कोई दीवारें, कोई सीमाएं नहीं दीख पड़ती थीं। कहीं मकान ऊंचा उठ जाता है और कहीं यह दो क्यारियों के बीच छोटा-सा मैदान ही है; वहां कमरा खुला बरामदा बन गया है और यहां लॉन ही क़ालीन है; इसके ऊपर तो छत भी है। मकान कमरों में इतना नहीं बंटा हुआ, जितना कि खुले विस्तारों में—कहीं बग़ीचे के खुले जंगले जैसा कुछ है और कहीं केवल रंगों के परिवर्तन से यह विभाजन हुआ है। कहीं कोई दीवार नहीं है। आदमी कहीं छिप नहीं सकता, दुबक नहीं सकता, ताला बंद करके नहीं बैठ सकता। चारों ओर का सारा इलाक़ा, सारा आकाश इस आवास में

निर्वाध झांकते हैं और यह सारा आवास ही संसार को देखने की एक विशाल खिड़की है।"

दूसरे विज्ञान-साहित्य लेखक दूसरे ग्रहों पर बिल्कुल दूसरे ही ढंग के आवासों की कल्पना करते हैं। स्थापत्य के भविष्य के अपने इन अनुमानों में कौन सही सिद्ध होगा?

लेखकों के इस विवाद के निर्णायक, शायद, हमारी शती के प्रमुख वास्तुकार ही हो सकते हैं। तो देखिये फ़्रैंक लॉयड राइट का मत: यदि दूसरे जगतों में भी स्थापत्य है, तो वह उन्हीं नियमों द्वारा शासित है, जिनसे पृथ्वी पर वास्तुकला शासित है।

२०वीं शती में ऐसे भवन भी बनाये गये हैं, जो चट्टानों और वृक्षों के विचित्र रूपों की याद दिलाते हैं। ये भवन भी अपने ढंग से सुंदर हैं, मौलिक और असाधारण हैं। आधुनिक प्रविधि और नयी निर्माण सामग्रियों ने वास्तुकला की संभावनाएं बहुत व्यापक बनायी हैं, उसके लिए वे मार्ग प्रशस्त किये हैं, जिन पर पहले वह नहीं बढ़ सकती थी। इनमें से किन-किन का उपयोग भविष्य में होगा?

सही-सही कहा जाये तो गिरजे और पिरामिड, संग्रहालय और संस्कृति प्रासाद, मक़बरे और थियेटरों के भवन — ये सब आवास नहीं हैं। उनके प्रकार्य वे नहीं जो आवासों के हैं, तथा कार्यभार भी भिन्न हैं। लेकिन सामुदायिक भवन आवासों से ही विकसित हुए हैं; उधर, स्थापत्य और भवन-निर्माण की नयी युक्तियों को इन भवनों पर ही परखने के पश्चात गृह-निर्माण में उनका उपयोग होता आया है।

आदिम गोत्र-समाजों की बस्तियों में भी सामुदायिक भवन बनाये जाते थे — ग्रीनलैंड में हिम से और ओशियाना में ताड़ के पत्तों से।

यह अध्याय हमने संस्कृति के रक्षात्मक प्रकार्य से आरंभ किया और वास्तुकला की चर्चा पर पहुंच गये। यह बिल्कुल तर्कसंगत बात है। संस्कृति में सब कुछ परस्पर संबंधित है। थियेटरों, संग्रहालयों और क्रीड़ा प्रासादों की छतें और दीवारें आंधी-पानी से लोगों की रक्षा करती हैं तथा साथ ही दैनिक जीवन से उन्हें पृथक करती हैं, उन्हें कला या क्रीड़ा में रमने का अवसर देती हैं। दूसरी ओर, वास्तुकला की ये कृतियां दैनंदिन जीवन की इस सामान्यता को परिवर्तित करती हैं, उसकी अनुपूरक होती हैं, उसे शोभामय बनाती हैं।

...गृह का प्राकृतिक परिवेश के साथ घनिष्ठतम संबंध होता है और उसके माध्यम से ही यह परिवेश रहन-सहन पर मुख्यतः प्रभाव डालता है। लोगों के दैनिक जीवन की विशिष्टताओं में ही नहीं, उनकी बातचीत और मानसिकता में भी स्थापत्य के विशिष्ट लक्षण किस प्रकार प्रतिबिंबित होते हैं—यह अनेक वैज्ञानिक ग्रंथों का विषय हो सकता है। हम यहां केवल एक उदाहरण लेंगे। इसमें आप देखेंगे कि किसं प्रकार कार्य-कारण संबंधों की एक पूरी शृंखला जापान की भौगोलिक संरचना की विशिष्टता को परंपरागत जापानी गृहों के ज़रिये जापानी लोगों की बातचीत की एक खूबी से जोड़ती है। यहां किसी भी क्षण भूकंप आने का खतरा बना रहता था, इसीलिए यहां सदा हलके-फुलके मकान बनाये जाते थे, इनमें गत्ते या बांस की दीवारें होती थीं, जिन्हें समेटा और फैलाया जा सकता था। मकानों में कमरे, नियमतः, छोटे-छोटे होते थे। ऐसे मकान के एक कोने में कही गयी बात दूसरे कोने में भी खूब अच्छी तरह सुनायी देती थी। जापानियों के परंपरागत मकान में रहनेवालों की संख्या काफ़ी अधिक होती थी (शायद, इसलिए भी कि मकान बड़ी आसानी से ढह सकते थे, सो बड़े मकान बनाने में कोई तुक नहीं थी)। ऐसी घिचपिच में रहने के कारण परिवार का कोई भी सदस्य अधिक देर तक एकांत नहीं पा सकता था। हर किसी को यह याद रखना होता था कि उसकी बात केवल वही लोग नहीं सुनते, जिनके लिए कोई बात कही गयी है। इसका परिणाम यह हुआ कि यहां अपने विचार व्यक्त करने का एक विशेष ढंग विकसित हुआ, जिसे जापानी भाषा में हारागे (शब्दशः, उदर-वार्ता) कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, घुमा-फिराकर बात कहने का, अन्योक्ति का व्यापक प्रचलन हुआ।

...आवास की चर्चा करते हुए हमें यह भी नहीं भुलाना चाहिए कि आज, २०वीं शती में, संसार में लाखों लोग के पास आवास है ही नहीं। किसी भी तरह का, कोई आवास नहीं है।...

बस्ती

मनुष्य ने जब स्थावर जीवन आरंभ किया, तभी पहली बस्तियां बनीं। ऐसा आज से दसियों हज़ार साल पहले उन इलाक़ों में हुआ, जहां हस्तगतकरण पर आधारित जीवनयापन का पर्याप्त विकास हो चुका था। हिंसक जंतुओं से रक्षा के

लिए बस्तियों के चारों ओर वाड़ वनायी जाती थी, और जव युद्ध भी लोगों के जीवन का अंश वन गये, तो इस बाड़ ने मज़वूत और ऊंचे परकोटे का रूप ले लिया, जो बस्ती के निवासियों की शत्रुओं से रक्षा कर सकता था।

वर्तमान उक्राइना, मोल्दाविया और रूमानिया के भूक्षेत्र पर लगभग पांच हज़ार साल पहले अस्तित्वमान रही त्रिपोल्ये संस्कृति की वस्तियों को देखें। एक-एक वस्ती का क्षेत्रफल दसियों हैक्टर होता था और उसमें तीस-चालीस हज़ार लोग रहते थे। ये वस्तियां अंडाकार होती थीं, प्रत्यक्षतः, निर्माण कार्य करते समय ही ऐसा आकार तय कर लिया जाता था। वस्तियां एक-दूसरी से १२-१५ किलोमीटर की दूरी पर होती थीं। इनमें रहनेवाले लोग खेतीवारी करते थे, इसलिए उन्हें बड़ी मात्रा में कृषियोग्य भूमि की आवश्यकता होती थी। दो-तीन पीढ़ियां एक ही स्थान पर रहती थीं। लेकिन धरती की उर्वरता मिटने के साथ ही लोग नये स्थान पर चले जाते थे, वहां जंगल काटते और अंशतः जलाते थे। इस प्रकार वन से उन्हें नयी विशाल बस्ती के निर्माण के लिए सामग्री तथा राख के रूप में ज़मीन के लिए खाद मिलती थी।

स्कॉटलैंड के पास ऑर्कने द्वीपसमूह पर ऐसी वस्ती मिली है, जो पूरी तरह पत्थर की वनी हुई है: मकानों की दीवारें और बस्ती का परकोटा, मकानों को एक दूसरे से जोड़नेवाले गलियारे, सोने के स्थान, मेज़ें, शेल्फ़ें, संदूक और भंडार-घर – सभी कुछ पत्थर का बना हुआ है। ... इन द्वीपों की जलवायु ठंडी है, यहां पेड़ नहीं उगते। लोग यहां भेड़ें पालते थे, जिनसे मांस, ऊन और खालें पाते थे। ऐसी वस्ती में कुछ सौ लोग ही रहते थे। ऐसे में भी लोग अपने जीवन की काम-चलाऊ ही नहीं, वल्कि कुछ हद तक आरामदेह परिस्थितियां वनाने में सफल रहे।

समाज का वर्गीय विभेदीकरण ज्यों-ज्यों अधिक गहरा होता गया, त्यों-त्यों क़बीलों के वीच अधिक युद्ध भड़कने लगे, और तव कुछ ग्रामीण वस्तियां नगर वन गयीं। ये सामान्यतः क़िलाबंद नगर होते थे। आज हम जिन प्राचीनतम नगरों के वारे में जानते हैं, उनमें एक वर्तमान फ़िलिस्तीन के इलाक़े में था। जेरिको नाम का यह नगर आज से दस हज़ार साल पहले वना। सोवियत वास्तुकार व० ग्लाज़िचेव इसका वर्णन इन शब्दों में करते हैं:

"इसके चारों ओर २ मीटर से भी अधिक चौड़ा पत्थर का परकोटा था और एक गढ़, या दुर्ग, जिसका वुर्ज कम से कम दस मीटर ऊंचा रहा होगा – इसका वचा हुआ भाग ही आठ मीटर ऊंचा है। इस नगर में धूप में सुखायी

ईंटों से बने मकान थे, जो अपने विन्यास में अंडाकार थे। यहां एक देवालय भी था, और उसमें था काष्ठ का द्वार-मंडप। इससे पता चलता है कि वह द्वार-मंडप, जो बाह्य से अंत:स्थल में, सांसारिक से पावन-स्थल में प्रवेश के प्रतीक के नाते दस हज़ार वर्ष तक स्थापत्य में प्रचलित रहा, वह द्वार-मंडप उस काल में ही बनाया जा चुका था।"

प्राचीन भारत के अब मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के नाम से ज्ञात नगरों में से प्रत्येक का क्षेत्रफल कम से कम २६० हैक्टर था। यहां कुछ सड़कें पूरब से पश्चिम दिशा को एक दूसरी के समानांतर बनायी गयी थीं, जबकि कुछ सड़कें उत्तर से दक्षिण को जाती थीं। ऐसा विन्यास मात्र संयोग नहीं था– इस प्रकार नगर में सदा ताज़ी हवा आने का प्राकृतिक प्रबंध किया गया था, क्योंकि यहां मुख्यत: उत्तरी और दक्षिणी हवाएं चलती हैं। सड़कें खुली और चौड़ी थीं–कुछ सड़कें तो दस मीटर तक चौड़ी थीं।

गरम जलवायु में नगर में स्वच्छता का ध्यान रखना नितांत महत्वपूर्ण है। पुरातत्वविद इस बात में एकमत हैं कि नालियों की आद्यभारतीय प्रणाली प्राचीन युग की अब तक ज्ञात सभी सेनिटरी व्यवस्थाओं में सर्वश्रेष्ठ है।

प्रत्येक सड़क के नीचे ईंटों से बनी बड़ी नाली थी, जिससे मकानों से आती छोटी नालियां जुड़ी हुई थीं। मकानों में कूड़ा-करकट पेटियां और शौचालय भी थे। इस बात की भी व्यवस्था थी कि बारिश का पानी नगर की सड़कों पर रुका न रहे। हम्माम और स्नानागार इन नगरों के स्वच्छता-प्रबंध का चित्र पूरा करते हैं।

प्राचीन नगरों में परकोटा न होने पर भी वे मनुष्य की केवल प्राकृतिक शक्तियों से ही रक्षा नहीं करते थे। वे एक समुदाय के लोगों को दूसरे शत्रु समुदायों के खतरे से बचाते थे तथा समाज के शासक वर्ग की नगर के आस-पास की ज़मीन पर खेती करनेवाले उन किसानों के आक्रोश से रक्षा करते थे, जिनका यह वर्ग शोषण करता था और जिनका आक्रोश किसी भी क्षण भड़क सकता था।

अंग्रेज़ी का एक मुहावरा है: मेरा घर मेरा क़िला है। बेशक, इसे लाक्षणिक अर्थ में ही लिया जाना चाहिए। लेकिन इतिहास में सचमुच के क़िलेनुमा घरों के उदाहरण मिलते हैं, ऐसे घरों के, जिनमें रहनेवाले शत्रु द्वारा घेरा डाल देने पर भी लंबे समय तक उसका मुक़ाबला कर सकते थे। यह बात मध्ययुगीन दुर्गों

पर ही लागू नहीं होती। काकेशिया के स्वानेतिया क्षेत्र में सदियों तक ऊंचे बुर्ज की आकृति के मकान बनाये जाते रहे, इनकी ऊपरी मंज़िलों पर ही लोग रहते थे। मकान को छोटा-मोटा क़िला उन इलाक़ों में ही बनाया जाता था, जहां लोग इकट्ठे एक स्थान पर नहीं बस सकते थे और हमले का ख़तरा दिन-रात रहता था। ज़रूरी नहीं था कि यह ख़तरा विदेशी आक्रामकों का ही हो, यह गोत्रीय अथवा सामंती वैमनस्य का, जन-विद्रोहों का परिणाम भी हो सकता था।

मेसोपोटामिया और एशिया माइनर में, मध्य अमरीका और उत्तरी यूरोप में, दक्षिणी अफ़्रीका और माइक्रोनेशिया में, भारत और चीन में – संक्षेप में यह कि जहां-जहां मानव बसा, सर्वत्र ही पुरातत्वविदों को परकोटों के अवशेष मिले हैं। लेकिन इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, आश्चर्य तो तब होगा, जब उन्हें किसी ऐसी प्राचीन बस्ती के अवशेष मिल जायें, जिसमें संभाव्य बाह्य हमलों से बचाव की कोई व्यवस्था न हो।

वैसे, यह भी नहीं सोचना चाहिए कि सभी नगर दुर्ग ही थे। न ही सभी दुर्ग नगर थे। इनमें से कुछ में तो वस्तुतः सैनिक ही बसे होते थे, वे वहां अपने परिवारों के साथ रहते थे।

प्रायः नगर के भीतर एक और दुर्ग बनाया जाता था – क़िले के अंदर क़िला। यह नगर की पहली रक्षा-पंक्ति तोड़कर अंदर घुस आये बाहरी शत्रुओं से बचने के लिए नगरवासियों का अंतिम शरण-स्थल होता था। नगर की निचली श्रेणियों के विद्रोह के समय अभिजात वर्ग भी इस भीतरी दुर्ग में शरण लेता था। कहीं-कहीं नगर की रक्षा-व्यवस्था में, एक ओर, अभिजात वर्ग तथा, दूसरी ओर, नगर के सामान्य जन के बीच अंतर्विरोध प्रतिबिंबित होता है। उदाहरणतः, पुराने ताल्लिन नगर में भीतरी दुर्ग – वीशगोरोद – तथा नगर के शेष भाग के बीच मज़बूत परकोटा है।

विशाल राज्यों के क्षेत्र तक की रक्षा के लिए काफ़ी सोच-समझकर क़िलों का पूरा जाल बिछाया जाता था। १६वीं और १७वीं शतियों में रूस की पश्चिमी और दक्षिणी सीमा पर क़िलों का ऐसा जाल बिछा हुआ था।

परंतु, आइये, एक सामाजिक परिघटना के नाते नगर के इतिहास पर लौटें।

अपने आविर्भाव के साथ ही नगर अनेक सामाजिक प्रक्रियाओं में प्रमुख भूमिका अदा करने लगता है। यहां उत्पादक शक्तियों का विकास सबसे अधिक

तेज़ी से होता है, शिल्प और कला की उन्नति होती है, राजनीतिक जीवन भी नगर में ही केंद्रित होता है।

प्राचीन बाबुल (बेबिलोनिया) में लिपिबद्ध की गयी गिलगमेश कथा में, जिसपर पूर्ववर्ती सुमेरियाई संस्कृति की सुस्पष्ट छाप है, नगर जीवन का अभिराम वर्णन किया गया है। ध्यान रहे कि इस महाकाव्य में वर्णित नगरों में, प्रत्यक्षतः, तीन से पांच हज़ार तक लोग ही रहते थे।

नगर वे केंद्र थे, जहां संस्कृति में नये प्रभावों का समावेश होता था, उसका मुकुलन होता था। नगर स्थापत्य और वस्त्रों की शैली निर्धारित करते थे। लकड़ी का पांच दीवारोंवाला ठेठ रूसी देहाती मकान रूसी नगर की ही देन है, ऐसे मकान की वाहरी दीवारों पर खिड़कियों के चारों ओर जड़े जानेवाले चौ-खटे पर नक़्क़ाशी करने की प्रथा भी नगरों से ही चली। काफ़्तान और सराफ़ान जैसे रूसी वस्त्रों का भी पहले-पहल नगरों में ही प्रचलन हुआ और फिर वे ग्रामीण परिधान का अभिन्न अंश बने।

मानव-समाज के सारे इतिहास में नगर की भूमिका निरंतर वढ़ती आयी है। औद्योगिक पूंजीवादी युग के पदार्पण के साथ वह विशेषतः विशाल हो गयी। रूसी कवि वलेरी ब्रूसोव ने अपने समकालीन नगर का चित्रण इन शब्दों में किया :

ज़मीन पर फैला राज तेरा,
आसमानं को वींधती रोशनियां तेरी,
ऊंची काली चिमनियां खड़ी हैं,
बनकर तेरा अडिग प्रहरी।
फ़ौलाद, ईंट और कांच से वना,
तारों के कवच में तू कसा।
तुझमें है सम्मोहन अपार,
तू है एक चुंवक विशाल।

२०वीं शती के आरंभ में, जव ब्रूसोव ने ये पंक्तियां लिखी थीं, विकसित औद्योगिक देशों में ही नगर तेज़ी से वढ़ रहे थे, किंतु आज यह प्रक्रिया विकास-शील देशों में भी व्याप्त हो गयी है। अफ़्रीका महाद्वीप को लें, पिछले दशक में

यहां जनसंख्या में प्रतिवर्ष ५.१ प्रतिशत की वृद्धि हुई, जबकि नगरों की आवादी १० प्रतिशत वढ़ी।

वात केवल यही नहीं है कि आज संसार की आधी आवादी नगरों में बसी हुई है और शीघ्र ही इससे भी अधिक बड़ा भाग यहां रहेगा। पिछली सहस्राब्दियों में भी देहात पर नगर का प्रभाव पड़ता आया है, किंतु आज यह सदा से अधिक प्रवल है। नगर में वनी जीवन-पद्धति और उससे जुड़ी मूल्य-प्रणाली प्रायः सारे संसार में कृषकों के रहन-सहन में निरंतर अधिक गहरी पैठती जा रही है।

संसार का यह नगरीकरण अपने साथ क्या लायेगा? क्या इसका परिणाम यह होगा कि देहातों का अस्तित्व ही मिट जायेगा, केवल छोटे-वड़े नगर शेष रहेंगे? वहुत-सी वातें इस अनुमान के पक्ष में हैं, किंतु वहुत-सी वातें इसके विरुद्ध भी हैं। यही नहीं, कुछ देशों में समाजविज्ञानी इस बात के लक्षण देख रहे हैं कि बड़े नगरों की जनसंख्या घट रही है। वहरहाल, हम यहां भविष्यवाणियां नहीं करना चाहते।

वस्त्र

नाइस में हुई खुदाई में, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं, पुरातत्वविदों को प्राचीन युग के लोगों के वस्त्रों के अवशेष मिले हैं। अस्थायी झोंपड़ियों के निवासी खालें बिछाकर अलाव के पास वैठते थे और सोते समय खालें ओढ़ते थे। संभवतः, ठंडे मौसम में वे यही खालें कंधों पर डाल लेते और कमर पर वांध लेते थे। यहां गेरू के ढेले भी मिले हैं। हो सकता है कि लोग किसी टोने-टोटके के तौर पर या फिर टोने-टोटके के साथ-साथ अलंकरण के लिए भी अपने शरीर को गेरू से रंगते रहे हों। लेकिन अधिक संभावना इस वात की है कि लोग किसी हद तक ठंड तथा कीड़े-मकोड़ों के दंश से वचने के लिए ही सिर से पांव तक गेरू का लेप करते थे। अभी तक कुछ अफ़्रीकी और रेड इंडियन क़बीलों में ऐसा ही किया जाता है। शायद, रंग का लेप ही मनुष्य का पहला "परिधान" था। उन क़बीलों को, जो उत्तर को चले गये या जिन्हें अधिक शक्तिशाली पड़ोसियों ने उत्तर को खदेड़ दिया, जानवरों की खालों को अपने कंधों पर टिकाना और कमर पर वांधना सीखने के लिए कोई विशेष विदग्धता

दिखाने की आवश्यकता नहीं थी। पेड़ों की छाल से वनी या घास-फूस के बुनी स्कर्ट, धोती, आदि का तब तक लोग इस्तेमाल करने ही लगे थे, आखिर, गरम जलवायु में भी उन्हें अपनी त्वचा की रक्षा करनी ही होती थी—अलाव से उड़ती चिनगारियों, आदि से। वस्त्र धारण करने का कारण लोगों में लाज-लज्जा का भाव शायद ही रहा हो, हां, गरम देशों में परिधान के इतिहास में यौन-वर्जनाओं की कुछ भूमिका अवश्य रही होगी, जिनका गोत्र समाज में सख्ती से पालन होता था।

वस्त्रों का इतिहास इस वात का जीता-जागता प्रमाण है कि प्रकृति हमारे सम्मुख जो एकसमान कार्यभार प्रस्तुत करती है, उन्हें कितने नाना उपायों से पूरा किया जा सकता है।

१२वीं शती के किसानों की वेशभूषा का वर्णन देखिये, जो वाल्टर स्कॉट ने अपने उपन्यास 'आइवनहो' में दिया है:

"वेशभूषा के नाम पर चमड़े का एक कोट था, जो किसी जानवर की कमायी हुई खाल से बनाया गया था। इसका बाहर को रखा गया फ़र समय के साथ इतना घिस गया था कि उसके बचे-खुचे गुच्छों को देखकर यह कहना मुश्किल था कि खाल किस जानवर की रही होगी। यह आदिम परिधान अपने स्वामी के शरीर को गर्दन से घुटनों तक ढंके हुए था और उसके लिए मानव वेशभूषा के सभी अंशों का काम देता था।... कोट शरीर से अच्छी तरह सटा रहे, इसके लिए कमर पर तांबे के बक्कलवाला चौड़ा पट्टा कसा हुआ था।"

यूरोप में काफ़ी लंबे समय तक पुरुष स्कर्ट पहनते रहे थे। ६वीं – ११वीं शतियों में तो पश्चिमी यूरोप के कुछ देशों में किसानों को पतलून पहनने की मनाही थी, इसे केवल अभिजातों का पहनावा माना जाता था।

पतलून का मूल बहुत देर तक नृजातिविज्ञानियों के लिए रहस्य बना रहा था। यह माना जाता था कि इसकी "खोज" यायावर क़बीलों ने की, जिन्होंने

सोवियत संघ के जनगण के जातीय परिधान।

सबसे पहले घोड़े को पालतू बनाया और घुड़सवारी करने लगे। पतलून टांगों की त्वचा को रगड़ लगने से बचाती थी। किंतु प्राचीन रूसी नगर व्लादीमिर में हुए उत्खनन में भी पुरातत्वविदों को ऐसे लोगों के अवशेष मिले, जो पतलून पहनते थे। ये अवशेष बीस हज़ार साल पहले यहां रह रहे लोगों के थे, अर्थात उस काल के, जब घोड़े को पालतू नहीं बनाया गया था। उनकी पतलूनें फ़र की थीं – इनके अवशेषों से ही पता चलता है कि ये काफ़ी आरामदेह रही होंगी। ये हमारे समसामयिक एस्कीमो लोगों के पहनावे की पतलून से काफ़ी मिलती-जुलती हैं।

अब तो इस वस्त्र को इतिहासकार और पुरातत्वविद पैंतीस-अड़तीस हज़ार साल पुराना मानते हैं। आधुनिक धारणाओं के अनुसार, विवेकसंपन्न मानव (होमो सेपिएन्स) की उत्पत्ति इससे कोई बहुत अधिक पहले नहीं हुई (केवल चालीस-पचास हज़ार साल पहले), सो बहुत संभव है कि आधुनिक प्ररूप के मानव के जो दल यूरोप एवं एशिया के उत्तर में महा हिमनद के समीप कठोर जलवायु में रहते थे, उन्होंने आरंभ से ही फ़र के वस्त्र, विशेषतः पतलून, सीना और पहनना सीख लिया था। अपेक्षाकृत गरम इलाक़ों में रहनेवाले लोगों के यहां यह वस्त्र, प्रत्यक्षतः, तभी बना, जब घोड़े को पालतू बना लिया गया और मनुष्य ने घुड़सवारी सीख ली।

पृथ्वी के भूवैज्ञानिक इतिहास में हिम-युग आरंभ होने से पहले लोगों का "परिधान" क्या था, इसका अनुमान हम अफ़्रीका, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमरीका के सर्वाधिक पिछड़े क़बीलों की वेशभूषा का अध्ययन करके लगा सकते हैं। इनमें से कुछ क़बीलों में पुरुष या स्त्रियां, या दोनों ही वस्त्र धारण नहीं करते, किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसे क़बीले ज्ञात हैं, जिनकी कोई "वेश-भूषा" ही नहीं रही। नृजातिवर्णन में "वेशभूषा" शब्द का जो अर्थ माना जाता है, उसके अनुसार, इसमें वस्त्र, जूते और शिरोवस्त्र ही नहीं, सभी तरह के आभूषण, केशसज्जा और गोदना तक शामिल हैं।

बहरहाल, सच्चे अर्थ में पहला वस्त्र कमर पर बांधे जानेवाले वस्त्र – धोती, लुंगी, आदि – को ही माना जा सकता है। कंधे पर डाला जानेवाला फ़र का खुला लबादा भी बहुत पुराना पहनावा है। आग्नेय भूमि (टियेरा देल फुआगो) द्वीपसमूह के रेड इंडियन ऐसा पहनावा पहनते थे। यूरोप और एशिया के उत्तरी भाग के निवासियों ने इस लबादे को फ़र के कोट का रूप दिया। संसार के

भारतीय नारियों का सुंदर पहनावा।

दूसरे भागों में लोगों ने अनेक प्रकार के पहनावे आज़माये।

नृजातिविज्ञानी सभी वस्त्रों को दो भागों में बांटते हैं – सिले हुए और अन-सिले वस्त्र। वे वस्त्र, जिन्हें बनाते समय कपड़े के अलग-अलग टुकड़े या एक ही कपड़े के सिरे सूई-धागे की मदद से मज़बूती से जोड़ दिये जाते हैं, तथा वे वस्त्र, जो उन्हें पहननेवाले के शरीर पर इसलिए टिके रहते हैं कि वह उन्हें धारण करना जानता है, कभी उन्हें थामे रहता है या फिर बकसुए, आदि से उनके सिरों को जोड़ लेता है।

सिले हुए वस्त्र भी खुले और बंद होते हैं। एस्कीमो लोग अपना हुडवाला बंद कोट सिर में से पहनते और उतारते हैं, जबकि ताइगा वन के पैदल शिकारी – एवेंक जाति के लोग – खुला कोट पहनते हैं। परिधान का एक और प्राचीनतम रूप है खुला चोग़ा, जिसके ऊपर कमर पर पटका बांधा जाता है। ऐसे चोग़े मध्य, केंद्रीय, पूर्वी और अंशतः दक्षिण-पूर्वी एशिया में प्रमुख पहनावा रहे हैं, जो अनेक परिवर्तनों के बावजूद मूलतः अब तक बना हुआ है।

प्राचीन यूनान और रोम के निवासी ट्यूनिक पहनते थे, जो लंबा और खुला कुरता ही था। प्राचीन रोमवासी टोगा भी पहनते थे – यह लंबी चादर थी, जिसे वे बड़े सुंदर ढंग से लपेटते थे। टोगा, मुख्यतः, उत्सवों-पर्वों पर पहना जाता था। यह बड़ा भव्य परिधान था।

अनेक वस्त्रों का वह योग , जिसे आधुनिक वेशभूषा कहा जाता है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, काफ़ी तेज़ी से बदलता रहता है। इन परिवर्तनों के अनेक कारण हो सकते हैं, जिनमें सामाजिक कारण भी आते हैं।

सांस्कृतिक परिघटनाओं की (वेशभूषा भी ऐसी ही एक परिघटना है) "सामाजिक सोपानक्रम" में गति का बड़ा रोचक और लाक्षणिक चित्र सोवियत नृजातिविज्ञानी स० अ० अरुत्यूनोव ने प्रस्तुत किया है:

"किसी ज़माने में जापानी किसान 'तातामी' चटाइयां कच्चे या लकड़ी के फ़र्श पर बिछाते थे और उन्हीं पर बैठते व सोते थे। तब किसान काठ की पादुकाएं 'गैता' पहनते थे, जो दलदली जगहों पर चलने के काम आती थीं। ...

"सामंतों के रहन-सहन में इन वस्तुओं का कायाकल्प हुआ: अधिक घनी और मज़बूत, किनारों पर बेलबूटेदार कपड़े से सिली 'तातामी' चटाइयां अब घर के पूरे फ़र्श पर बिछायी जाने लगीं। थोड़े परिवर्तित रूप में 'गैता' पादुकाएं

सामंत का बाहर पहनकर जाने का जूता बन गयीं – इन ऊंची पादुकाओं से क़द बढ़ता था और ठवन में अधिक भव्यता आती थी।"

कालांतर में नगरवासी और फिर किसान भी अभिजातों का अनुकरण करने लगे – "गैता" धीरे-धीरे सभी लोगों की आम पादुकाएं बन गयीं और किसान "तातामी" सारे फ़र्श पर बिछाने लगे। ...

१९वीं–२०वीं शतियों में यूरोपीय पहनावा भी "ऊपर से नीचे" अभिजातों और संपन्न लोगों के रहन-सहन से आम लोगों के रहन-सहन में फैला।

ऐसी प्रक्रियाएं सारे संसार में होती आयी हैं और हो रही हैं। जन-संस्कृति का कोई लक्षण ग्रहण करके शोषक समाज का अभिजात वर्ग – दासस्वामी, सामंत, बुर्जुआ – उसे अपनी प्रतिष्ठा का चिह्न बनाता है और इस तरह उसके प्रसार में सहायक होता है। सार्विक बनकर यह लक्षण नृजातीय परंपरा का अंश, सारे राष्ट्र के रहन-सहन की विशिष्टता बन जाता है।

१९वीं शती के अंत और २०वीं शती के आरंभ में एशिया और अफ़्रीका में प्राय: सर्वत्र ही यूरोपीय पहनावा उच्च सामाजिक स्थिति का प्रतीक माना जाता था (और ऐसा था भी)। यह बात इसके व्यापक प्रसार में सहायक हुई। अब, उलटे, परंपरागत परिधान का फ़ैशन हो रहा है, अंशत: इसलिए भी कि वह महंगा पड़ता है और सभी लोग उसे धारण नहीं करते। यह देखा गया है कि जब पूरा समाज किसी फ़ैशन को अपना लेता है, तो यह उसके अंत का, या कम से कम इस बात का सूचक होता है कि वह अब प्रतिष्ठा का चिह्न नहीं रहा।

परंपरागत परिधान उसके धारक के बारे में बहुत-सी बातें कहता है। आज भी भारत, बर्मा, थाईलैंड, लाओस तथा कुछ अन्य देशों के बहुत-से इलाक़ों में जानकार लोग पहनावा देखकर यह बता सकते हैं कि अमुक युवती, या अमुक पुरुष किस स्थान का रहनेवाला है।

आजकल सोवियत संघ में, यूरोप और अमरीका में वस्त्र देखकर यह कहना प्राय: असंभव है कि कोई व्यक्ति कहां का रहनेवाला है।

फ़िलहाल तो स्त्री-पुरुष असंयोज्य का संयोजन करने के प्रयासों में लगे हुए हैं – वे यह भी चाहते हैं कि उनका पहनावा मौलिक हो और साथ ही सबके जैसा भी।

फ़ैशन और फ़ैशनपरस्तों का लोग प्राय: मज़ाक़ उड़ाते हैं। लेकिन फ़ैशन

हज़ारों वर्षों से चली आ रही चीज़ है और इसे गंभीरता से लिया जाना चाहिए। जब तक मानवजाति बनी रहेगी, तब तक फ़ैशन भी बना ही रहेगा। कतिपय अफ़्रीकी क़बीलों में एप्रन कभी लंबा, तो कभी छोटा होता रहा था, यह परिवर्तन जिन नियमों के अनुसार होता था, वे बहुत हद तक उन नियमों की याद दिलाते हैं, जिनके अनुसार हमारे ज़माने में पश्चिमी देशों में महिलाओं की स्कर्टों की लंबाई में घटती-बढ़ती है।

पश्चिमी फ़ैशन में बढ़ता सनकीपन, कुछ विशेषज्ञों के मत में, पूरी पश्चिमी संस्कृति के विकास में दिशाबोध न रहने को ही प्रतिबिंबित करता है। संस्कृति के इतने विशिष्ट, आंशिक पहलू से संबंधित तथ्यों के आधार पर ऐसा दृढ़ निष्कर्ष निकालना कहां तक उचित है? ऐसे निष्कर्ष के लिए कुछ न कुछ आधार तो अवश्य है। आखिर, संस्कृति एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके सभी अंश, सभी घटक एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

इतिहास में हम इस बात के अनेक उदाहरण पायेंगे कि संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में शैलियां किस हद तक परस्पर संबंधित होती हैं और अंततोगत्वा ऐतिहासिक कारण द्वारा निर्धारित होती हैं। बहुत पहले ही विशेषज्ञों ने प्राचीन यूनानी ट्यूनिक की तथा उसी काल के भवनों में डोरिक स्तंभों की रेखाओं के बीच साम्यता इंगित की है।

यूरोपीय स्थापत्य में जब नुकीले संकरे बुर्जों और बुर्जियोंवाली गोथिक शैली ने अपना प्रभुत्व जमा लिया, तो वेशभूषा भी इस शैली से अछूती न रही। महिलाएं ऊंचे, नुकीले शिरोवस्त्र धारण करने लगीं, उनके फ़ाकों की नुकीली आस्तीनों की लंबाई कल्पनातीत थी। पुरुषों की ही भांति वे भी पैनी तथा प्रायः अत्यधिक लंबी नोकवाली जूतियां पहनती थीं।

हमारे अधिक समीप के ऐतिहासिक काल का एक उदाहरण देखिये। इस शती के पांचवें दशक के आरंभ में महिलाओं के वस्त्रों के फ़ैशन पर सैनिक वर्दी की सुस्पष्ट छाप पड़ी। सीधी स्कर्ट, फ़ौजी जैकट जैसी चोली, एकदम सीधी, स्पष्ट रेखाएं।

आज भी जीवन की सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन से फ़ैशन प्रभावित होता है।

आठवें दशक के आरंभ में, जब अमरीका की स्थानीय युद्धों की नीति अपने पूरे ज़ोरों पर थी, उन दिनों पश्चिम में महिलाओं के वस्त्रों में फिर से सैनिक

छाप दिखायी देने लगी, वह शैली विकसित हुई, जिसका नाम 'मिलिट्री लुक' पड़ा। फ़ौजी ढंग की कोटियों, जैकटों, फीतियों, इत्यादि का फ़ैशन चला।

फ़ैशन इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि वस्त्र, जो कभी शरीर की रक्षा मात्र के लिए बनाये गये थे, अब सामाजिक स्थिति पर हमारी मानसिक प्रतिक्रिया भी प्रतिबिंबित करते हैं।

तीसरी रक्षा पांत

मनुष्य की रक्षा की पहली पांत घर और प्रकृति की सीमा पर स्थित है, यह उसका आवास है, मानवनिर्मित पर्यावरण है। दूसरा रक्षात्मक कटिबंध मनुष्य के वस्त्र हैं। तीसरी रेखा, जिस पर संस्कृति मानव के प्राकृतिक शत्रुओं के विरुद्ध संघर्ष करती है, हमारे शरीर के भीतर है।

चिरकाल से ही आयुर्विज्ञान, उसका नाम चाहे कुछ भी रहा हो, मानव-शरीर का ध्यान रखता, रोगों का सामना करने में उसकी मदद करता आया है। अब तो यह भी कहा जा सकता है कि आयुर्विज्ञान कुछ सीमा तक शरीर के आंतरिक परिवेश को बदलता है, मनुष्य को बदलते हुए उसकी रक्षा करता है।

आज चेचक जैसी भयानक महामारी का संसार भर से उन्मूलन हो गया है, जबकि १५वीं शती में इसने करोड़ों लोगों को मृत्यु का ग्रास बनाया था। बात यह है कि आधुनिक लोगों के रक्त में ऐसे पदार्थ हैं, जो इस रोग के विषाणुओं का सामना करने, उन्हें नष्ट करने और उनके विषों को निष्क्रिय बनाने को सदा तत्पर रहते हैं। चेचक के प्रति लोगों की इस रोधक्षमता का श्रेय बचपन में लगाये जानेवाले चेचक के टीके को है।

आयुर्विज्ञान के इतिहासकार यह इंगित करते हैं कि रोगनिरोधक टीकों के सरलतम रूपों की खोज हज़ारों साल पहले गोत्र-समाज में ही कर ली गयी थी। यह खोज संसार के अनेक भागों में – आयरलैंड से भारत और चीन तक में – हुई थी। यह तथ्य नितांत महत्वपूर्ण है। आयुर्विज्ञान का इतिहास हमें न केवल संसार के जनगण की संस्कृति की सारी विविधता बड़े ज्वलंत रूप में दिखाता है, बल्कि यह भी कि इस विविधतापूर्ण अनुभव के उपयोग से क्या व्यावहारिक लाभ हो सकता है।

आर्थिक विकास और आयुर्विज्ञान की उपलब्धियों की बदौलत अधिसंख्य

देशों में अपेक्षाकृत कम संख्या में बच्चों की मृत्यु होती है। किंतु कुछ समय पहले तक सारे संसार में ही संक्रामक तथा अन्य रोगों के कारण बाल-मृत्युदर काफ़ी ऊंची थी। दुर्भाग्यवश, कई देशों में आज भी स्थिति अधिक नहीं बदली है।

हम प्लेग, चेचक और हैज़े की भयानक महामारियों के बारे में जानते हैं, जो कभी-कभी पूरे देशों को ही निर्जन बना डालती थीं, लेकिन प्रायः यह भूल जाते हैं कि महामारियां फैलने के बीच की अवधि में भी ये रोग बने रहते थे और लोगों के सिर पर सदा मंडराता खतरा थे।

आज हृद- और तंत्रिका-रोग तथा कैंसर विकसित औद्योगिक देशों में मानव-जाति के सबसे भयानक शत्रु माने जा रहे हैं। आयुर्विज्ञान-सांख्यिकी में ये रोग बहुत हद तक इसलिए भी पहले स्थान पर पहुंच गये हैं, क्योंकि विज्ञान और संस्कृति ने पहले की "काली" और "लाल" मौत (प्लेग और चेचक) को वहां से हटा दिया है।

आज यह माना जाता है कि आधुनिक आयुर्विज्ञान प्राचीन यूनान के काल

भाले से शल्यकर्म। १७वीं-१८वीं शती के एक फ़्लेमिश चित्रकार के चित्र का एक अंश।
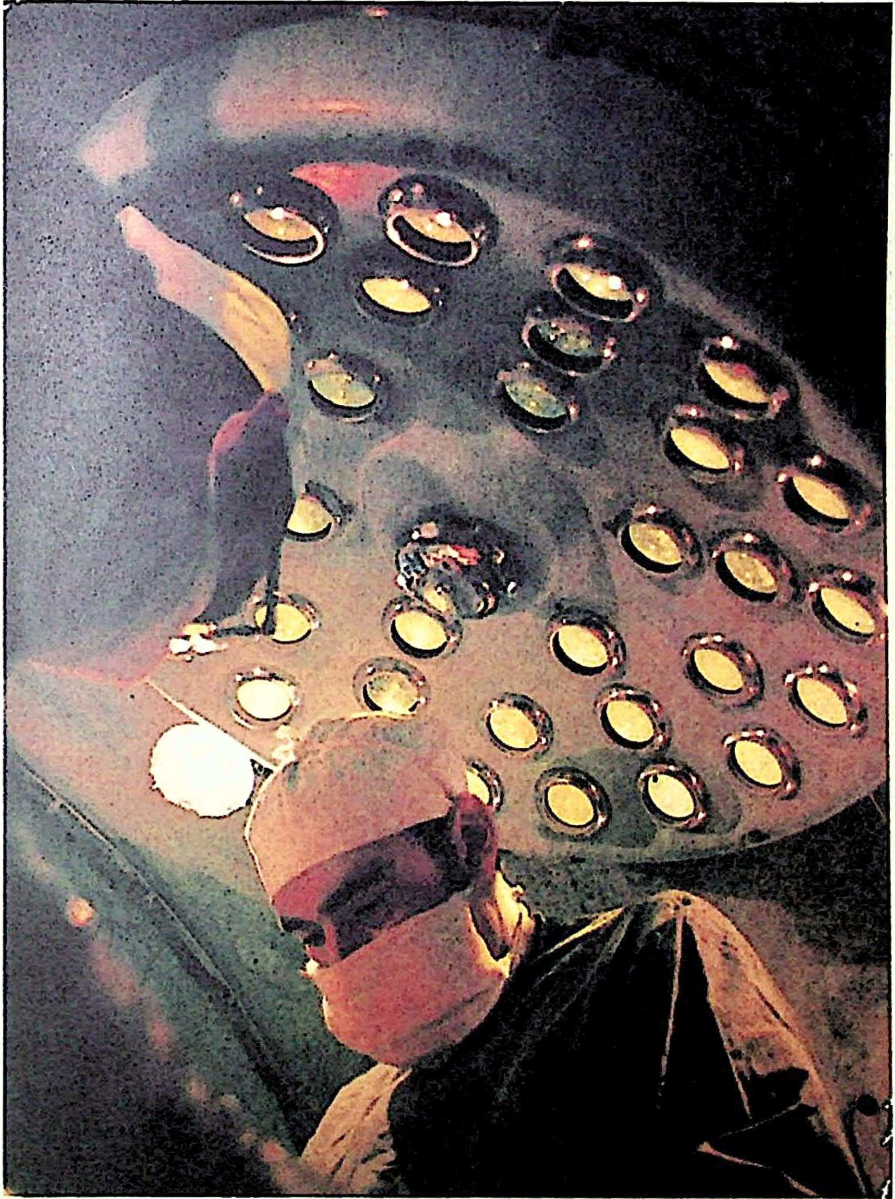
आधुनिक शल्य-कक्ष का एक दृश्य।

से आरंभ करके अब तक मुख्यत: यूरोपीय विद्वानों द्वारा किये गये सृजनात्मक कार्य का परिणाम है। लेकिन कुछ स्रोतों के अनुसार, वैद्यक के यूनानी देवता अस्क्लेपियस की कल्पना वास्तव में हुए एक व्यक्ति के आधार पर की गयी थी और यह व्यक्ति मिस्री मूल का था।

यों तो, चिकित्सा-उपचार की परंपराएं नवपाषाण युग से चली आ रही हैं। इस सिलसिले में कपाल छेदन जैसे जटिल शल्यकर्म के आरंभिक प्रमाण बहुत रोचक हैं। उत्तरी अफ़्रीका के एक प्राचीन क़ब्रिस्तान में १२ हज़ार साल पुराना कपाल मिला है, जिस पर इस शल्यकर्म के चिह्न देखे जा सकते हैं। उक्राइना के एक प्राचीन क़ब्रिस्तान में भी इस प्रकार का कपाल मिला है। उक्राइना और बाल्टिक तटीय प्रांत में तो नवपाषाण युग के ऐसे कपाल मिले हैं, जिन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस शल्यकर्म के पश्चात हुआ छेद पूरी तरह भर गया था।

"आदिम" शल्योपचार के बारे में कुछ हद तक ठोस जानकारी हमें अंग्रेज़ नृजातिविज्ञानी वी० मैरिनर के प्रेक्षणों से मिलती है, जो १९वीं शती के आरंभ में प्रशांत महासागर के टोंगा द्वीपसमूह पर कुछ वर्ष तक रहे। उन्होंने एक पॉलीनीशियाई चिकित्सक द्वारा छाती में से तीर निकालने के शल्यकर्म का विवरण दिया है। तीर छाती के दायीं ओर पांचवीं और छठी पसली के बीच घुस गया था और वक्ष-क्षेत्र में पूरी तरह छिप गया था। शल्यकर्म के उपकरणों के नाम पर बांस का एक पैना टुकड़ा और सीपियों के तेज़ धारवाले कुछ टुकड़े थे। इनकी मदद से "शल्य-चिकित्सक" ने पसलियों के बीच का आवश्यक भाग खोला, अपनी उंगलियां अंदर डालीं और बड़ी सावधानी से तीर को मुक्त करके फेफड़े के एक छोटे-से टुकड़े के साथ उसे बाहर निकाल लिया। कुछ महीनों में रोगी पूर्णत: स्वस्थ हो गया।

आजकल आयुर्विज्ञान बड़ी तेज़ी से अफ़्रीका, एशिया, अमरीका के जनगण के अनुभव को आत्मसात कर रहा है। भारत और चीन के श्वास-अभ्यास, तिब्बत, मंगोलिया और मलायावासियों तथा रेड इंडियनों की उपचार की मौलिक विधियां—यह सब वैज्ञानिक उपचार साधनों को समृद्ध बना रहा है।

यदि हम साइबरनेटिक्स की भाषा में, जिसका आजकल बड़ा फ़ैशन है, कहें, तो मानव एक अत्यंत जटिल व्यवस्था है, जो गतिक संतुलन की अवस्था में रहती है; रोग का अर्थ है इस संतुलन से निश्चित विचलन। व्यवस्था को

पुनः संतुलित अवस्था में लौटाने के अनेक उपाय हो सकते हैं।

सर्दी-जुकाम जैसे मामूली रोग को लीजिये। इसके उपचार के दसियों तरीक़े हैं। उत्तरी देशों में हिसालु बेरी के मुरब्बे या शहद के साथ गरम-गरम चाय पीकर लोग बिस्तर में लेट जाते हैं। यहां सरसों के लेपवाले काग़ज़ (मस्टर्ड पेपर) भी इस्तेमाल किये जाते हैं। ऐसे काग़ज़ों को ज़रा-सा भिगोकर छाती और पीठ पर लगा देते हैं। थोड़ी देर में ही ये ख़ूब अच्छा सेंक देने लगते हैं, जब तक आदमी सह सकता है, इन्हें लगाये रखते हैं, फिर उतार देते हैं। इस तरह छाती और पीठ को सेंक पहुंचाकर सर्दी का इलाज किया जा सकता है। सोने से पहले जुराबों में पिसी हुई सरसों डालकर ये जुराबें पहन लेते हैं, या गरम पानी में पैर सेंकते हैं। एस्पिरीन की गोली खा सकते हैं (डाक्टर तो और भी कई गोलियां के नाम गिना देंगे)। सर्दी-जुकाम एक्यूपंक्चर और श्वास-अभ्यासों से भी ठीक हो सकता है। दक्षिणी अमरीका, आस्ट्रेलिया और अफ़्रीका के अनेक क़बीलों में इसके उपचार के अपने-अपने तरीक़े प्रचलित हैं।

पता चला है कि उपचार की अनेक विधियां ऐसे समाजों में ढूंढ़ी गयी थीं, जो तब सामाजिक विकास के अपेक्षाकृत निम्न स्तर पर स्थित थे। इन्हें सांयोगिक खोजों का परिणाम माना जा सकता है। पृथ्वी काफ़ी बड़ी है और मानवजाति का इतिहास लाखों वर्ष लंबा है, सो चिकित्सा-उपचार संबंधी ऐसी सांयोगिक खोजें विभिन्न जनगण ने बहुत बड़ी संख्या में कीं। धीरे-धीरे इनका सामान्यीकरण हुआ और ये उपचार की निश्चित पद्धतियां बन गयीं। वैसे, क्या इन्हें सचमुच सांयोगिक कहा जा सकता है? लोग औषधियां खोजते थे, उन्हें जांचते-परखते थे और इस तरह ढूंढ़ निकालते थे।

किंतु इस प्रकार का निष्कर्ष निकालना उचित न होगा कि कोई एक परंपरागत चिकित्सा-पद्धति आज के सही अर्थ में स्वास्थ्य-रक्षा सुनिश्चित कर सकती थी। एक उदाहरण देखिये: १७वीं–१८वीं शतियों में जब चीनियों और जापानियों ने चीनी चिकित्सा-पद्धति की पुरानी पुस्तकों की मानव-शरीर की वास्तविक रचना से तुलना की, तो वे यह देखकर स्तब्ध रह गये कि प्राचीन वैद्यकों में शरीररचना के बारे में कैसी-कैसी भयंकर भ्रांतियां व्याप्त थीं। यह अकारण ही नहीं कि अफ़्रीका, दक्षिणी एशिया, दक्षिणी अमरीका में वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति का प्रचलन होने के साथ यहां मृत्युदर (बाल-मृत्युदर भी) घटी है, करोड़ों लोगों की औसत आयु बढ़ी है। आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति, निस्संदेह, किसी भी अन्य

परंपरागत चिकित्सा-पद्धति से अधिक श्रेष्ठ है, साथ ही यह भी सच है कि उसे अभी भी इन पद्धतियों से बहुत कुछ सीखना है। किसी भी अन्य ज्ञान-शाखा की ही भांति आयुर्विज्ञान में भी मानवजाति द्वारा संचित अनुभव अमूल्य है। आज आयुर्विज्ञान इस अनुभव को आत्मसात करके ही आगे बढ़ सकता है। इसीलिए ऐसी वैज्ञानिक गोष्ठियां आयोजित की जाती हैं, जिनमें डाक्टर नृजातिविज्ञानियों से मिलते हैं और इतिहासकार आयुर्विज्ञान के सिद्धांतकारों से।

इस क्षेत्र में भविष्य का आधार न केवल वर्तमान, अपितु अतीत की भी श्रेष्ठतम उपलब्धियां होंगी।

अनबुझ प्यास

संस्कृति मनुष्य की उन सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति है, जिन्हें हम संज्ञानात्मक कह सकते हैं। इनमें सर्वप्रथम संसार का ज्ञान पाने की अभिलाषा आती है, वह अभिलाषा, जो मनुष्य के लिए इतनी लाक्षणिक है कि महान सोवियत शरीरक्रियाविज्ञानी इवान पेत्रोविच पाव्लोव ने इसे "ज्ञान की नैसर्गिक वृत्ति" तक कहा।

बच्चों की कल्पनातीत जिज्ञासा, उनके असंख्य प्रश्न (यह गणना की गयी है कि माता-पिता प्रतिदिन सैकड़ों ऐसे प्रश्नों का उत्तर देते हैं) – यह उस जिज्ञासा की ही प्रतिच्छाया है, जो सारी होमो सेपिएन्स प्रजाति में ही नहीं, उसकी पूर्वज प्रजातियों में भी व्याप्त थी, भले ही इन पूर्वज प्रजातियों के मस्तिष्क में चेतना की ज्वाला क्षीण रही हो।

यहां हम आप्रयुक्त ज्ञान-शाखाओं की चर्चा नहीं करेंगे – इनसे संबंधित प्रश्नों पर दूसरे अध्यायों में किसी न किसी हद तक विचार किया गया है। हम संज्ञान में उस बात को लेंगे, जिसने मानवजाति के गर्व के विषय – उसकी आत्मिक संस्कृति – को जन्म दिया है।

शिखर जीवन का है विचार,
चित्र निर्मल विश्व का आधार।
गुण यही सच्चे मानव की पहचान,
सभी जीवों से अलग उसे जान।
न हो जहां आस्था, न हो जहां विचार
मानव नहीं, वहां पशु करे वास।

अनवरी

लोगों द्वारा अपने चारों ओर के संसार के अववोधन और समझ की लाक्षणिक विशिष्टताएं, सर्वप्रथम उनका विश्व-दृष्टिकोण एक प्रकार से आत्मिक संस्कृति का नाभिक है। इसीलिए वस्तुगत जगत और उसमें मानव के स्थान पर दृष्टिकोणों की पद्धति तथा इन दृष्टिकोणों द्वारा निर्धारित मूल्यों और संज्ञान के सिद्धांतों को ही इस या उस प्रकार की संस्कृति के महत्वपूर्ण लक्षण माना जाता है।

हम यह मानकर चलते हैं कि संस्कृति के प्रमुख ऐतिहासिक प्रकार इस या उस सामाजिक-आर्थिक विरचना के साथ उनके संवंध के आधार पर ही मुख्यत: निर्धारित होते हैं। इस कसौटी के अनुसार संस्कृति के निम्न प्रकार माने जाते हैं: आदिम, दासप्रथात्मक, सामंतवादी, पूंजीवादी और समाजवादी। संस्कृति के ऐतिहासिक प्रकार का विरचना से यह संवंध सूचकों की एक पूरी समष्टि में, सर्वप्रथम विश्व-दृष्टिकोण में, प्रकट होता है। उदाहरण के लिए, यदि हम वास्त-विकता के अववोध की, संज्ञान की लाक्षणिक विशेषताओं को लें, तो इनके आधार पर आदिम और दासप्रथात्मक संस्कृति में भेद स्पष्टत: देखा जा सकता है। पहले मामले में हम वास्तविकता का सामष्टिक, अविच्छिन्न अवबोध पाते हैं (प्रत्यक्ष ज्ञान, धार्मिक आस्थाएं, कला – ये सभी आदिम समाज में एक अखंड समष्टि होते हैं), दूसरे मामले में हम वास्तविकता के विभेदीकरण की प्रवृत्ति पाते हैं (संज्ञानात्मक कार्यकलाप के विभिन्न रूपों का प्रकट होना इसका एक प्रमाण है)।

हमारे पास यह मानने का कोई आधार नहीं है कि हमारे सुदूर पूर्वजों को वे समस्याएं उद्वेलित नहीं करती थीं, जिन्हें हम अव विश्व-दृष्टिकोणमूलक कहते हैं। हालांकि, सही-सही कहा जाये तो संसार के कमोवेश संपूर्ण चित्र के रूप में विश्व-दृष्टिकोण का निर्माण तभी होता है, जव संस्कृति में लिपि का विकास हो चुका होता है। लेकिन इससे अधिक प्राचीन काल के लोगों की आत्मिक संस्कृति में भी ब्रह्मांड के रहस्यों में पैठने, उसमें मानव का स्थान खोजने और समझने की अभिलाषा प्रतिविंवित होती है। यह चेष्टा उन वैचारिक रूपों में प्रकट हुई, जिनमें कपोलकल्पित और ऐतिहासिक का घनिष्ठ अंतर्गुंथन हुआ, उदाहरणत:, किंवदंतियों और मिथकों में।

तथ्य को कपोलकल्पना से अलग कर पाने की योग्यता लोगों को प्रकृति से नहीं मिलती, जन्मजात नहीं होती। ऐसी योग्यता तो मानवजाति के सांस्कृतिक विकास के दौरान उत्पन्न और परिष्कृत होती है। लोगों द्वारा श्रम संबंधी कार्य-

कलाप के दौरान वस्तुगत यथार्थ का संज्ञान पाने के परिणामस्वरूप ही उनमें यह योग्यता विकसित होती है।

मानव-इतिहास के आदि काल में ही समस्त ब्रह्मांड को एक विशाल एकत्व के रूप में देखते हुए लोग इस ब्रह्मांड में अपना विशिष्ट स्थान महसूस करते थे। यह बात अनेक जनगण के उन प्राचीनतम मिथकों में प्रतिबिंबित हुई है, जिनके अनुसार मनुष्य की सृष्टि ईश्वर के अंगों से हुई। समाज के विकास के साथ-साथ ब्रह्मांड और उसमें मनुष्य के स्थान एवं भूमिका के बारे में लोगों की धारणाएं जटिल दार्शनिक पद्धतियों में परिवर्तित हो गयीं।

विभिन्न संस्तरों और वर्गों में विभाजित समाज में एक ही ऐतिहासिक काल के लोगों का विश्व का अवबोध और समझ अलग-अलग होते हैं। यह अवबोध और समझ बहुत हद तक उनके दार्शनिक, राजनीतिक, विधिक, नैतिक, धार्मिक, सौंदर्यबोधात्मक दृष्टिकोणों पर निर्भर होते हैं और इनके अनुसार ही वास्तविकता के साथ लोगों के संबंधों को समझा और आंका जाता है।

अस्तित्व और चेतना, भौतिक और प्रत्ययात्मक के सहसंबंध जैसी विश्वबोध की मूलभूत समस्या के समाधान पर ही यह बात सबसे पहले लागू होती है। इस प्रश्न के इस या उस उत्तर के अनुसार विश्व-दृष्टिकोण भौतिकवादी और प्रत्ययवादी हो सकता है। भौतिकवाद और प्रत्ययवाद, दोनों के ही नाना रूप देखने में आते हैं। विश्व-दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति के रूप पर राष्ट्रीय छाप भी होती है। इस प्रसंग में मार्क्स ने लिखा था: "फ्रांसीसी और आंग्ल भौतिक-वाद में भेद इन राष्ट्रों के बीच भेद के समनुरूप है। फ्रांसीसियों ने आंग्ल भौ-तिकवाद को वाक्पटु और विनोदमय बनाया है, उसे हाड़-मांस प्रदान किया है। उसमें वह ओज और गरिमा फूंकी है, जिसका उसमें अभाव था।"

संकेत और अर्थ

सो, मनुष्य जब से मनुष्य बना है, तभी से अपने चारों ओर के संसार का बिंब, चित्र, या आधुनिक शब्दों में कहें तो माडल बनाता आया है।

इस माडल के लिए सामग्री का काम वे संकेत देते हैं, जिनसे हम अपार ब्रह्मांड की और स्वयं अपने भीतर की परिघटनाओं को नामोद्दिष्ट करते हैं। वर्णमालाओं के वर्ण और स्वरलिपि के चिह्न संकेत ही हैं, हमारे नाम भी संकेत

हैं ठीक वैसे ही, जैसे कि किसी भी मानव-भाषा का कोई भी शब्द। भाषा भी संकेतों की एक व्यवस्था ही है।

संकेत यथार्थ की परिघटनाओं के "आंतरिक", परोक्ष अंतर्य को, उनके अर्थ को "बाह्य रूप से" व्यक्त करते हैं। यह अर्थ एकदम ही, पहली नज़र में ही प्रकट नहीं हो जाता, उसे तर्कबुद्धि, सौंदर्य भावना और नैतिक अंत:प्रज्ञा से समझा जाता है। यही कारण है कि किसी भी संगठित मानव-दल में बाह्य संकेतों पर प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष नहीं होती, बल्कि संस्कृति द्वारा व्यवहित होती है। प्रत्येक संस्कृति में इन या उन परिघटनाओं के अपने-अपने अर्थ होते हैं।

इस बात का बड़ा सुस्पष्ट उदाहरण अरुत्यूनोव देते हैं। वह यह इंगित करते हैं कि जब एक ही नृजातीय संस्कृति के दो व्यक्ति, जैसे कि दो जर्मन या दो आर्मीनियाई, आपस में बातचीत कर रहे होते हैं, तो – "रसोई में जाकर अपने लिए नाश्ता बना लो" – इस प्रकार के दैनिक जीवन के साधारण से निर्देश के साथ उनकी चेतना में और भी बहुत-सी बातें जुड़ जाती हैं – रसोई की व्यवस्था, खास क़िस्म के बर्तन और खाद्य-पदार्थ, आदि – इस सबमें ऐसी सूचना निहित होती है, जो दत्त संस्कृति के प्रसंग में बोधगम्य होती है तथा यह सूचना मात्र शब्दों द्वारा निर्दिष्ट कार्य से अधिक व्यापक कार्य का निर्देश देती है। दूसरी संस्कृति का व्यक्ति शब्दों का अर्थ समझ लेने पर भी यह सूचना नहीं पा सकेगा। ताइगा वन में एवेंक जाति का आखेटक निर्जन झोंपड़े में घुसता है और वह सारी सूचना पा लेता है, जो उससे पहले वहां आया आखेटक रोज़मर्रा की चीज़ों के रूप में छोड़ गया होता है, जबकि आर्मीनियाई या जर्मन इन वस्तुओं को देखकर कुछ भी नहीं जान पायेंगे और ऐसी स्थिति में एकदम असहाय होंगे।

परिघटनाओं के अर्थ व्यक्त करनेवाले संकेत यादृच्छिक हो सकते हैं अथवा वास्तविक (जैसे कि वस्त्रों की स्थानीय विशेषताएं)। यादृच्छिक संकेत भी अविशेष और विशेष में बंटते हैं। अविशेष संकेत का काम, उदाहरणतः, कोई एक वृक्ष दे सकता है, जबकि हमारे इंगित (इशारे), यातायात-चिह्न, पदवियों के चिह्न, इत्यादि विशेष संकेत हैं। मुखौटे, जो, शायद, सभी देशों में बनाये जाते हैं, एक प्रकार के यादृच्छिक संकेत हैं। वे सचमुच ही बहुरूपी होते हैं, अलग-अलग जनगण के यहां अलग-अलग उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त होते हैं – भयभीत करने से लेकर मनोरंजन करने तक।

मानव-संस्कृति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण यादृच्छिक संकेत हैं शब्द। वस्तुएं

और घटनाएं तो सदा मनुष्य के वश में नहीं होतीं और वह उनसे स्वतंत्रतापूर्वक, अपनी इच्छानुसार काम नहीं ले सकता। किंतु शब्द, अर्थात वे संकेत, जिनसे हम उन्हें नामोद्दिष्ट करते हैं, हमारी इच्छा द्वारा शासित होते हैं और उसके अनुसार अर्थमय शृंखलाओं – वाक्यों – में पिरोये जाते हैं।

भाषा मनुष्य की प्रमुख संकेत-व्यवस्था है, मानव-संसर्ग का सर्वोपरि साधन है। मार्क्स ने भाषा को विचार का प्रत्यक्ष यथार्थ कहा है। शब्दों की मदद से अनेक दूसरी संकेत-व्यवस्थाओं को बिल्कुल सही-सही व्यक्त किया जा सकता है (यातायात के नियमों और यातायात चिह्नों की शब्दों में व्याख्या इसका उदाहरण है)। किसी संगीत रचना, मूर्ति, चित्र या फ़िल्म तक का हम शब्दों में वर्णन कर सकते हैं – इसका अर्थ है कि कला के क्षेत्र में भी शब्दों से बिंब बनाया जा सकता है, बेशक, यह स्थूल ही होगा।

भाषा वह सार्वभौमिक सामग्री है, जिसका उपयोग लोग संसार का "माडल बनाने" के लिए करते हैं। चित्रकार संसार की परिघटनाओं का बिंब रंगों से बनाता है, संगीतकार स्वरों से, वैज्ञानिक उन चिह्नों-संकल्पनाओं से, जो उसके ज्ञान-क्षेत्र में प्रचलित हैं, या जिन्हें उसने स्वयं गढ़ा है। किंतु ये सब, मानव होने के नाते, सर्वप्रथम सार्वभौमिक "कोड" – भाषा – से सुसज्जित हैं।

अत्यंत प्राचीन काल में ही लोग यह मानने लगे थे (और अब भी कहीं-कहीं मानते हैं) कि लोगों और वस्तुओं के नामों में कोई दैवी, चमत्कारिक अर्थ निहित होता है। पुराने ज़माने में बहुत-से जनगण में एक ही व्यक्ति के कई नाम होते थे, इनमें वह नाम भी होता, जो कभी मुंह से बोला नहीं जाता था और यही उसका सच्चा, असली नाम माना जाता था। कुछ धर्मों के लोगों (तिब्बतियों, यहूदियों) में ईश्वर का "सच्चा" नाम लेना निषिद्ध है। प्रत्यक्षतः, लोग यह मानते थे कि किसी (वस्तु या व्यक्ति) के नाम का ज्ञान होने से ही इस नाम के धारक पर निश्चित अधिकार मिल जाता है। बाइबिल के अनुसार, आदम की सृष्टि होने पर उसने सबसे पहला काम यही किया कि अपने चारों ओर जो कुछ देखा, उसका नामकरण किया।

किसी भी देश और जाति की संस्कृति क्यों न लें, सर्वत्र हम यही पायेंगे कि बाइबिल के आदम की ही भांति संसार की वस्तुओं और परिघटनाओं के नामकरण पर ही वह आधारित है।

सोवियत दार्शनिक ए० व० सोकोलोव लिखते हैं: "संस्कृति बड़े सटीक,

ज्वलंत नाम ढूंढ़ लेती है; इन नामों के सहारे हम अपनी कल्पना में अविद्यमान वस्तुओं के बिंब बना सकते हैं, किसी भी क्रम में उनकी गणना और उनका संयोजन कर सकते हैं। संस्कृति अर्थों की बहुशाखी व्यवस्था बनाती है, जिसकी सहायता से प्रत्यक्ष जगत की परिघटनाओं और अनुभूतियों की सूक्ष्मतम छटाओं में भी भेद किया जा सकता है, मूल्यांकनों का वह जटिल सोपानक्रम तैयार किया जा सकता है, जिसमें अनेक पीढ़ियों का अनुभव संकेंद्रित होता है। घटनाओं-परिघटनाओं को नामोदि्ष्ट करते तथा आंकते हुए मानव संसार को और उसमें अपने अस्तित्व को समझता है, उन्हें व्यवस्थापित और व्याख्यायित करता है, संसार में दिशाबोध पाता है। वस्तु का नाम रखने का अर्थ है उसके संज्ञान की दिशा में पहला क़दम उठाना। नामकरण के फलस्वरूप अनुभव में वस्तु का स्थान निर्धारित हो जाता है, अब वस्तु को देखने पर उसे पहचाना जा सकता है।"

भाषा की सर्वोपरि विशेषता इंगित करते हुए मार्क्स ने कहा कि भाषा वह व्यावहारिक चेतना है, जिसका "मेरे लिए" अस्तित्व केवल इस बात की बदौलत है कि दूसरे लोगों के लिए भी उसका अस्तित्व है।

सोवियत वाङ्मीमांसक अकादमीशियन निकोलाई कोनरद लिखते हैं: "वास्तविकता का बोध हम संकल्पनाओं, बिंबों और प्रतीकों की भाषा में पा सकते हैं। संकल्पनाओं की भाषा विज्ञान का उपकरण है, बिंबों की भाषा ललित साहित्य का तथा प्रतीकों की भाषा मिथकों का। किंतु यह बात तब तक सही है, जब तक कि हमारा अभिप्राय केवल संकल्पनाओं, केवल बिंबों या केवल प्रतीकों के रूप में चिंतन से है—ऐसा चिंतन तो वास्तविकता में होता नहीं। ललित साहित्य के सृजन में संकल्पनाओं और प्रतीकों की भाषा के बिना काम नहीं चल सकता; बिंब के बिना मिथक अकल्पनीय है; जहां तक प्रतीक का सवाल है, ललित साहित्य, विशेषत: काव्य में उसका स्थान तो है ही, विज्ञान में भी वह विद्यमान होता है, बेशक, वह यहां दत्त ज्ञान-क्षेत्र के लिए अपना विशिष्ट रूप पा लेता है—गणित के चिह्नों और रसायन के सूत्रों, आदि का।"

भाषा के बूते पर ही संस्कृति का अस्तित्व संभव है। यहां हम नृविज्ञानियों और भाषाविदों को अरसे से उद्वेलित कर रही इस समस्या की गहराई में नहीं जायेंगे कि भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई। इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि ऐसे भी विशेषज्ञ हैं, जिनके मत में, दो लाख से चालीस हज़ार साल पहले के काल में हुए नियंडरथल मानव तक को बोलना नहीं आता था या प्राय: नहीं आता

था ; दूसरी ओर, कुछ विशेषज्ञों के मत में, लाखों साल पहले ही मानव के पूर्वज बोलना सीख गये थे। हमारे विचार में, यहां ऐतिहासिक तर्क शुद्ध जैव-वैज्ञानिक तथ्यों से अधिक बल रखते हैं: माना कि नियंडरथल मानव के कपाल की भीतरी सतह को देखते हुए उसके मस्तिष्क में वाक्-केंद्र अपेक्षाकृत अल्पविक-सित ही थे, किंतु नियंडरथल युग आरंभ होने तक कई लाख वर्षों से लोग आवास बनाते आये थे, कम से कम तीन लाख वर्ष से वे हंकावा लगाकर शिकार कर रहे थे – ये सब पुरातत्व पर आधारित ऐतिहासिक तथ्य हैं। ऐसे कार्यों के लिए यह आवश्यक था कि लोगों में संगठनबद्धता का स्तर ऊंचा होता ; अगर तब तक लोगों ने बोलना नहीं सीखा था, तो यह समझ में नहीं आता कि वे इतनी अच्छी तरह संगठित कैसे हो सकते थे।

पृथ्वी पर सहस्रों भाषाएं बोली जाती हैं और इनमें से प्रत्येक दूसरी भाषा से भिन्न है। प्रायः एक भाषा से दूसरी में अनुवाद करते समय कठिनाई क्यों होती है? एक कारण यह है कि एक भाषा के सभी शब्दों के सही-सही समानार्थी शब्द दूसरी भाषा में नहीं होते, और फिर हर भाषा में अनेक शब्द कई भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। भाषाओं की संरचना में भेद भी विशाल हैं।

ऐसी भाषाएं हैं, जिनमें चालीस से अधिक कारक हैं, जैसे कि कुछ काके-शियाई भाषाएं। कुछ भाषाओं में प्रत्येक शब्द एकाक्षरी होता है। दूसरी ओर, ऐसी भाषाएं भी हैं, जिनमें प्रत्येक वाक्य सारतः एक शब्द होता है – बहुत जटिल और लंबा, किंतु एक शब्द ही।

कैलिफ़ोर्निया की विंटू जनजाति के रेड इंडियनों की भाषा में क्रियाएं "वि-श्वसनीयता की कोटि" के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं: यदि दूसरों से सुनी घटना के बारे में बताया जाता है, तो एक क्रियाशब्द का प्रयोग होता है और यदि प्रत्यक्षदर्शी बताता है, तो वह उसी घटना-व्यापार के लिए दूसरे क्रियाशब्द का प्रयोग करता है।

हवाई भाषा में केवल सात व्यंजन हैं, जबकि सोवियत संघ, फ़िनलैंड, स्वीडन और नार्वे के उत्तरी भागों में बसे साआम लोगों की भाषा में तिरपन व्यंजन हैं। जापानी भाषा में आघातित और आघातहीन स्वरों के उच्चारण में बल नहीं, बल्कि तान भिन्न-भिन्न होती है। जापानी भाषा के प्रत्येक बहु-अक्षर शब्द का अपना सुर होता है। संसार में बहुत-सी ऐसी भाषाएं हैं, जिनमें प्रत्येक स्वर की अपनी तान होती है। इस सिलसिले में सोवियत भाषाविद अ०

अ० लेओन्त्येव लिखते हैं: "कई विद्वानों के मत में, एक समय था, जब सभी भाषाओं में यह बात पायी जाती थी। कालांतर में ही इनमें से अनेक भाषाओं में संगीतात्मकता जाती रही। किंतु अनेक भाषाओं में यह बनी भी रही: चीनी, वियतनामी, दक्षिण-पूर्वी एशिया की अन्य कई भाषाओं, अफ़्रीका की अधिसंख्य भाषाओं, मध्य अमरीका के रेड इंडियनों की भाषाओं, इत्यादि में।... संगीतात्मक तान से न केवल शब्दों के बीच, बल्कि व्याकरणिक रूपों के बीच भी भेद किया जाता है।"

वास्तविकता को समझने, उसका बोध पाने के अनेक संभाव्य पथ हैं तथा इस बोध को भाषा में व्यक्त करने के उपाय भी अनेक हैं।

सवाल यह उठता है कि अलग-अलग भाषाएं बोलनेवाले लोगों का चिंतन, उनका सोचने का ढंग किस हद तक एक जैसा होता है?

महाकवि होमर द्वारा प्रयुक्त एक विशेषण पिछले दो शतकों से विद्वानों और सुबोध वैज्ञानिक साहित्य के रचयिताओं के लिए चर्चा का विषय बना हुआ है। अकिलीज़ और ओडिसीयस की वीरगाथाओं के गायक ने संसार के सबसे अधिक नीले सागर – ईजियन सागर – को अंगूरी वर्णी कहा है। प्राचीन यूनान में जो अंगूरी पी जाती थी, वह हरे-से रंग की होती थी। 'ईलियड' और 'ओडिसी' में नीले रंग का तो एक बार भी उल्लेख नहीं मिलता। बाइबिल में भी कहीं इस वर्ण का नाम नहीं लिया गया है। इस बात को देखते हुए कुछ शोधकर्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि भूमध्यसागर क्षेत्र के पूर्वी भाग के प्राचीन निवासी नीला रंग नहीं पहचानते थे।

इस विषय पर इस प्रकार के अनेक गंभीर विचार प्रस्तुत किये गये कि रंगों को देख पाने की मनुष्य की क्षमता संस्कृति की प्रगति के साथ ही विकसित होती है।

१९वीं शती के मध्य और अंत में प्राचीन यूनानी, इब्रानी (हिब्रू) और संस्कृत के अध्ययन के आधार पर कुछ वाङ्मीमांसक इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इन भाषाओं में रंगों के लिए शब्द बहुत कम हैं। तदुपरांत शरीरक्रियाविज्ञानियों ने यह अनुमान प्रस्तुत किया कि, संभवतः, आरंभ में मनुष्य वर्णक्रम के रंगों में बिल्कुल ही भेद नहीं कर सकता था, केवल प्रकाश, छाया और चमक की ओर ही उसका ध्यान जाता था, कि होमर के दिनों में लोगों में, प्रत्यक्षतः, हल्के हरे, नीले और बैंगनी रंगों की अनुभूति विकसित नहीं हुई थी, वे केवल

लाल, पीला और नारंगी रंग देखना सीख पाये थे। १६वीं शती के ही अंतिम वर्षों में अफ़्रीका के उन क़बीलों की, जो ऐतिहासिक कारणों से तब तक विकास की "आदिम" अवस्था में थे, भौतिक और आत्मिक संस्कृति का अध्ययन कर रहे नृजातिविज्ञानियों ने इस प्राक्कल्पना का पूरी तरह खंडन कर दिया। कतिपय प्राचीन ग्रंथों के गहन वाङ्मीमांसीय विश्लेषण से भी इसका खंडन हुआ।

इस विचार को हम इस तथ्य से भी निराधार साबित कर सकते हैं कि आज भी जापानी तथा कुछ अन्य भाषाओं में नीले और हरे रंगों के लिए एक ही शब्द है। किंतु इससे कोई भी यह निष्कर्ष नहीं निकालता कि जापानी लोग नीले और हरे रंगों में भेद नहीं कर सकते। रूसी में नीले और आसमानी के लिए दो अलग-अलग शब्द हैं – "सीनी" और "गलुबोइ"। अंग्रेज़ों के लिए ये एक ही रंग – 'ब्लू' – के दो शेड हैं, किंतु कोई भी अंग्रेज़, उदाहरणतः, आसानी से यह बता सकता है कि कौन-सी कार नीली है और कौन-सी आसमानी।

भाषा और चिंतन, भाषा और संज्ञान तथा भाषा और मानव-व्यवहार के परस्पर संबंधों पर विचार करते हुए अमरीकी विद्वान बेंजामिन ली वॉर्फ़ इस आश्चर्यजनक निष्कर्ष पर पहुंचे कि किसी स्थिति में लोगों का व्यवहार जैसे वे बोलते हैं, अर्थात जैसी उनकी भाषा है, उसी के अनुरूप होता है।

वॉर्फ़ के अनुसार, यदि कोई जापानी, मलयाली और फ़्रांसीसी किसी एक घटना के साक्षी हैं, तो वे उसे अलग-अलग ढंग से देखेंगे और उस पर उनकी प्रतिक्रिया अलग-अलग होगी।

इस तरह प्रत्येक भाषा मानो एक ऐसा रंगीन कांच है, जिसकी छाप उस सब पर पड़ती है, जो उसके ज़रिये देखा जाता है। लेकिन बात केवल अतिरिक्त रंगत की ही नहीं है; वॉर्फ़ के अनुसार तो भाषा ऐसा कांच है, जिसके ज़रिये देखते हुए अलग-अलग भाषाभाषी लोग संसार को अलग-अलग रंगों में देखते हैं।

वॉर्फ़ की इस प्राक्कल्पना पर काफ़ी ज़ोरदार बहस हुई। बहुत कम ही ऐसे वैज्ञानिक रहे होंगे, जिन्होंने इसे पूरी तरह स्वीकार किया। इसकी भ्रामकता प्रमाणित करना कठिन नहीं है: अंग्रेज़ी में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आसमानी रंग के लिए अलग शब्द नहीं है, किंतु अंग्रेज़ चित्रकारों के चित्रों में यह रंग देखा जा सकता है; जापानी चित्रों में नीला और हरा, दोनों रंग पाये जाते हैं, इनका स्थान किसी "नीले-हरे" रंग ने नहीं लिया है, जबकि, वॉर्फ़ के "सिद्धांत" के अनुसार, ऐसा ही होना चाहिए था।

निस्संदेह, किसी जाति के शब्द-भंडार के आधार पर निश्चित सीमाओं में उसकी संस्कृति के बारे में कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। यह समझने के लिए विशेषज्ञ होना आवश्यक नहीं कि यदि किसी जाति के शब्द-भंडार में भांति-भांति के हिम के लिए दस शब्द हैं, तो यह जाति उत्तरध्रुव प्रदेश में रहती है, दूसरी ओर, जिस जाति की भाषा में फलों के सैकड़ों नाम हैं, वह उष्ण या उपोष्ण कटिबंध में रहती है। यदि हम थोड़ी देर को यह मान लें कि इन दो जातियों की भौगोलिक स्थिति बदल जाती है, तो उन्हें अपनी-अपनी भाषा में उन वस्तुओं के लिए, जिनसे पहले उनका वास्ता नहीं पड़ा था, अनेक नये शब्द लाने पड़ेंगे। पिछली शती में प्रोटोन, न्यूट्रॉन, पॉज़ीट्रॉन जैसे शब्द संसार की एक भी भाषा में नहीं थे, किंतु अब वे हैं। प्राचीन यूनानी भाषा के शब्दों के आधार पर इन्हें गढ़ा गया है – किसी भाषा के आधार पर भी ये गढ़े जा सकते थे, बात इसकी नहीं है। भाषा जीवन की अपेक्षाएं पूरी करने को सदा तत्पर रहती है, वह वास्तविकता के नित नये लक्षणों को प्रतिबिंबित करती है।

समय-समय पर कई भाषाविद संकेत-व्यवस्था के नाते भाषा के प्रति असंतोष प्रकट करते आये हैं। उन्हें यह भाषा की क्षीणता लगती है कि उसमें संकेत सदा एक ही अर्थ व्यक्त नहीं करते हैं, कि संकेतों के बीच संबंधों को सदा सही-सही निर्धारित नहीं किया जा सकता और साथ ही समय के साथ ये संबंध बदलते रहते हैं।

अंग्रेज़ खेदवश यह इंगित करते हैं कि उनकी भाषा में इतने अधिक प्रयुक्त होनेवाले विशेषण free के ३८ अर्थ हैं तथा एक सर्वाधिक प्रयुक्त क्रिया take के ६९ अर्थ। एक ब्रिटिश भाषाविद के शब्दों में, अंग्रेज़ी के व्याकरण के नियम कोई भी नहीं जानता। बेचारे अंग्रेज़ों से हम सहानुभूति व्यक्त कर सकते थे, लेकिन भाषाविदों के अनुसार, कमोबेश ऐसी ही स्थिति हर सजीव भाषा की है, जो निरंतर विकासमान और परिवर्तनशील होती है, जिसका प्रयोग विभिन्न वर्गों के, सामाजिक संस्तरों और श्रेणियों के, अलग-अलग व्यवसायों के लोग करते हैं।

वर्तमान शती के चौथे दशक में प्रकांड फ़्रांसीसी भाषाविद ए० मेये ने कहा था कि फ़्रांसीसी भाषा का तो वस्तुतः अभी तक अध्ययन हुआ ही नहीं है और समुचित रूप से उसका अध्ययन कभी हो भी नहीं पायेगा। यही बात रूसी, हिंदी, सुआहिली, स्पेनी – किसी भी भाषा के बारे में कही जा सकती है।

भाषा की जटिलता और विविधता तो अपरिहार्य हैं, क्योंकि इसमें मानव-संसर्ग की जटिलता और विविधता प्रतिबिंबित होती है। भाषा सदा जीवन का अनुकरण करती आयी है और करती रहेगी।

भाषा एक सजीव अवयवी के समान है। अनेक बड़े-बड़े साहित्यकारों ने इसकी वंदना, इसका महिमागान इसी प्रकार किया है, मानो वह जीती-जागती हो।

जनगण के बीच और, परिणामतः, भाषाओं के बीच संपर्क, नयी संकल्पनाओं के लिए एक दूसरे से "सामग्री" उधार लेना—यह सब लाभदायक और आवश्यक भी है।

हमारी वाणी ऐसे संपर्कों के चिह्नों से परिपूर्ण है।

कहना न होगा कि शब्दों का आदान-प्रदान उस प्रक्रिया की एक आंशिक अभिव्यक्ति ही है, जिसे हम ज्ञान-विनिमय कह सकते हैं। किसी एक भाषा से दूसरी भाषा में सच्चा अनुवाद और उसके साथ ही ज्ञान का संक्रमण भी तभी संभव होता है, जबकि उन दोनों में सिद्धांततः मिलती-जुलती संकल्पनाएं, प्रतीक और बिंब हों। शेक्सपियर और टैगोर का पिजिन इंग्लिश में अनुवाद करना असंभव है, उस सरलीकृत भाषा में, जो अंग्रेज़ी तथा स्थानीय भाषाओं के प्रभाव में रोज़मर्रा की बातचीत, सर्वप्रथम व्यापार की आवश्यकताओं के लिए चीन में और प्रशांत महासागर के कुछ द्वीपों पर बनी। पिजिन शब्द अंग्रेज़ी के "बिज़िनस" से चीनी प्रभाव में बना शब्द है।

पिछले दशकों में संसार के कुछ भागों में कई भाषाएं एक नया दर्जा पा रही हैं—वे हाल ही तक विभाजित क़बीलों के आधार पर बन रही नयी जातियों की जातीय (राष्ट्रीय) भाषा की भूमिका निभाने लगी हैं। इन भाषाओं में बड़ी तेज़ी से नयी संकल्पनाओं का समावेश हो रहा है, नयी जाति की संस्कृति के विकास के साथ उनका शब्द-भंडार बढ़ रहा है; इन भाषाओं में पत्र-पत्रिकाएं छप रही हैं, ललित साहित्य रचा जा रहा है और, प्रत्यक्षतः, वह दिन दूर नहीं, जब शेक्सपियर और टैगोर का इन भाषाओं में अनुवाद किया जायेगा।

हज़ारों लोगों ने, जिनमें केवल अनुवादक ही नहीं थे, वर्षों तक अथक प्रयास किये, १९वीं शती के अंत और २०वीं शती के आरंभ में जापान में जीवन-पद्धति ही बदली, तब कहीं जापानी लोगों का दूसरे देशों के कालजयी साहित्यकारों से परिचय हुआ। निस्संदेह, यह बात उनकी आत्मिक संस्कृति को अधिक समृद्ध बनाने में बहुत सहायक रही है।

मध्ययुगीन यूरोप में लैटिन धर्मशास्त्र और विज्ञान, दोनों के लिए अंतर्राष्ट्रीय भाषा थी। यही कारण है कि कालांतर में अपनी मातृभाषा में वैज्ञानिक ग्रंथ लिखते समय विद्वानों ने उनमें अनेक लैटिन और यूनानी शब्दों का प्रयोग किया। प्रसंगतः, ये दो "मृत" भाषाएं आज भी सैकड़ों सजीव भाषाओं के लिए वह भंडारागार हैं, जहां से ये भाषाएं आधुनिक पारिभाषिक शब्द लेती हैं। "साइबरनेटिक्स", "इलैक्ट्रोनिकी", आदि अनेक शब्दों का मूल इन्हीं भाषाओं में है। भारतीय-आर्य भाषाओं के लिए संस्कृत ऐसा भंडारागार है।

अंतर्राष्ट्रीय भाषाओं के अनेक उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के मध्य में महान फ़ारस साम्राज्य के विशाल भूक्षेत्र में अरामी नामक व्यापारी जाति की भाषा सर्वत्र चलती थी। प्रायः उसी काल में सुदूर पूर्व में वेन्यान् ऐसी भाषा का काम दे रही थी।

पश्चिमी यूरोप में १८वीं–१९वीं शतियों में फ़्रांसीसी ने लैटिन को अंतर्राष्ट्रीय भाषा के पद से हटा दिया। २०वीं शती में विभिन्न जनगण के बीच संपर्क में अंग्रेज़ी और रूसी भाषाओं की भूमिका बहुत बढ़ गयी है।

किसी भाषा का उन जनगण के बीच व्यापक प्रसार, जिनके लिए यह मातृभाषा नहीं है, निस्संदेह, विभिन्न जनगण की संस्कृतियों को एक दूसरी के समीप लाता है। अंततोगत्वा वे इतनी समीप आती हैं कि उनमें अर्थों की सामान्य व्यवस्था बन जाती है – इस हद तक सामान्य कि अनुवाद होने पर ये जनगण एक दूसरे की बात समझ सकें।

ज्ञान-पिपासा की चर्चा हमने भाषा से ही आरंभ की है, क्योंकि भाषा ही वह सामग्री प्रदान करती है, जिससे मनुष्य वास्तविकता के माडल बनाता है, क्योंकि मनुष्य द्वारा प्राप्त ज्ञान भाषा में ही व्यक्त होकर फैलता है, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलता है।

भाषा ने ही संसार के पहले सामान्य चित्र के लिए, ब्रह्मांड की व्याख्या हेतु बनाये गये पहले माडल के लिए सामग्री प्रदान की। इस माडल को कहते हैं – मिथक।

मिथक और उसकी धरोहर

आदिम समाज का विकास अत्यंत धीमी गति से हुआ, इसके ज्ञान-भंडार में पीढ़ी-दर-पीढ़ी जो संवृद्धि होती थी, वह इसके सदस्यों के लिए नगण्य थी।

वास्तविक ज्ञान के अभाव की पूर्ति में लोग अपनी कल्पना-शक्ति से कथाएं गढ़ते थे, जिनमें प्रकृति और सामाजिक जीवन की व्याख्या मूर्त बिंबों के रूप में की जाती थी। इन कथाओं को ही मिथक कहा जाता है (यूनानी भाषा के माइथॉस शब्द से, जिसका अर्थ है आप्तवचन, किंवदंती, कथा, बने अंग्रेज़ी शब्द मिथ के हिंदी पर्याय के रूप में मिथक प्रचलित हो गया है। यों हिंदी में इस अर्थ में कल्पकथा, पुराकथा, पौराणिक कथा, आदि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है–अनु०)। मानव-इतिहास के आरंभिक चरणों में सच्चे ज्ञान, कलात्मक बिंबों, नैतिक अनुदेशों और मानकों तथा धार्मिक धारणाओं का मिथकों में विचित्र अंत-र्गुंथन हुआ। मिथक समुदाय में स्वीकृत आचार-नियमों, रीतियों और अनुष्ठानों की व्याख्या करते थे, रात और दिन का अर्थ, मानव की, औज़ारों और आयुधों, मनुष्य द्वारा उगायी जानेवाली वनस्पतियों और पालतू जानवरों की उत्पत्ति का रहस्य, पारिवारिक संबंधों का स्वरूप समझाते थे।

मिथकों की संपदा से संस्कृति की नींव बनी है। विश्व-साहित्य की आधार-शिला के नाते आज भी ये लोगों के जीवन में दखल रखते हैं। मिथक ऐसी रचनाएं हैं, जिन्हें ताजिक और भारतीय, उक्राइनी और फ़्रांसीसी, बच्चे और बड़े–सभी समझते हैं। मिथक आधुनिक मानव को भी जीवन की शिक्षा देते हैं, ये नैतिकता के सर्वाधिक संक्षिप्त और संघनित पाठ हैं।

विभिन्न स्थितियों में शब्द अपना ध्वनि-रूप पूर्ववत बनाये रखकर प्राय: नये अर्थ पा लेते हैं। जब हम कहते हैं "प्राचीन यूनान के मिथक", तो हमें हर्क्युलिस के पराक्रमों की कथाएं याद आती हैं। किंतु "मिथक" शब्द यूरोपीय भाषाओं में "मिथ्या" के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है–ऐसी बात के अर्थ में, जो कोरी कपोल-कल्पना हो, जो सत्य की कसौटी पर खरी न उतरे, जैसे कि "उड़न तश्तरियों" का मिथक, "श्वेत नस्ल की श्रेष्ठता, दूसरी नस्लों पर प्रभुत्व के अधिकार" का मिथक।

शोधकर्ताओं के लिए मिथक की अवधारणा बहुत ही व्यापक और गहन है।

मिथक की रचना उन लोगों ने की, जो संसार का बोध पाने, उसे समझने, उसमें अन्योन्यसंबंध देख पाने, कारण और कार्य ढूंढ़ पाने की चेष्टा कर रहे थे। मिथक विश्व की पहली प्राग्वैज्ञानिक व्याख्या है, जिसमें विश्व की भावनात्मक अनुभूति अभिन्न रूप से घुली-मिली हुई है।

विश्व की व्याख्या के नाते मिथक विज्ञान का पूर्ववर्ती था, विज्ञान के पहले

अंकुर मिथक में ही फूटे ; विश्व की भावनात्मक अनुभूति के नाते मिथक ने मनुष्य पर प्रभाव डालने के कलात्मक साधन रचे, जिन्हें कला ने उससे ग्रहण किया ; अनेक विशेषज्ञों के मत में तो आरंभ में कला मिथक का एक तत्व ही थी।

सैकड़ों पीढ़ियों ने जीवन-अनुभव संचित किया और उसे मिथकों में संजोये रखा।

गोत्र-समाज में व्यक्ति की स्वतंत्रता अनेक "स्वाभाविक" वर्जनाओं द्वारा सीमित थी। मिथक इन वर्जनाओं की व्याख्या करते हैं। विभिन्न जनगण के मिथकों में एक आश्चर्यजनक वात पायी जाती है: मिथकों के देवताओं की शक्ति और लोगों पर उनकी सत्ता स्वीकार करने के साथ-साथ इन देवताओं का मज़ाक़ उड़ाया जाता है। देवता वही पाप करते हैं, जिनके लिए वे लोगों को दंड देते हैं। वेशक, यह सामाजिक जीवन के यथार्थ चित्र का प्रतिविंव है, जव आरंभिक वर्गीय समाज में क़वीले या राज्य में व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी मुखिया और राजा स्वयं यह व्यवस्था भंग करने लगते हैं।

अनेक वैज्ञानिक यह मानते थे कि देवताओं का उपहास मिथकों में तव होने लगा, जव आद्य मिथक का स्थान परिष्कृत और विकसित कर्मकांड ने ले लिया। किंतु नवीनतम शोधकार्यों से यह पता चला है कि देवताओं के प्रति व्यंग्यात्मकता अति प्राचीन मिथकों में भी पायी जाती है। यहां हम इस तथ्य के सभी संभाव्य कारण न गिनाकर बस इतना इंगित करना चाहेंगे कि लोगों द्वारा अपना विश्वबोध और विश्व-अनुभूति व्यक्त करने के सार्वभौम साधन के नाते मिथक हास्य-विनोद के लिए भी द्वार खोलता था—उस मानवीय भावना के लिए, जो आज तक लोगों की जीने में मदद करती है। देवताओं पर हंसने की संभावना लोगों को इस अहसास से मुक्त नहीं करती थी कि देवता उनके भाग्य-विधाता है, हां, इससे उन्हें देवताओं की यह सत्ता सह सकने में मदद अवश्य मिलती थी।

मिथकों की एक और विशेषता यह है कि एक ही मिथक के भिन्न-भिन्न रूपांतर मिलते हैं, इनमें एक ही वस्तु अथवा परिघटना की कल्पना नाना रूपों में की जाती है। उदाहरणतः, मिस्रवासी आकाश की कल्पना एक गाय के रूप में करते थे, जिसकी चार टांगें चार दिशाएं हैं ; साथ ही यह नूत देवी थी, जिसे अपने प्रेमी—पृथ्वी के देवता—से ज़वरदस्ती अलग किया गया है ; इसके साथ-साथ वे आकाश की कल्पना एक नदी के रूप में भी करते थे, जिसमें सूर्य, चंद्रमा और तारों की नौकाएं विचरती हैं। ये तीनों विंव साथ-साथ अस्तित्वमान

थे – एक स्तुति में, एक ही चित्र में ये बिंब एकसाथ पाये जा सकते हैं।

प्राकृतिक परिघटनाओं के बारे में प्राचीन लोगों की इतनी भिन्न-भिन्न धारणाओं को कैसे समझा जाना चाहिए? बात यह है कि किसी परिघटना के प्रमुख लक्षणों को जितने अधिक रूपकों से व्यक्त किया जाता है, उतनी ही यह परिघटना स्पष्ट और बोधगम्य हो जाती है। ऐसे रूपकों, बिंबों में प्रथम दृष्टि में जो विरोधाभास प्रतीत होता है, वह भी अंततोगत्वा पूरे चित्र को अधिक बहुपक्षीय बनाता है। सो, गाय, पृथ्वी-देवता की प्रेयसी नूत और नदी – आकाश के ये नाना बिंब मिथकीय दृष्टि में परस्पर विरोधी नहीं हैं, अपितु आकाश के सम्यक चित्र की सृष्टि करते हैं, उसके बोध में सहायक हैं।

मिथक-रचना के काल में खोजी गयी कलात्मक युक्तियां कला की सेवा करती आयी हैं और आगे भी करती रहेंगी। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मिथकीय चिंतन के साथ-साथ विश्व के यथार्थपरक संज्ञान और बोध का सहअस्तित्व रहा है। मिथकीय चिंतन में जहां भावनात्मक और साहचर्यमूलक तत्व की प्रमुखता थी, वहीं यथार्थपरक संज्ञान में तार्किक तत्व की।

ज्यों-ज्यों मानव-समाज का विकास होता है, मनुष्य वस्तुगत जगत की नियमसंगतियों का ज्ञान पाता जाता है, बाह्य शक्तियों पर उसका अधिकार बढ़ता है और इस प्रकार उस आधार का क्षरण होता है, जिस पर मिथक के भवन का निर्माण होता है। तार्किक चिंतन के विकास में एक अवस्था ऐसी आती है, जब आद्य मिथकों की बुनियाद पर धर्म के निरूपण की जटिल प्रक्रिया होती है। बेशक, धर्म की उत्पत्ति के लिए सामाजिक-राजनीतिक और वर्गीय कारण भी विद्यमान होते हैं।

धर्म और मिथक के संबंध का प्रश्न काफ़ी जटिल है और विशद गवेषणा का विषय है। एक बात निश्चित तौर पर कही जा सकती है: प्रत्येक धर्म में मिथक एक अनिवार्य तत्व के रूप में विद्यमान होता है। बौद्ध, ईसाई और इस्लाम– इन तीनों विश्व-स्तर के धर्मों ने अपने उद्भव-काल में अनेक प्राचीन मिथकों के कथानकों को आत्मसात किया और कई नये मिथक रचे।

प्राचीन मिथकों के अवशेष केवल धर्मों में ही नहीं पाये जाते। मानवजाति की आधुनिक संस्कृति में भी इन मिथकों के बिंब गुंथे हुए हैं। प्राचीन यूनान में नौ कला-देवियां मानी गयी थीं। २०वीं शती में सिनेकला का प्रादुर्भाव हुआ, तो इसे दसवीं कला-देवी कहा जाने लगा। यूरोप में महाबली पुरुष की तुलना

हर्क्युलिस से की जाती है, तो भारत में भीम से। कोई भी देश ले लीजिये, उसकी लोककथाओं, मुहावरों-लोकोक्तियों, यहां तक कि आधुनिक भाषाओं के अनेक शब्दों में भी मिथकों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। किसी भी देश के साहित्य को अच्छी तरह समझ पाने के लिए उस देश के मिथकों को कम से कम सरसरी तौर पर जानना आवश्यक है। अब तो लेखक अपनी रचनाओं में मिथकों के बिंबों और उपमाओं को ही नहीं लेते, बल्कि वास्तविकता के प्रति मिथकीय उपागम भी अपना रहे हैं। उदाहरण के लिए, कोलाम्बिया के विलक्षण लेखक गब्रीएल गार्सिया मार्केस ने अपने उपन्यास 'सौ एकाकी वर्ष' (कटघरे में क़ैद हज़ार दिन) में रेड इंडियनों के मिथकों का प्रयोग तो किया ही है, साथ ही यह सारा उपन्यास मिथकीय विश्व-अनुभूति में पगा हुआ है। मार्केस के शब्दों में, उनकी चेष्टा यह थी कि "लैटिन अमरीकी साहित्य लैटिन अमरीकी जीवन के अनुरूप हो, जिसमें क़दम-क़दम पर कल्पनातीत बातें देखने को मिलती हैं"।

मिथकों का, या सही-सही कहा जाये तो, मिथकों पर आधारित आद्य धर्म का विकास होने पर मानव-इतिहास में पहला विशिष्ट व्यवसाय भी बना—झाड़-फूंक, टोना-टोटका, जादू-मंतर और, अंततः, विभिन्न अनुष्ठान, पूजा-पाठ संपन्न करने का व्यवसाय। इस व्यवसाय के लोगों को क़बीले या जाति के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य—अलौकिक जगत के साथ, पितरों, देवताओं के साथ संपर्क का कार्य—सौंपा गया।

१८वीं सदी के फ़्रांसीसी भौतिकवादी दार्शनिक मध्य युग के अनेक विलक्षण चिंतकों की ही भांति इस व्यवसाय के लोगों को उच्च कोटि के प्रवंचक मानते थे और कहते थे कि उनकी प्रवंचना के फलस्वरूप ही धर्म प्रकट होता और बना रहता है।

एस्कीमो और पपुआ लोगों, आस्ट्रेलिया के मूलनिवासियों और ब्राज़ील के रेड इंडियनों—इन सभी के ओझाओं और जादूगरों, टोनहायों के व्यवहार में नृजातिविज्ञानियों ने प्रवंचना के तत्व पाये हैं।

मध्य आस्ट्रेलिया के अरंदा क़बीले में स्त्रियों और बच्चों के मन में तुआ-निराका नामक रौद्र देव का डर बिठाया जाता था। यह कहा जाता था कि तुआ-निराका विशेष अनुष्ठानों के स्थानों की रक्षा करता है और यदि कोई अनधिकारी व्यक्ति इन स्थानों के पास जाता है, तो वह उसके प्राण हर लेता है। लेकिन बालक जब बड़ा हो जाता था और उसे वयस्क पुरुषों की श्रेणी में प्रविष्ट करने का संस्कार

पूरा हो जाता था, तब उसे यह बताया जाता था कि ऐसा कोई भूत नहीं है। साथ ही उसे यह वचन भी देना होता था कि क़बीले में जिनका उपरोक्त संस्कार नहीं है, उन लोगों के मन में वह तुआनिराका के प्रति आस्था बनाये रखेगा। इस प्रकार लोगों को जान-बूझकर भ्रम में डालने के, ऐसी प्रवंचना के अगणित उदाहरण अतीत और वर्तमान में मिल सकते हैं।

किंतु यह प्रश्न इतना सीधा-सादा नहीं है, जितना कि पहली दृष्टि में लगता है। ओझा, टोनहाया, पुरोहित की लोगों के बीच प्रतिष्ठा, उसका प्रभाव केवल प्रवंचना पर ही आधारित नहीं थे।

बीस वर्ष तक संसार के विभिन्न भागों में ओझाओं-जादूगरों के कार्य का प्रेक्षण करते रहे अमरीकी डाक्टर गैरी राइट लिखते हैं:

"अपने क़बीले के लिए वह ज्योतिषी, कृषिविशेषज्ञ और मौसमविज्ञानी—सभी कुछ होता है। वह लोगों को यह बताता है कि कब बीज बोयें और कब फ़सल की कटाई शुरू करें। वह अपने क़बीले के लोगों के व्यक्तिगत मामले सुलझाता है और युवतियों को स्वच्छंद प्रेम के ख़तरों की चेतावनी देता है। सारत: वह अपने क़बीले की परंपराओं का रक्षक होता है, जो क़बीले के सदस्यों की नैतिक, शारीरिक और आत्मिक शुचिता का ध्यान रखता है।"

कनाडा की इखालमुत नामक जनजाति के ओझाओं के बारे में फ़ार्ली मोएट लिखते हैं:

"अनुष्ठानों के लिए दीक्षित ये लोग दुष्ट आत्माओं से अपने क़बीले के लोगों की रक्षा करते हैं। ... यह नहीं कहा जा सकता कि उनमें औरों से अधिक आत्म-विश्वास होता है... वे यह नहीं कहते कि आखेट में सफलता निश्चित कर सकते हैं, क्योंकि इखालमुत यह मानते हैं कि सभी जीवों में अपना स्वतंत्र इच्छा-बल होता है और उन पर न लोगों की इच्छा का प्रभाव पड़ता है, न देवताओं की इच्छा का। ओझा इस बात का भी दावा नहीं करते कि वे मौसम बदल सकते हैं।"

तो फिर इखालमुत ओझा क्या करते हैं?

एकदम व्यावहारिक सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने में मदद करते हैं—यह जानने के लिए कि जाड़े में जोखिमभरी यात्रा पर निकला जाये या नहीं प्रेतात्माओं के साथ "परामर्श" करते हैं, दैनिक जीवन की भांति-भांति की गुत्थियां सुलझाते हैं, इलाज करते हैं। अपनी बुद्धि और अनुभव से

उन्हें इसमें सहायता मिलती है, यहां भी वे परंपराओं के संरक्षक होते हैं। ध्यातव्य है कि इखालमुत लोग गोत्र-समाज के विकास की ऐसी अवस्था में हैं, जब एक व्यक्ति को दूसरों से बहुत अधिक ऊंचा उठाया जाना इन परंपराओं के ही विपरीत बैठता है, सो उनके यहां ओझा की सत्ता की, चाहे वह कितना भी अनुभवी क्यों न हो, सुनिश्चित सीमाएं होती हैं।

सभी क़बीलों और जनजातियों में ओझा, जादूगर का पद ग्रहण करने से पहले व्यक्ति को कठोर "अग्नि-परीक्षा" से गुज़रना पड़ता है। अफ़्रीका में इस पद के उम्मीदवारों को घंटों तक धुएं में रहना पड़ता है, उन्हें घायल किया जाता है, विषैले कीटों के डंक देर तक सहने होते हैं। भारत में टोडा लोगों में पुरोहित बनने के इच्छुक व्यक्ति को भी कठिन परीक्षा देनी होती है। सबसे पहले तो उसे वन में रात काटनी होती है। पुरोहितों में वह कौन-सा स्थान ग्रहण कर सकता है, इसके अनुसार उसे वस्त्र धारण करके या निर्वस्त्र होकर वन में जाना होता है और वहां सोना या सारी रात जागना होता है। वन से लौटने पर (अगर वह वहां मारा नहीं जाता) उसे कुछ वृक्षों की पिसी हुई पत्तियां खाकर पानी पीना होता है। ये पत्तियां अत्यंत कड़वी होती हैं।

इन सारी परीक्षाओं का उद्देश्य भावी ओझा, पुरोहित, आदि को "परमानंद लीन होना" सिखाना ही है, क्योंकि ऐसी अवस्था में ही "पितरों, प्रेतात्माओं, देवताओं से संसर्ग" हो सकता है। मनोवैज्ञानिकों के मत में, ऐसी अवस्था में दूसरे लोगों की मनोस्थिति को अपने मस्तिष्क में चित्रित करने की मनुष्य की क्षमता बहुत बढ़ जाती है—इसे मनोविज्ञान में परावर्तन कहते हैं। मनोविज्ञान और मनश्चिकित्सा के विशेषज्ञों के मत में, यदि ओझा में परावर्तन-क्षमता दूसरों से एक कोटि अधिक न हो, तो वह अपने क़बीले के मानसिक वातावरण और क़बीले के सदस्यों की चेतना को नियंत्रित नहीं कर पायेगा।

अन्य सब बातों के अलावा "अग्नि-परीक्षा" से क़बीले के लोगों की दृष्टि में ओझा की साख जमती है, वे इस बात का क़ायल हो जाते हैं कि जिस व्यक्ति ने स्वेच्छा से ऐसा कठोर जीवन व्यतीत करने का संकल्प किया है, वह औरों जैसा नहीं है। लोग उस पर बड़ी-बड़ी उम्मीदें लगाते हैं, उस पर आस्था रखते हैं, यह तो सभी जानते हैं कि आस्था चमत्कार दिखाती है। यह बड़ा प्रबल मानसिक कारक है, जिसका शरीरक्रिया पर अपार प्रभाव पड़ता है। ओझा, टोनहाया, आदि की शक्ति में विश्वास ने अनेक लोगों को निरोग किया है... और

बहुतों को मारा भी है। इसके उदाहरणों की कोई कमी नहीं है।

इसमें भी कोई संदेह नहीं कि प्राचीन काल में ही ओझाओं ने सम्मोहन कला में पारंगतता पा ली थे और वे अच्छे-खासे मनश्चिकित्सक भी थे। इसके अलावा चिकित्सा-उपचार के क्षेत्र में खोजों का ज्ञान भी वे रखते थे।

ओझाओं, पुरोहितों की वैचारिक भूमिका भी विशाल थी। वे रीतियों-परंपराओं को बनाये रखते थे और अनुष्ठानों का, पूजा-पाठ का दायित्व उन पर था। पहले सैद्धांतिक ज्ञान (गणित, खगोल-विद्या) के संचय तथा कला (काव्य, नृत्य, नाट्य और चित्रकला) के विकास में भी उनकी निश्चित भूमिका रही।

अंत में इतना और बता दें कि ओझाओं, टोनहायों, जादूगरों का उल्लेख केवल भूतकाल में करना सरलीकरण होगा। यह संस्था आज भी बनी हुई है। कुछ वर्ष पहले नाइजीरिया की राजधानी लागोस में ओझाओं का सम्मेलन हुआ था, जिसमें अफ़्रीकी और एशियाई देशों के साथ-साथ यूरोप और अमरीका से भी आये इस व्यवसाय के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। विकसित पूंजीवादी देशों में तो आजकल झाड़-फूंक, टोना-टोटका, गुह्यविद्या, आदि खूब फल-फूल रहे हैं, मुनाफ़ा कमाने का अच्छा-खासा साधन बन गये हैं।

पृथ्वी पर जन्मते हैं देवता

एक समय में कुछ भौतिकवादी विद्वान धर्म की शाश्वतता विषयक धर्म-तत्वज्ञों के कथन के मुक़ाबले में यह विचार रखते रहे थे कि अलौकिक में आस्था बहुत बाद में उत्पन्न हुई, कि पृथ्वी पर होमो सेपिएन्स के प्रकट होने से पहले यह आस्था नहीं थी। अब यह बात प्रमाणित मानी जा सकती है कि नियंडरथल मानव-समुदायों में भी मृतकों को काफ़ी पेचीदा रस्मों का पालन करते हुए दफ़नाया जाता था। अधिसंख्य इतिहासकारों और नृजातिविज्ञानियों के मत में, उस काल में ही अलौकिक की निश्चित धारणाओं के, किसी प्रकार की पूजा के अस्तित्व की प्राक्कल्पना को माने बिना इस तथ्य की व्याख्या नहीं की जा सकती। सोवियत अकादमीशियन अ० प० ओक्लाद्निकोव ने ऐसी क़ब्रों के अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि नियंडरथल मानव-समुदाय में पितर-पूजा, पशु-पूजा और सूर्य-पूजा प्रचलित थी।

अलौकिक शक्ति के बारे में धारणा लोगों के मन में बहुत पहले बनी थी। बात यह है कि प्रकृति के साथ संघर्ष में लोग प्रायः यह अनुभव करते थे कि वे असहाय हैं, उन्हें भारी क्षति उठानी पड़ती थी। किंतु उनका ज्ञान अभी बहुत ही सीमित था और वे इस प्रकार की असफलताओं का कोई तर्कसंगत कारण ढूंढ़ पाने में असमर्थ थे। इसके स्थान पर वे अतर्कसंगत, काल्पनिक व्याख्या करते थे। एंगेल्स के शब्दों में, "धर्म मनुष्यों के दिमाग़ों में उन बाह्य शक्तियों के काल्पनिक प्रतिबिंब के सिवा और कुछ नहीं होता, जो उनके दैनिक जीवन पर शासन करती हैं। इस प्रतिबिंब में पार्थिव शक्तियां अलौकिक शक्तियों का रूप धारण कर लेती हैं।"

यहां यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि लोगों के जीवन पर हावी शक्तियां उनके मन में जो भय जगाती थीं, उस भय की अभिव्यक्ति मात्र ही धर्म नहीं था। आदिम पूजा-पाठ निश्चित हद तक इन शक्तियों पर प्रभाव डालने का प्रयास थे। इन्हीं प्रयासों ने आदिम झाड़-फूंक, बलियों-आहुतियों और तंत्र-मंत्र को जन्म दिया। जटिलतम अनुष्ठान वे साधन बने, जिनकी सहायता से मनुष्य अलौकिक शक्तियों का वरदान पाने की चेष्टा करता था।

दूसरी ओर, अलौकिक शक्तियों और परलोक की धारणाओं का उपयोग आदिम समाज में आचरण-नियमों का पालन कराने, प्रथाओं को बनाये रखने तथा समाज को सुदृढ़ बनाने के लिए होता था। धार्मिक-मिथकीय बिंब प्राकृतिक शक्तियों का ही नहीं, नैतिक धारणाओं, अनुदेशों और नियमों का भी मूर्तिमान रूप होते थे। कालांतर में मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की औचित्यसिद्धि के लिए इनका उपयोग होने लगा।

धर्म के रूप अनंत हैं; लेकिन सुदूर उत्तर में बसे क़बीले जिन प्रेतात्माओं को मानते हैं, वे बहुत-सी बातों में अफ़्रीकी क़बीलों की प्रेतात्माओं की याद दिलाती हैं। विश्व के प्रमुख धर्मों की सारी बाह्य असमानता के बावजूद न केवल उनके मूल में समानता है, बल्कि अनेक लक्षणों में भी।

संसार के बिल्कुल भिन्न-भिन्न कोनों में धर्मों में जो आश्चर्यजनक समानता हम पाते हैं, उसका कारण सर्वप्रथम यह है कि मानवजाति एक है, पृथ्वी के अलग-अलग भागों में सामाजिक विकास की प्रक्रियाओं में समानता है और मनोविज्ञान के नियम सभी लोगों के लिए एकसमान हैं।

संसार के सभी सांस्कृतिक-ऐतिहासिक भागों में धार्मिक धारणाओं का विकास,

मुखौटे पहनकर किया जानेवाला आनुष्ठानिक नृत्य (अफ़्रीका)।

जहां तक हम जानते हैं, प्रायः एकसमान रूप से हुआ, हां, ब्योरों में, गौण वातों में असंख्य भेद और अंतर आये। दक्षिणी एशिया, उत्तरी अमरीका और मध्य अफ़्रीका में भी आस्ट्रेलिया की ही भांति हम गणचिह्नों (टोटेमों) की पूजा पाते हैं। प्राचीन भारत, यूनान और मैक्सिको के देवी-देवता मिलते-जुलते हैं और इनकी पूजा के अनुष्ठानों में भी वहुत समानता है। इस्लाम और ईसाई धर्म में वहुत-सी वातें एक जैसी हैं। दोनों धर्मों में एक जैसे "अपधर्म" हुए, सुधार आंदोलन चले। उदाहरणतः, ८वीं शती में ईसाई धर्म के तत्कालीन केंद्र वैजंतिया में देवमूर्तियों और देवचित्रों की पूजा के समर्थकों तथा विरोधियों के वीच घोर संघर्ष चल रहा था। मुसलमानों के यहां कोई मूर्तियां नहीं होतीं, इस्लाम में तो लोगों और पशु-पक्षियों के चित्र तक वनाने की सख़्त मनाही है। किंतु साथ ही सच्चे मुसलमान मक्का में कावा में रखे संगे-असवद पर (यह अत्यंत प्राचीन काल में कभी पृथ्वी पर गिरा उल्का पिंड है), पैग़ंवर मुहम्मद और उनके परिवार के सदस्यों तथा अनेक पीरों-फ़क़ीरों के दरगाहों, मज़ारों पर सिजदा करते हैं। समय-समय पर इस "वुतपरस्ती" के ख़िलाफ़ भी ज़बरदस्त आंदोलन चलते रहे हैं। १८वीं शती में और १९वीं शती के आरंभ में अरवों के वहहावी संप्रदाय ने इस्लाम के पवित्र नगरों मक्का, मदीना और मशहद पर क़ब्ज़ा कर लिया और इनमें हज़रत मुहम्मद की दरगाह समेत कई पवित्र दरगाहों को नष्ट कर दिया, संगे-असवद को तोड़ डाला (वाद में इसे जोड़कर फिर से अपने स्थान पर लौटाया गया)।

धर्म वास्तविकता का काल्पनिक ही सही, लेकिन होता सदा प्रतिविंव ही है, सो इस वास्तविकता के वदलने के साथ, मानव-समाज के विकास के साथ वह भी वदलता है।

मनुष्य का जीवनयापन प्राकृतिक संपदा के हस्तगतकरण पर निर्भर होता है, आखेट उसके लिए नितांत महत्वपूर्ण होता है, तो वह अपने पशु-पूर्वज की पूजा करता है। जव जीवनयापन उत्पादन पर आधारित होने लगता है, समाज का संस्तरों में, अमीरों-ग़रीवों में विभाजन होता है, वर्गीय समाज वनता है और मनुष्य अपनी शक्ति अनुभव करता है, तो उसके देवी-देवताओं में वलवान पशुओं के लक्षण नहीं रहते, वे शक्तिसंपन्न मनुष्यों की ही अनुकृति वनने लगते हैं।

पूरव के स्वैरतंत्रों और रोमन साम्राज्य में, जहां सर्वशक्तिशाली सम्राट का शासन होता था, एकमात्र ईश्वर का विचार विजयी हुआ।

बौद्ध, ईसाई और इस्लाम – तीनों धर्म सारी मानवजाति को एक सूत्र में पिरोने, उसे अलग-अलग करनेवाली दीवारें तोड़ने का संकल्प लेकर चले। जातीय भेद और कभी-कभी वर्ग-भेद भी निरर्थक और महत्वहीन घोषित कर दिये गये, क्योंकि "सभी लोग ईश्वर की संतान हैं", सो "सभी लोग भाई-वंधु हैं"। "न कोई यूनानी है, न यहूदी" – ईसाई धर्म ने कहा। वौद्ध धर्म ने वर्ण-व्यवस्था को सारहीन घोषित किया। इस्लाम ने अपने अनुयायियों और "काफ़िरों" के वीच तो स्पष्ट विभाजन रेखा खींची, किंतु साथ ही इस वात पर ज़ोर दिया कि सभी मुसलमान समान हैं। इस्लाम के आरंभिक इतिहास में वास्तव में ही नवप्रवर्तित अनुयायी की न जाति का और न ही नस्ल का भी कोई महत्व था।

किंतु समय वीतने के साथ-साथ धर्म अपने इन आरंभिक सिद्धांतों से हटते जाते हैं। वे न केवल नयी दीवारें खड़ी करते हैं (अपने धर्म के और विधर्मी लोगों के वीच, पुरोहितों और "सांसारिक" लोगों के वीच, पुरोहितों के सोपान-क्रम की विभिन्न श्रेणियों के वीच), वल्कि पुराने विभाजन और भी अधिक गहरे वनाते हैं – वर्गों और श्रेणियों में विभाजन को, विभिन्न जातियों और नस्लों के लोगों के वीच भेदों को धर्म के नाम पर ही उचित ठहराया जाने लगता है।

वैसे, वर्गाधारित समाज में धर्म को केवल इस प्रकार्य तक ही सीमित मानना भी ठीक न होगा। वास्तव में तो इतिहास के ठोस यथार्थ में हम अनेक संक्रमणात्मक रूप पाते हैं: विकास की प्राक्वर्गीय अवस्था में स्थित अनेक जनगण में धर्म के शोषण-प्रकार्य के पहले अंकुर देखे जा सकते हैं, इसके विपरीत, विकसित वर्गीय समाजों में भी प्रायः आदिम धर्मों के अवशेष पाये जाते हैं; कहीं वे कालांतर की धार्मिक प्रणालियों में अंतर्गुंथित होकर और कहीं समाज के जीवन में किन्हीं प्राचीन रूढ़ियों से जुड़कर आज तक बने रहे हैं। इसीलिए प्रायः किसी भी धर्म में ऐसी बातें पायी जा सकती हैं, जो आज भी वड़ी क्रांतिकारी लगती हैं, विशेषतः, यदि उन्हें ऐतिहासिक संदर्भ से हटाकर देखा जाये। उदाहरणतः, ईसा के पट्टशिष्य अपने प्रवचनों में कहते थे: "जो मेहनत नहीं करता, वह रोटी भी न पाये।"

धार्मिक विचारधारा के प्रभुत्व की अनेक शतियों में दासों और दासस्वामियों, किसानों और सामंतों, बुर्जुआ वर्ग और सामंतों के वीच वर्ग-संघर्ष भी धार्मिक रूप ही ग्रहण करता रहा। धार्मिक नारों को लेकर हुए कितने ही विद्रोहों के उदाहरण इतिहास में मिलते हैं। ईसाइयों के अपधर्मों ने सामंतवादी यूरोप को
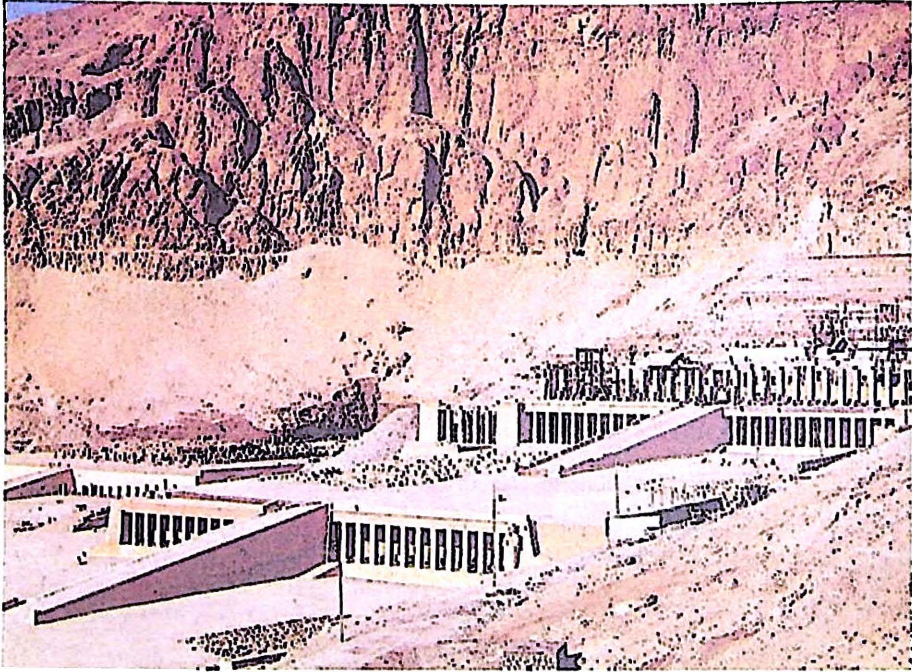
प्राचीन मिस्र का एक मंदिर।

आंदोलित किया, इस्लाम के अपधर्मों ने पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ़्रीका को। अपधर्म का अर्थ अधिकृत धर्म से विचलन मात्र था – धार्मिक सिद्धांतों, अनुष्ठानों, आचरण-नियमों में अधिकृत मत से हटना मात्र ही। लेकिन असल बात यह है कि ईसा को केवल ईश्वर, केवल मनुष्य या मनुष्य और ईश्वर – दोनों माना जाये, कितनी उंगलियों से सलीब का निशान बनाया जाये – ऐसे मसलों को लेकर चलनेवाले अधिकृत और अनाधिकृत मतों के बीच विवादों की तह में सदा गंभीर सामाजिक कारण होते थे। मध्ययुगीन अपधर्म सामंतों के प्रभुत्व के विरुद्ध किसानों और शिल्पियों के विद्रोह की वैचारिक अभिव्यक्ति थे और, निःस्संदेह, सामंतवादी व्यवस्था की जड़ें हिलाते थे, उसके पतन का क्षण निकट लाते थे। १४वीं शती के इंगलैंड में वाट टेलर के पीछे चलती किसानों और कारीगरों की भीड़ पूछती थी: "जब आदम हल चलाता था और हौवा सूत कातती थी, तब कौन कुलीन था?"

यहां एक विरोधाभास की ओर हम पाठकों का ध्यान दिलाना चाहेंगे। एक ओर, धर्म का प्रभाव पूरे समाज के और उसके प्रत्येक सदस्य के जीवन के प्रायः सभी पहलुओं में व्याप्त रहा है, दूसरी ओर, नृजातीय और समाजवैज्ञानिक अनुसंधानों से अनेक ऐसे तथ्यों का पता चलता है, जो इस बात का प्रमाण हैं कि किसी भी धर्म को माननेवाले जनसाधारण के मस्तिष्क में अपने धर्म के सिद्धांतों की कल्पना अस्पष्ट ही होती है। आधुनिक युग को ही लें। संयुक्त राज्य अमरीका में गैलप इंस्टीट्यूट द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण में जिन लोगों से प्रश्न पूछे गये, उनमें ६० प्रतिशत त्रियेक परमेश्वर (ट्रिनिटी) के तीन रूप – पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा – तक नहीं गिना सके, ७९ प्रतिशत बाइबिल की पुराने नियम की पुस्तक (ओल्ड टेस्टामेंट) के एक भी पैग़ंबर का नाम नहीं गिना सके। एक अन्य सर्वेक्षण में आधे से अधिक लोग इंजील (सुसमाचार) के चार रचयिताओं के नाम नहीं बता सके। ध्यान रहे कि ये प्रश्न ऐसे लोगों से पूछे
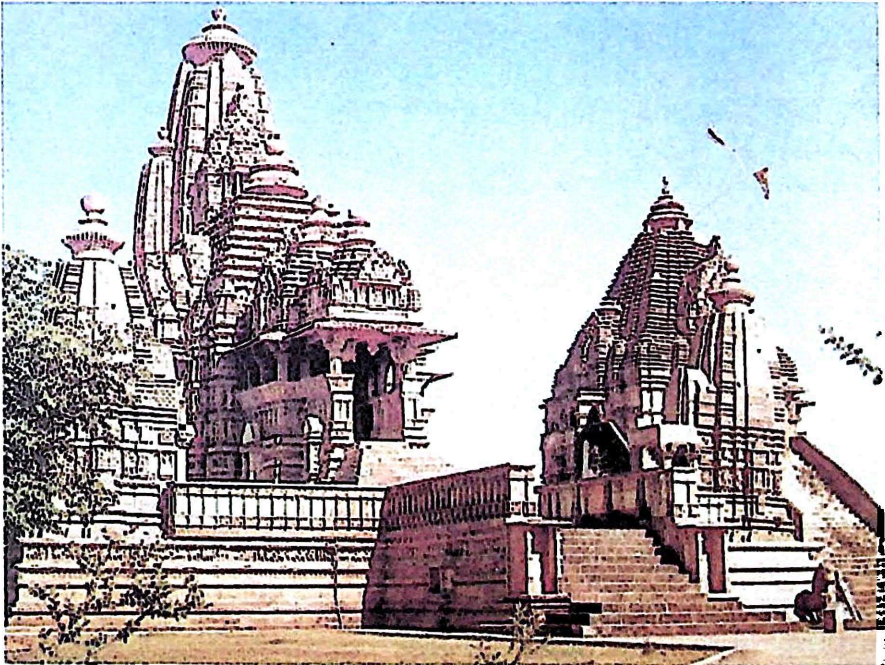
खजुराहो का मंदिर।

गये थे, जो पूरे विश्वास के साथ अपने आप को ईसाई धर्म का सच्चा अनुयायी मानते हैं, जिनमें से अनेक ने वचपन में स्कूल में धर्म-शिक्षा के पाठ पढ़े थे।

अक्सर एक आम धर्मानुयायी के लिए यह वताना भी कठिन होता है कि उसका धर्म दूसरे से किस वात में भिन्न है। एक कहता है मैं आर्थोडॉक्स ईसाई हूं, दूसरा अपने को कैथोलिक और तीसरा प्रोटेस्टेंट वताता है। लेकिन यह जानना चाहो कि उनमें भेद क्या है, तो वात वस मास्को के धर्माध्यक्ष, रोम के पोप और प्रोटेस्टेंट संप्रदाय के प्रवर्तक मार्टिन लूथर की चर्चा तक ही सीमित रह जाती है।

धर्मसिद्धांतों के मामले में ऐसा अज्ञान ईसाइयों में ही नहीं, दूसरे धर्मों के अनुयायियों में भी पाया जाता है। सो, आम धर्मानुयायियों के वारे में यह कहना कठिन है कि उनका कोई सुस्पष्ट, सुघड़ धार्मिक विश्व-दृष्टिकोण होता है।

अंत में हम एक वार फिर अपना यह मत प्रकट करना चाहेंगे कि सभी विभिन्नतम धर्म एकसमान सामाजिक और मनोवैज्ञानिक नियमों द्वारा शासित होते हैं। संस्कृति की अन्य अनेक परिघटनाओं की ही भांति धर्म भी यह दिखाता है कि मूलत: सामाजिक-आर्थिक कारणों द्वारा निर्धारित अपने एकसमान प्रकार्य वह कितने अलग-अलग रास्तों से निभाता है।

कला क्या है?

मानवजाति के इतिहास में वहुत कुछ काल-कवलित हो गया है, या काल ने उसे अभी हमारी दृष्टि से छिपा रखा है। सहस्रों वर्ष के काल-खंडों के वारे में हम प्राय: अंधकार में हैं, हम सदा यह नहीं वता सकते कि लोगों के साथ कव, क्या, कहां, कैसे हुआ, क्योंकि भौतिक संस्कृति के वहुत ही कम चिह्न शेष वचे हैं। किंतु खोज जारी है! कला को ही लें। अभी सौ साल पहले तक इसकी उत्पत्ति का संवंध आधुनिक सभ्यता के उदय के साथ जोड़ा जाता था, दूसरे शब्दों में, इसे केवल ६-८ हज़ार साल पुराना माना जाता था। और जव गुफाओं में भित्तिचित्रों की खोज करनेवालों ने घोषणा की कि ये चित्र पाषाण युग के मानव ने वनाये थे, तो एक स्वर में इस पर अविश्वास और आक्रोश तक प्रकट किया गया। इस वात पर असहमति व्यक्त करनेवालों में ऐसे विद्वान भी थे, जिनका नाम आज भी गहरे आदर से लिया जाता है। सच्चे वैज्ञानिकों ने अंतत: तथ्यों

को स्वीकार किया और खुलेआम यह माना कि वे भ्रम में थे। स्पेन की अल्तामीरा गुफा में हुई खोजों तथा इसके बाद की खोजों की बदौलत यह मानना पड़ा कि कला का उद्भव उत्तर पुरापाषाण युग में हुआ, अर्थात उस काल में, जब आधुनिक मानव – होमो सेपिएन्स – की भी उत्पत्ति हुई।

इसका अर्थ तो यह हुआ कि होमो सेपिएन्स इस संसार में प्रकट होते ही अनुपम कलाकृतियों की रचना करने लगा! ये गुफा-चित्र संग्रहालय के प्रदर्श मात्र नहीं हैं, हमारे विचार में तो आज की कलाकृतियों को जिन सौंदर्यबोधात्मक कसौटियों से परखा जाता है, उन पर भी ये चित्र खरे उतरते हैं।

अपनी सारी योग्यताओं के बावजूद होमो सेपिएन्स कला-कार्य में प्रवृत्त होकर तुरंत ही (भौगोलिक काल की दृष्टि से) कौशल के ऐसे शिखर पर नहीं पहुंच सकता था। वैसे ही, जैसे कि मेधावी से मेधावी कलाकार भी बचपन में ही किसी अमर कृति की रचना नहीं कर सकता, इसके लिए शिक्षा और अनुभव आवश्यक होते हैं। यदि होमो सेपिएन्स "वयस्क कलाकार" था, तो उसके पूर्वज कला में प्रतिभावान "शिशु" होने चाहिए थे।

अनेक विद्वानों के मस्तिष्क में अनचाहे ही यह विचार आता रहा था और अंततः इसकी पुष्टि भी हुई। इस बात के प्रमाण मिले कि नियंडरथल मानव ने कला-कार्य की दिशा में पहले क़दम उठाये थे। फ़्रांस की ला फ़ेरासी गुफा के १ लाख से ८० हज़ार वर्ष ई० पू० की अवधि के संस्तरों में लाल और पीले खनिज रंग (गेरू) के टुकड़े मिले। इनमें से कुछ के सिरे घिसे हुए थे और कुछ पर चक़मक़ के औज़ार से रगड़े जाने के चिह्न पाये गये। इसी गुफा में पत्थर की एक सिल मिली, जिस पर लाल गेरू से बनी आड़ी रेखाओं और धब्बों के कुछ अंश बचे हुए हैं। यहीं पर तथा ले मोस्तारी गुफा में पशुओं की अस्थियां मिली हैं, जिन पर किसी नुकीली चीज़ से आड़ी रेखाएं बनी हुई हैं, जो एक प्रकार से अलंकरण का बीजरूप हैं। ऐसी ही खोजें दूसरे देशों में भी हुई हैं।

ये सब खोजें इस बात की साक्षी हैं कि नियंडरथल मानव अपने चारों ओर की प्रकृति की वस्तुओं का ललित कार्यों के लिए उपयोग करने के पहले प्रयास कर रहा था। अकादमीशियन ओक्लाद्निकोव इन प्रयासों में कलात्मक कल्पना और कला-कार्य के पहले अंकुर देखते हैं। 'कला का प्रभात' शीर्षक अपनी पुस्तक में वह लिखते हैं कि ला फ़ेरासी गुफा के निवासी ने उस समय के लिए "एक अभूतपूर्व और कल्पनातीत कार्य किया: पत्थर के सपाट टुकड़े पर उसने जान-

पुरापाषाण युग का भित्तिचित्र। घोड़े।

बूझकर रंग पोत दिया... रंग को पोता भर नहीं, बल्कि सिल को रंगा, उस पर कुछ सममित आड़ी रेखाएं खींचीं।... आदि मानव के सहस्रों वर्ष श्रम-कार्य-कलाप की प्रक्रिया में उसका चिंतन विकसित हुआ, मानस समृद्ध हुआ और, अंततोगत्वा, इसका परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक उपयोग और आवश्यकता की सीमाओं से वाहर निकल पाना संभव हुआ। मनुष्य ने ऐसी वस्तु बनायी, जो न ज़मीन खोदने के लिए थी, न जानवरों को मारने या शिकार में मारे जानवरों को चीरने-काटने के लिए। वह एकमात्र प्रत्यक्ष आवश्यकता, जिसे यह वस्तु पूरी करती थी, मनुष्य की भावनाओं और विचारों को, उसकी सृजन-कल्पना को, उसके मस्तिष्क में वने बिंबों को मूर्तरूप में अभिव्यक्त करने की आवश्यकता थी।" आदि मानव द्वारा अपने पर्यावरण की परिघटनाओं को सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया जाना सर्वप्रथम संज्ञान की और सूचना-प्रेषण की आवश्यकताओं से जुड़ा हुआ था। कहना न होगा कि इसके साथ ही चित्रित परिघटना के प्रति प्राचीन कलाकार का रुख और इससे संवंधित उसकी भावनाएं भी प्रकट हुए

बिना नहीं रह सकते थे। दूसरे शब्दों में, कलाकार द्वारा बनायी गयी कृतियां, वे चित्र रहे हों या मूर्तियां, केवल उसके विचारों का ही नहीं, भावनाओं का भी मूर्तरूप थीं। अतः, यह मानव-मस्तिष्क में बननेवाले कलात्मक बिंब थे।

कला के अंतर्य में बिंब ही प्रमुख होता है, चाहे हम संगीत को लें, या मूर्ति-कला अथवा नाट्यकला को। बिंब उसका सामान्यीकरण है, जो कलाकार वास्त-विकता में देखता है। हम उन विद्वानों से सहमत हैं, जो यह पाते हैं कि "कला की उत्पत्ति का मर्म बिंबात्मक-अमूर्त चिंतन का प्रस्फुटन ही था"। ऐसे बिंबात्मक-

प्राचीन मिस्र के एक मंदिर की विशाल मूर्तियां।

अमूर्त चिंतन से लेकर विकसित अमूर्त-तार्किक चिंतन तक बहुत बड़ी दूरी थी, जिसे पार करने में दसियों हज़ार साल लगे। किंतु इतना हमें मानना होगा कि विज्ञान के पथ के लिए एक प्रस्थान-बिंदु कला के जन्म के साथ अवश्य बन गया था।

संसार की अपनी छापों को मनुष्य अपने मस्तिष्क में संसाधित और व्यवस्थित करता था, कला इस व्यवस्था के बारे में उसकी धारणाओं को मूर्तित करती थी। किसी भी रूप और विधा की कृति का विशिष्ट लक्षण यह है कि वह सुगठित होती है। और इस गठन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्षण है लय, अर्थात इन या उन तत्वों की नियमित आवृत्ति। संगीत तो लय के बिना होता ही नहीं, किंतु चाहे लेखन-कला हो या चित्रकला, मूर्तिकला हो या वास्तुकला – सभी में लय आवश्यक है। और बिंब तो कला में वास्तविकता की स्वीकृति का उपाय और रूप, दोनों ही है, जिनकी विशेषता यह है कि इनमें भावना और विचार का ऐकात्म्य होता है।

पुरापाषाण युग की कला आखेटकों की कला थी। आदिम आखेटक अपने चारों ओर की उन वस्तुओं के बिंब गुफाओं की दीवारों पर अंकित करता था, जिनमें उसकी रुचि थी, जो उसे उद्वेलित करती थीं और जिनके साथ उसका सारा अस्तित्व ही जुड़ा हुआ था। आदिम कला के अनेक शोधकर्ताओं ने प्राचीन पशु-चित्रों के यथार्थपरक स्वरूप की ओर ध्यान दिलाया है।

साइबेरिया की लेना नदी के किनारे चट्टानों पर मिले प्राचीन चित्रों में घोड़े के चित्र का वर्णन अकादमीशियन ओक्लाद्निकोव इन शब्दों में करते हैं:

"अश्व-शिशु की आकृति साहसपूर्वक और उन्मुक्त भाव से बनायी गयी है। प्राचीन कलाकार ने निस्संकोच होकर एक ही रेखा खींचते हुए यह आकृति बना दी, लेकिन ऐसा करने में उसने जितने साहस का परिचय दिया, उतने ही भोलेपन का भी। लक्ष्य तो उसका यह था कि पशु की सच्ची आकृति उसके वास्तविक आकार में चित्रित करे, किंतु वह अपने विशाल चित्र के अनुपात सही-सही तय नहीं कर पाया, पूरे घोड़े और उसके अलग-अलग अंगों के बीच वास्तविक अनुपात नहीं दिखा पाया। विशाल, भारी-भरकम धड़ की तुलना में सिर और टांगें बहुत छोटी हैं। चार टांगों के स्थान पर केवल दो ही चित्रित हैं, जो घुटनों पर समान रूप से मुड़ी हुई हैं तथा जिनके सुम आदमी के पैरों की शक्ल के हैं।"

शास्त्रीय नृत्य प्रस्तुत करती नर्तकी (नेपाल)।

परंतु इसके साथ ही यह पूर्णतः स्पष्ट है कि यह बछेड़ा कौन-सी प्रजाति का है – यह विख्यात प्रझेवाल्स्की अश्व है: "वास्तव में अस्तित्वमान इस वन्य अश्व के सभी प्रमुख और सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्षण पूरी स्पष्टता के साथ उकेरे गये हैं: उसका भारी-भरकम, प्रायः वर्गाकार धड़, उसका उभारदार थूथन, लटकता-सा उदर, छोटी और मोटी टांगें, जिन पर लंबे घने बाल हैं तथा खूब लंबी, फूली-फूली पूंछ।"

इस प्रकार आदिम कला में जब कलाकार अपने कार्यभार को पूर्ण रूप से सही-सही नहीं निभा पाता, तब भी सटीकता और सामान्यीकरण का समन्वय होता है।

श्रम ने कला को जन्म दिया और कला ने श्रम को अलंकृत किया। अत्यंत प्राचीन औज़ारों पर भी हम यह देखते हैं कि किस प्रकार उनके निर्माता इस बात का ध्यान रखते थे कि, उदाहरणतः, पत्थर को संसाधित करके बनी छैनी न केवल एक औज़ार के प्रयोजन की सिद्धि करे, बल्कि उन आवश्यकताओं के भी अनुरूप हो, जिन्हें आज हम सौंदर्यबोधात्मक कहते हैं। जिस प्रकार आधुनिक डिज़ाइनर यह प्रयास करता है कि मशीन सुंदर हो, उसी प्रकार नियंडरथल मानव भी अपने औज़ारों को सुदर्शनीय बनाना चाहता था।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि हमें ज्ञात प्राचीनतम स्मारक चित्र हैं, तो क्या ललित कला ही सभी कलाओं में आद्य थी? नहीं, हम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा उत्तर एकतरफ़ा होगा, ऐसा मानना सरलीकरण होगा। बात यह है कि अभी कुछ समय पहले तक ऐसे कोई तथ्य उपलब्ध नहीं थे, जिनके आधार पर आदिम संगीत कला की चर्चा की जा सकती। किंतु हाल ही में चेर्नीगोव नगर के पास उक्राइनी पुरातत्वविदों को मैमथ की अस्थियों से बने पुरापाषाण-युगीन वाद्यों का एक पूरा "वृंद" मिला है। यही नहीं, वैज्ञानिक इनकी ध्वनि का पुनःसृजन कर पाने में भी सफल रहे हैं। प्रत्येक वाद्य से अलग-अलग सुर की ध्वनि निकलती थी। मैमथ की जांघास्थि का उपयोग आधुनिक काष्ठतरंग (ज़ाइ-लोफ़ोन) की भांति होता था, जबकि कपालास्थि ढोल का काम देती थी। लोक गीत-संगीत के प्राचीनतम रूपों की कुछ जानकारी हम गुफा-चित्रों और मूर्तियों से भी पा सकते हैं, क्योंकि ये एक प्रकार से गीत-संगीत रचनाओं को चित्रित करते हैं। वैसे, अनेक विद्वान यह मानते हैं कि आधुनिक कला से भिन्न आदिम कला विभिन्न विधाओं में विभाजित नहीं थी, वह एक अभिन्न समष्टि थी।
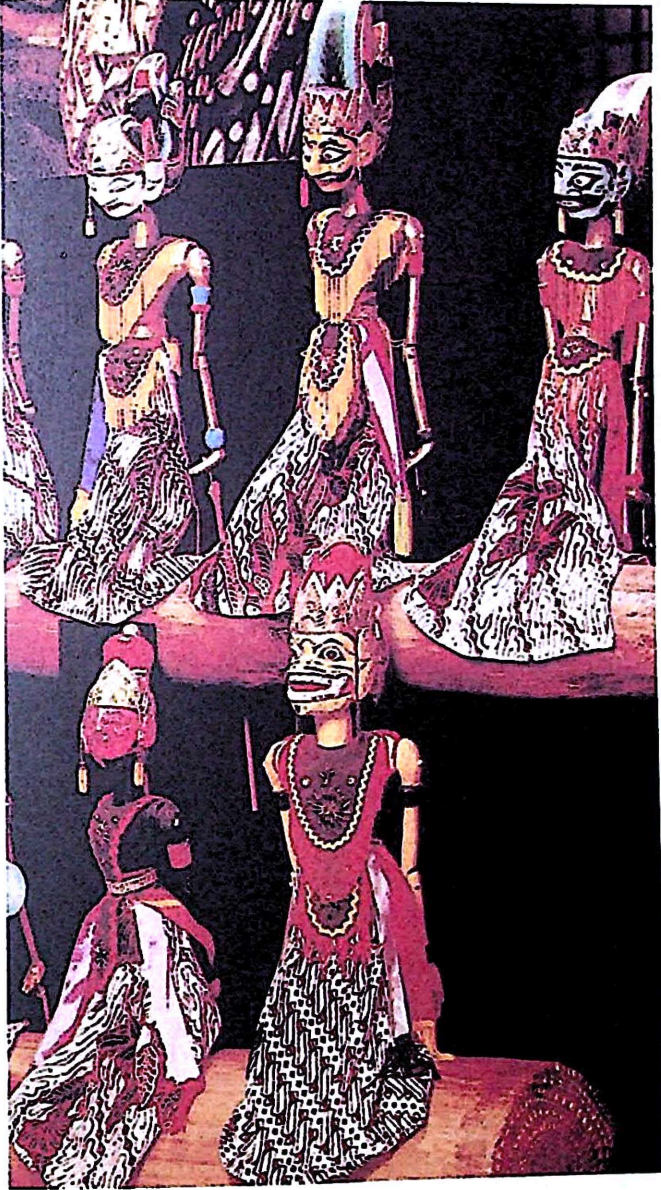
जापानी कठपुतलियां।

वर्तमान ओपेरा की भांति उसमें कवि और स्वरकार, अभिनेता और गायक का सृजन घुला-मिला होता था।

मानव-जीवन में एक बार प्रकट होकर कला ने फिर कभी उसका साथ नहीं छोड़ा। मनुष्य किन्हीं भी परिस्थितियों में क्यों न जीता रहा हो, कला की उसकी प्यास सदा अमिट रही है। तहखानेनुमा तंग कोठरियों में चर्बी के दीये की धीमी रोशनी में एस्कीमो लोग छोटी-छोटी अस्थि-मूर्तियां वनाते थे। यह पृथ्वी पर अपने ढंग की एकमात्र कला है।

सोवियत नृजातिविज्ञानी स० अरुत्यूनोव इसके वारे में लिखते हैं:

"मद्धिम प्रकाश के कारण शिल्पी को अपनी कृति आंखों के विल्कुल पास लाकर काम करना पड़ता था। वह यह भी जानता था कि उसकी कृति के दर्शक भी उसे बहुत पास से देखेंगे।... एस्कीमो मूर्ति में न शीर्ष होता है, न आधार, न अग्रभाग, न पृष्ठभाग। यह सच्चे अर्थों में गोलाकार मूर्ति होती है, जिसके रसास्वादन के लिए उसे हाथ में लेना चाहिए, ग़ौर से देखना, टटोलना, इधर-उधर घुमाना चाहिए। यही वात दैनिक प्रयोग की वस्तुओं पर भी लागू होती है। वरछी या डांड़ की मूठ का आकार कितना परिष्कृत और समृद्ध है, यह तभी अनुभव किया जा सकता है, जबकि यह वस्तु हाथ में ली जाये, उसे उंगलियों से टटोला जाये, तभी यह महसूस होता है कि उसका स्पर्श कितना सुखकर है, किस तरह उंगलियां खुद-व-खुद खांचों पर जा बैठती हैं और हथेली में उसके अदृश्य-से उभार पूरी तरह समा जाते हैं।"

पृथ्वी पर कला की विविधता आश्चर्यजनक है। इतनी असीम है यह कि लगता है इस क्षेत्र में लोगों के लिए एक दूसरे को समझ पाना असंभव है। जापान के 'नो' रंगमंच पर क्या हो रहा है, यह समझने के लिए एक विदेशी को विशेष ज्ञान होना चाहिए। जापानी भाषा और जापानी लोगों के रहन-सहन का, उनके आचार-व्यवहार, आदि का ज्ञान इसके लिए पर्याप्त नहीं है। इसके लिए तो यह पता होना चाहिए कि कौन-सी यादृच्छिक मुद्राएं और भंगिमाएं कौन-से भाव व्यक्त करती हैं, मुखौटों और पोशाकों के अलग-अलग भाग क्या वताते हैं। इसी प्रकार यदि कोई जापानी पहली वार प्रसिद्ध रूसी वैले देखता है, इससे पहले उसने कभी रंगमंच या टी० वी० अथवा सिनेमा के पर्दे पर बैले नहीं देखा है, तो वह भी अपने आप को एक कठिन स्थिति में पाता है। वैले नर्तकी भी यूरोपीय शास्त्रीय नृत्य की यादृच्छिक भाषा में सौंदर्य की वात कहती है। भारतीय

नृत्यों में गतियां और मुद्राएं यादृच्छिक संकेतों की कितनी जटिल प्रणाली प्रस्तुत करती हैं! जिस प्रकार विभिन्न भाषाओं में एकसमान अवधारणाओं के लिए अलग-अलग शब्द होते हैं, उसी प्रकार विभिन्न नृत्य प्रणालियों में एकसमान गतियां अलग-अलग भावनाएं और विचार व्यक्त कर सकती हैं। इस मामले में नृत्य की प्रस्तुति में मुखरित होनेवाला राष्ट्रीय चरित्र भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

महान रूसी लेखक निकोलाई गोगोल ने विभिन्न जनगण के नृत्यों का जो वर्णन किया है, वह इस कथन को स्पष्ट करता है। वह लिखते हैं: "स्पेनवासी वैसे नहीं नाचता, जैसे स्विट्ज़रलैंड का निवासी, स्कॉट वैसे नहीं, जैसे जर्मन, रूसी वैसे नहीं, जैसे फ़्रांसीसी, जैसे कोई एशियाई। एक ही देश के अलग-अलग प्रांतों में भी नृत्य बदल जाता है। उत्तरी रूसी का नाच वैसा नहीं होता, जैसा उक्राइनी का, दक्षिणी स्लाव का, पोलिश या फ़िन का; एक का नाच बोलता प्रतीत होता है, दूसरे का भावहीन; एक का नृत्य प्रचंड होता है, दूसरे का धीर-संयत; एक का नाच बोझिल और तनावमय होता है, दूसरे का हल्का-फुल्का, सुकोमल।"

संगीत पर तो यह बात, शायद, और भी अधिक हद तक लागू होती है। नृत्य की गतियों का भावार्थ आप पूरी तरह न समझ पायें, तो भी इन गतियों का लावण्य आपको आकर्षित करता है। किंतु संगीत के मामले में तो पृथ्वी-वासियों की "भाषाएं" एक दूसरी से इतनी भिन्न हैं कि विरले अपवादों को छोड़कर प्रत्येक "भाषा" उसे न समझनेवालों को आरंभ में कर्णकटु प्रतीत होती है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखकों में एक की 'आइन्स्टीन के लिए वायलिन' शीर्षक से एक विज्ञान-कथा कुछ वर्ष पहले छपी थी। इस कथा का काल्पनिक विचार यहां हमारे लिए रोचक नहीं है, हां, वास्तविकता से ली गयी सामग्री, जो इस कथा का आधार है, अवश्य रोचक है। कहानी का नायक कहता है: "देखो न, विभिन्न सुरों का कलात्मक संयोजन ही धुन है। पर यहां 'कलात्मक' शब्द का क्या अर्थ है, यह विश्वकोश के रचयिता नहीं जानते। ... मैं इधर कुछ पाठ्य-पुस्तकों और संदर्भग्रंथों के पन्ने पलटता रहा हूं। पता चला कि प्राचीन यूनान में ही स्वरसंगति से बड़े मनमाने ढंग से पेश आया जाता था, बाद में तो उसे अधिकाधिक विकृत किया जाने लगा, संगीत का छह बटा सात भाग काट-छांट डाला। शुद्ध सप्तक में पचासी स्वर होने चाहिए, रह गये हैं बारह। ये भी सभी परिवर्तनों का नगण्य अंश हैं। लेकिन हम खुश होते हैं–स्वरसंगति है। अरे भई,

यह कृत्रिम है। चीनी या जापानी चित्र मुझे पसंद आते हैं। लेकिन चीनी संगीत का मैं क्या करूं? उनके यहां तो स्वरग्राम ही दूसरा है! परंतु वहां भी स्वरों का कलात्मक संयोजन है। हमारे यहां सप्तक है, उसमें सात स्तरीय सोपान-क्रम है; उनके यहां स्वरों का अपना समाहार है और उसमें पांच स्तरीय सोपान-क्रम है। हमारे लिए यह अधिक क्यों नहीं? उनके लिए यह कम क्यों नहीं? ..."

उसका साथी अपनी ओर से कहता है:

"हां... हम विकृत संगीत का ही वादन और श्रवण करते हैं—चाहे पाइथागोरस* की दृष्टि से लो, चाहे पलेस्त्रीना** की दृष्टि से।"

फिर वह समझाता है कि "शुद्ध स्वरसंगम" क्या है:

"वह तव होता है, जब धुन में केवल ऐसे सुर ध्वनित हों, जिनकी तारता में दो, तीन, चार गुने का अंतर हो। स्वर तब शुद्ध और पारदर्शी प्रतीत होते हैं। ग्रैंड पियानो के ध्वनि-परास में सात सप्तक और बारह पंचमक आते हैं।... अब देखो कि सात सप्तक बारह पंचमकों के बराबर नहीं हैं, पर उन्हें ज़बरदस्ती बराबर कर दिया गया है। पंचमकों को छोटा कर दिया है।... शुद्ध स्वरसंगम विकृत हो गया है।... हेंदल का भी यही कहना था, चाइकोव्स्की भी समय-समय पर इससे बड़े दुखी होते थे और शल्यापिन भी।"

तो क्या संगीत प्रेमी स्वयं ही अपने को भ्रम में डालते हैं? कदापि नहीं। जिस प्रकार पृथ्वी पर सहस्रों भाषाओं और बोलियों का अस्तित्व हमें परेशान नहीं करता, उसी प्रकार विभिन्न संगीतों के अस्तित्व से भी परेशान होने की कोई वात नहीं है।

पूर्वी एशिया और ओशियाना में सात नहीं, पांच स्वर माने गये हैं।

यूरोप के अधिसंख्य देशों में समूहगान प्रचलित है। इटली और आस्ट्रिया के सीमावर्ती तिरोल प्रांत के निवासी अपनी विशेष कंठ-गायकी के लिए विख्यात हैं। दक्षिणी साइबेरिया में बसे तूवा जाति के लोगों में एक ही गायक द्विकंठीय गायन करता है। कुछ वर्ष पहले पेरू की गायिका इमा सुमक की बड़ी धूम मची थी। इसके कंठ में आश्चर्यजनक लोच थी, गाते समय वह अपना कंठ अतितार

---

* प्राचीन यूनानी दार्शनिक और गणितज्ञ ने संगीत शास्त्र के मूलभूत सिद्धांत भी निरूपित किये थे।

** १६वीं शती के इतालवी स्वरकार।

से मंद्र तक वदल सकती थी। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी यह गायन शैली अमरीका की प्राचीन गीत-संस्कृति पर आधारित है।

विश्व के विभिन्न ऐतिहासिक-सांस्कृतिक क्षेत्रों में वाद्यों की भी प्रचुर विविधता है। यूरोप में तथा एशिया के बड़े भाग में तंत्री और सुषिर वाद्य प्रचलित हैं। उत्तरी एशिया, अफ़्रीका और दक्षिण-पूर्वी एशिया में ताल वाद्य – ढोल, मृदंग, तवला, डफली, घड़ियाल, काष्ठतरंग, आदि – प्रमुख हैं।

काल-चक्र निरंतर घूमता है, समय बीतता जाता है। हर व्यक्ति कभी न कभी उसके सम्मुख अपने को असहाय अनुभव करता है। जब से मनुष्य को इस बात की चेतना हुई है कि काल है और वह गतिमान है, तब से उसे यह अनुभूति भी होती आयी है। लेकिन साथ ही मनुष्य को काल पर विजय पाने का सौभाग्य भी प्राप्त है – हमारी संस्कृति और कला में ही यह विजय निहित है। मिस्र के पिरामिडों को, उनके निर्माताओं के विचार में, कालविजयी होना था, अपने ढंग से वे ऐसा करने में सफल भी रहे। दक्षिणी अमरीका की गुफा में बना वन्य-वृषभ का चित्र और उत्तरी यूरोप की झील के तट पर चट्टान पर बना वारहसिंगे का चित्र भी काल पर विजय के प्रतीक हैं। न वह वन्य-वृषभ रहा है, न बारहसिंगा और न उन्हें वनानेवाला चित्रकार, न उसका क़वीला, लेकिन आज भी पत्थर की छेनी से वना वारहसिंगा अपना गर्वीला सिर उठाये खड़ा है। ललित कला के प्रकट होने के क्षण से बीत दसियों हज़ार वर्षों के दौरान मन्त्रमुग्ध करने, जीवन के पलों को रोकने के कला के इस गुण को लोग निरंतर अधिक गहराई से समझते आये हैं।

चित्रकला जहां सहस्रों वर्ष पुरानी है, वहीं दूरदर्शन का तो अभी-अभी "जन्म" हुआ है।... किंतु सच कहा जाये, तो कला के इन नवीनतम रूपों – दूरदर्शन, सिनेमा और फ़ोटोग्राफ़ी – से हमें प्राचीनतम लोगों की कला को अधिक अच्छी तरह समझने में मदद मिली है।

सिनेमा और दूरदर्शन की तुलना में इतनी सरल प्रतीत होनेवाली फ़ोटोग्राफ़ी मानवजाति की चेतना में ऐसी क्रांति लायी, जिसका अतिमूल्यांकन करना कठिन है। "आज से कुछ दशक पहले यदि उस काल के 'शिक्षित' व्यक्ति से भी यह कहा जाता कि ऐसा दर्पण बना लिया जायेगा, जिसमें एक बार प्रतिविंबित हुई वस्तु उस पर सदा के लिए अंकित हो जायेगी, तो वह ऐसी बातों को पागलपन ही समझता। और यदि दो सौ साल पहले कोई ऐसा अनुमान व्यक्त करता,

तो हर भला आदमी ... इसे शैतान के दिमाग़ की उपज कहता।" यह उद्धरण हमने १८६० में सेंट पीटर्सबर्ग में प्रकाशित 'प्रविधि और औद्योगिक उत्पादन' पुस्तक से लिया है।

आज किसी चित्र पर तीव्र कटाक्ष करने के लिए कहा जाता है कि वह फ़ोटो मात्र है। अभिप्राय यह है कि वास्तविक जीवन का तथ्य संप्रेषित किया गया है, तथ्य का केवल संप्रेषण ही हुआ है, चित्र पर चित्रकार के व्यक्तित्व की छाप नहीं है।

ध्यातव्य है कि केवल एक तथ्य, कोरा तथ्य संप्रेषित करने की फ़ोटोग्राफ़ी की क्षमता ने (यहां हम एक कला के रूप में फ़ोटोग्राफ़ी को नहीं ले रहे हैं) कुल जमा संस्कृति के स्वरूप को बहुत बदला है।

फ़ोटोग्राफ़ी से मानवजाति को तथ्यों को दर्ज करने के नये उपाय मात्र नहीं मिले हैं, बल्कि तथ्यों का अवबोध भी बदल गया है। कैमरे के (और कालांतर में सिनेकैमरे के) लैंस के ज़रिये एक बार देखा गया संसार फिर कभी भी पहले की अवस्था में नहीं लौटेगा। ऐसा ही तब भी हुआ था, जब गैलीलिओ गैलीले की दूरबीन ने चंद्रमा पर पर्वत और सूर्य पर काले धब्बे दिखाये, तब से वे बने हुए हैं, काल उन्हें मिटा नहीं सकता, वे मानवजाति की चेतना का अभिन्न अंश बन गये हैं। फ़ोटोग्राफ़ी ने दिक् को काल में विखंडित करके दिखाया, वह "रुक गये" क्षणों के चित्र असीमित संख्या में यांत्रिक विधि से प्रदान करती है।

शुरू-शुरू में संसार के कई भागों में अंधविश्वासी लोग अपना फ़ोटो नहीं खींचने देते थे – उन्हें डर था कि उनकी आत्मा चुरा ली जायेगी। आत्मा तो उनकी फ़ोटो खिंचवाने के बाद भी उनके पास ही रहती थी, हां, नये संसार में वह बदले बिना नहीं रह सकती थी।

फ़ोटोग्राफ़ी से प्राचीन खगोलविद्या का भी उतना ही कायाकल्प हुआ है, जितना सूक्ष्मजीवविज्ञान जैसी अभिनूतन ज्ञान-शाखा का। उसने आम व्यक्ति के लिए आम संसार को अधिक ब्योरेवार बनाया है, समाचारों के दृश्य-तत्व को स्थायी तथा पुराने रेखाचित्रों की तुलना में अधिक प्रभावोत्पादक बनाया है।

कला लोगों की सौंदर्य-पिपासा को बुझाने के साथ-साथ विश्व-संज्ञान में भी महती भूमिका अदा करती है।

विज्ञान का पथ

विज्ञान का आरंभ क्या माना जाये? इस बारे में इतिहासकारों का कोई एक मत नहीं है।

बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि विज्ञान का क्या अर्थ लगाया जाता है।

हम इसकी परिभाषा इस प्रकार करते हैं: "मानव-सक्रियता का वह क्षेत्र, जिसका प्रकार्य वास्तविकता के बारे में वस्तुगत ज्ञान निरूपित करना और उसका सैद्धांतिक वर्गीकरण करना है"।

पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः हमारे सुदूर पूर्वजों के अद्भुत ज्ञान के बारे में सनसनीखेज़ खबरें छपती रहती हैं। कभी यूनानी मिथकों के पात्रों डिडालस और इकारस को पहले ग्लाइडर का निर्माता और परीक्षक बताया जाता है। कभी यूनानी किंवदंतियों के ही एटलांटिस द्वीप के बारे में कहा जाता है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व वहां विमान उड़ते थे और नाभिकीय ऊर्जा का भी उपयोग होता था।

निस्संदेह, हम यह नहीं कह सकते कि अतीत की सभी वैज्ञानिक-तकनीकी उपलब्धियों की जानकारी हम पा चुके हैं। इतिहासकारों और पुरातत्वविदों ने पिछले दशकों में बहुत-सी नयी बातों का पता लगाया है। कुछ पुरातत्वीय खोजों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मेसोपोटामिया के निवासियों ने विद्युत सेल जैसी कोई चीज़ बनानी सीख ली थी, जबकि प्राचीन यूनान में कलन-यंत्र बनाया गया था, ताकि सूर्य-ग्रहणों की भविष्यवाणी करना आसान हो। प्रत्यक्षतः, आगे और भी कई ऐसी खोजें होंगी। लेकिन ऐसी उम्मीद लगाना व्यर्थ ही होगा कि सुदूर अतीत में हम कोई ऐसा वैज्ञानिक ज्ञान या तकनीकी उपलब्धि पा सकते हैं, जिसका स्तर आधुनिक ज्ञान से अधिक ऊंचा हो। मार्क ट्वेन ने इस सिलसिले में बड़े पते की बात कही है: "वह ज्ञान बहुत ही व्यापक था, जो प्राचीन युग के लोगों को नहीं प्राप्त था।"

मानवजाति के अतीत में सनसनीखेज़ बातों के बिना भी बहुत कुछ ऐसा है, जिस पर आज हम गर्व कर सकते हैं। गोत्र-समाजों में भी और आद्य सभ्यताओं में भी असंख्य खोजें हुईं, अन्वेषण हुए। इनमें अनेक को तो पुरातत्वीय उत्खननों में, चर्मपत्रों, भोजपत्रों, ताड़पत्रों या पपीरस पर लिखी प्राचीन पोथियों में ढूंढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। अतीत की ये उपलब्धियां हमारे दैनिक जीवन में
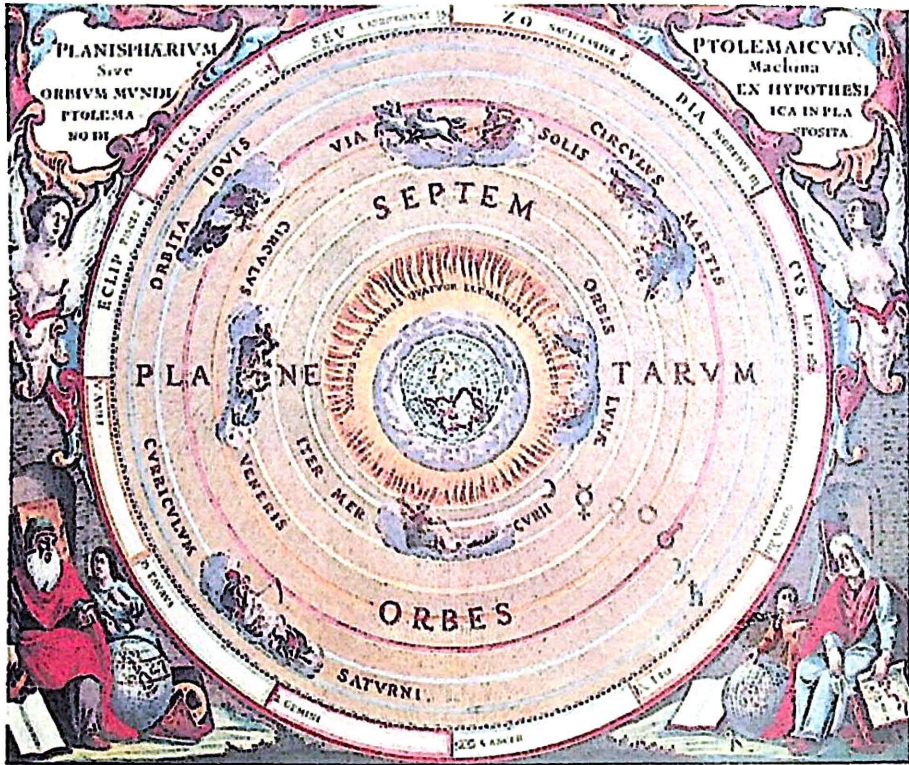
टोलेमी के अनुसार विश्व का रूप।

घुली-मिली हुई हैं। स्कूल में हम युक्लीड की ज्यामिति ही पढ़ते हैं। अपनी भाषाओं के अनेक शब्द और धारणाएं हमने प्राचीन भाषाओं से पाये हैं – यूरोपवासियों ने प्राचीन यूनानी और लैटिन से तथा भारतीय भाषाओं ने संस्कृत या प्राचीन द्रविड़ भाषा से।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आज जितने वैज्ञानिक और विद्वान हैं, उतने पहले कभी भी नहीं हुए, संसार और मानव के संज्ञान में विज्ञान की उपलब्धियां वास्तव में विराट हैं। साथ ही विज्ञान में सातत्य की, विगत के साथ अविच्छिन्न संबंध की भावना संस्कृति के किसी भी अन्य क्षेत्र की अपेक्षा कम नहीं, बल्कि अधिक ही प्रबल है। क्वांटम यांत्रिकी के साथ भौतिकी में, सच्चे अर्थों में, एक क्रांति आयी, लेकिन क्वांटम सिद्धांत के निरूपक प्राचीन विद्वानों की रचनाएं
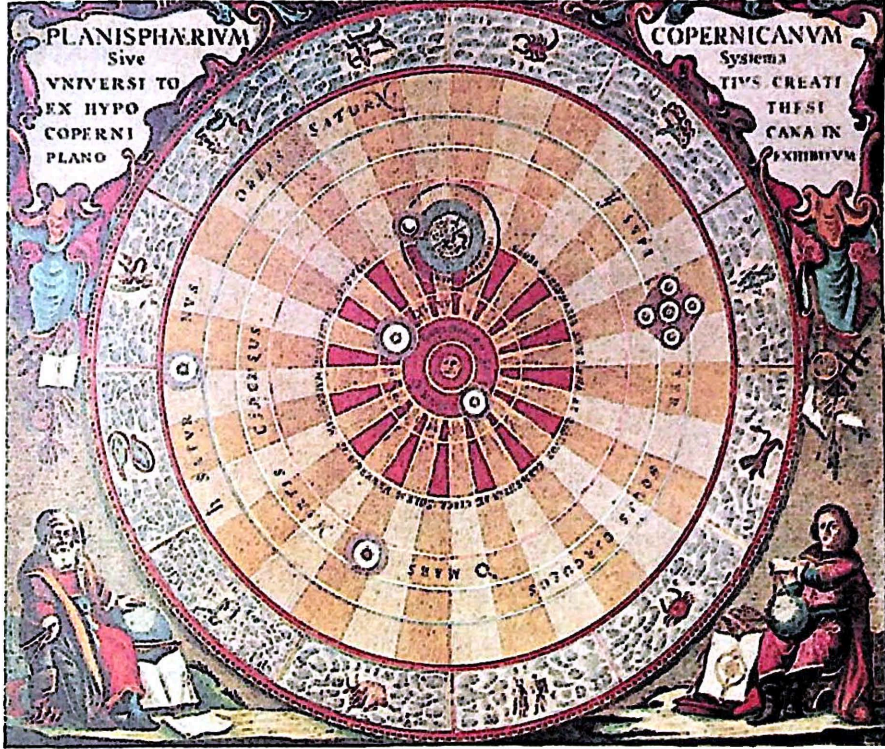
कोपेरनिकस के अनुसार विश्व का रूप।

उद्धृत करते थे, इन विद्वानों को अपना पूर्वगामी मानते थे।

२०वीं शती के एक स्वनामधन्य जीवरसायनविज्ञानी एल्वर्ट सेंट ज्योर्जी लिखते हैं कि उनके लिए विज्ञान सर्वप्रथम ऐसे लोगों का समुदाय है, जिनके वीच दिक् और काल की कोई दीवार नहीं है, कि वह उस समुदाय में रहते हैं, जिसके सदस्य न्यूटन और लावुआज़्येर हैं, कि कोई भारतीय या चीनी विद्वान उनके लिए अपने किसी पड़ोसी से अधिक क़रीवी है। उनके मत में, इस समुदाय के नैतिक सिद्धांत सरल हैं: परस्पर आदर, वौद्धिक ईमानदारी और सद्भावना।

हमारे विचार में, ज्ञान-विज्ञान के, विद्या के विकास में दो प्रमुखतम मंज़िलें इंगित की जा सकती हैं। पहली मंज़िल पर मानवजाति सातवीं-छठी शती ई० पू० में पहुंची, जव उसने अमूर्त-तार्किक चिंतन के सिद्धांतों की चेतना पायी।

(इसका यह अर्थ नहीं है कि इससे पहले ऐसे चिंतन के तत्व विल्कुल थे ही नहीं)।

"सच्चे" विज्ञान का आरंभ तब हुआ, जव पहले नियमों की खोज हुई, दर्शन वना, तथ्यों की गवेषणा करने और उनसे तार्किक निष्कर्ष निकालने पर आधारित विश्व-दृष्टिकोण निरूपित हुआ।

शतियों के दीर्घकाल में हमारी सम्यता तर्कणा के प्रयोग की इतनी अभ्यस्त हो गयी है कि अव उसे अपने दैनिक व्यवहार में अमूर्त-तार्किक युक्तियों के स्थान का ठीक से आभास तक नहीं है।

इस स्थान की समझ उन समाजों के लोगों के साथ भेंट होने पर आती है, जिनमें अभी यथार्थ के ठोस-साहचर्यमूलक अवबोध का ही प्रभुत्व है। ब्रिटेन में नृजातिविज्ञान के एक संस्थापक एडवर्ड टेलर ने कहा था कि "ज्ञान के आरंभिक चरणों में लोग हमसे कहीं अधिक हद तक धारणाओं की समरूपता या महज़ साहचर्य पर आधारित निगमनों का सहारा लेते थे।"

एम० कोल और एस० स्क्रिवनर की पुस्तक 'संस्कृति और चिंतन' से लिया गया ऐसे अवबोध का एक उदाहरण देखिये।

मनोविज्ञानियों ने एक प्रयोग के दौरान लिवेरिया के क्पेल्ले क़बीले के लोगों से वातचीत की और उनके सम्मुख सरलतम तार्किक प्रश्न रखे।

"**प्रयोगकर्ता।** यदि फ़्लुमो या याकपालो ताड़ी पीता है, तो गांव का मुखिया नाराज़ होता है। फ़्लुमो ताड़ी नहीं पीता। याकपालो ताड़ी पीता है। क्या गांव का मुखिया नाराज़ होता है?

प्रयोगाधीन व्यक्ति। लोग दो लोगों से नाराज़ नहीं होते।

प्रयोगकर्ता। (फिर से सारा प्रश्न दोहराता है।)

प्रयोगाधीन व्यक्ति। उस दिन गांव का मुखिया नाराज़ नहीं हुआ था।

प्रयोगकर्ता। मुखिया नाराज़ नहीं हुआ था? क्यों?

प्रयोगाधीन व्यक्ति। क्योंकि उसे फ़्लुमो अच्छा नहीं लगता।

प्रयोगकर्ता। उसे फ़्लुमो पसंद नहीं है? ज़रा वताओ तो क्यों पसंद नहीं है?

प्रयोगाधीन व्यक्ति। क्योंकि जव फ़्लुमो पीता है, तो बुरी वात होती है। इसलिए फ़्लुमो जव ताड़ी पीता है, तो मुखिया नाराज़ होता है। पर जव याक-पालो कभी-कभार ताड़ी पीता है, तो वह लोगों का कुछ वुरा नहीं करता। वह जाकर सो जाता है। इसलिए लोग उससे नाराज़ नहीं होते हैं। लेकिन जो पीकर लड़ने-झगड़ने लगता है, उसको मुखिया गांव में सह नहीं सकता।"

"ऐसा प्रतीत होता है," कोल और स्क्रिवनर लिखते हैं, "कि प्रयोगाधीन व्यक्ति का आशय किन्हीं ठोस व्यक्तियों से था (किसी निश्चित फ़्लुमो से, जिसे, संभवतः, वह जानता था), और वह उस निष्कर्ष पर पहुंचने की कोशिश कर रहा था, जिसमें उसे ज्ञात सत्य व्यक्त होता। ठीक इसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए उसने प्रश्न की पहली आधारिका को अस्वीकार करके उसके स्थान पर दूसरा अभिकथन रखा (लोग दो लोगों से नाराज़ नहीं होते)। फिर उसने ... प्रश्न में नये तथ्य जोड़े (नशे की हालत में फ़्लुमो और याकपालो के व्यवहार के बारे में), जिनसे वह निष्कर्ष निकाल पाया।"

किंतु निष्कर्ष तो वह नहीं था, जो निकलना चाहिए था, क्पेल्ले ने जो उत्तर दिया, वह उससे पूछे गये प्रश्न का उत्तर नहीं था।

वास्तविक वस्तुओं और परिघटनाओं के बहुसंख्य ठोस ब्योरों और लक्षणों से हटने पर, उनका सचेतन अमूर्तीकरण करने पर ही वैज्ञानिक तर्कशास्त्र का मार्ग प्रशस्त होता है। "जीवंत प्रेक्षण से अमूर्त चिंतन की ओर तथा उससे व्यवहार की ओर – यही है सत्य के संज्ञान का, वस्तुगत यथार्थ के संज्ञान का द्वंद्वात्मक पथ," लेनिन ने लिखा था।

अमूर्तीकरण की शक्ति गणित में सबसे अधिक स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। सरलतम अंकगणित भी दो और दो को जोड़ते हुए, उन ठोस वस्तुओं को "भुला" देता है, जिन्हें जोड़ा जा सकता है। अंकगणित के इतिहास के तथ्य इस बात के साक्षी हैं कि सामाजिक विकास की आरंभिक अवस्थाओं में मानव-चिंतन के लिए वास्तविकता के ठोस अवबोधन से हटना कितना कठिन था। इस कथन का एक परोक्ष प्रमाण यह भी हो सकता है कि अभी हाल ही तक कुछ जनजातियों में प्रत्येक संख्या के लिए बहुत-से अलग-अलग नाम थे, जिनका प्रयोग इस बात पर निर्भर होता था कि क्या वस्तु गिनी जा रही है: पत्थरों के लिए एक गिनती थी, काम के लिए दूसरी। ...

सातवीं-छठी शती ई० पू० के काल को कभी-कभी "दार्शनिक क्रांति" का काल भी कहा जाता है। यूनान, भारत और चीन में इन दिनों पहले महान दार्शनिक हुए। जीवन के अर्थ की, न्याय और सुख की ओर मानव एवं मानवजाति के पथ की खोज ही उनके लिए सर्वोपरि और सर्वाधिक मूल्यवान थी। किंतु इसके लिए पहले यह स्पष्ट किया जाना चाहिए था कि संकल्पनाओं का अर्थ क्या है। सो, उन्होंने तर्कशास्त्र का उपकरण बनाया, जो तब से विज्ञान की सेवा

कर रहा है। अगली शताब्दियों के दार्शनिकों ने उनके कार्य को जारी रखा। चौथी शती ई० पू० में ही सबसे पहले चर मानों के लिए अक्षरों का प्रयोग किया गया, जो अब हम स्कूल में बीजगणित में सीखते हैं। तीसरी शती ई० पू० में ज्यामिति का सुघड़ भवन बन गया था, जो अमूर्त चिंतन की विजय का अनुपम उदाहरण है।

१७वीं शती में फ़्रैंसिस बेकन ने प्राचीन युग की सारी विद्या पर गहरा असंतोष प्रकट करते हुए बड़े आक्रोश से यह कहा कि उससे लोगों का कोई व्यावहारिक लाभ नहीं होता था, कि उस विद्या का लोगों की आवश्यकताओं से कोई वास्ता नहीं था। हां, वंशज प्रायः बड़े कृतघ्न निकलते हैं। प्राचीन सभ्यताओं की विद्या से ही तो नूतन युग के विज्ञान ने तर्कणा-पद्धति पायी है, जिसके बिना उसके कोई भी आविष्कार असंभव होते।

विगत युग की विद्या, बेकन के कथन के विपरीत, अनेक व्यावहारिक प्रयोगों में भी काम आयी। प्राचीन यूनान के उत्तम प्रक्षेपण यंत्र चौथी शती ई० पू० के यंत्रकारों के सामूहिक परिश्रम का परिणाम थे। संसार की पहली अलार्म घड़ी (जलीय) भी सुविख्यात दार्शनिक प्लेटो ने ही बनायी थी। प्राचीन विद्वानों के कृषि ग्रंथों को लोग सदियों तक पढ़ते रहे और उनमें अपनी खेतीबारी के लिए उपयोगी बातें पाते रहे। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

बहरहाल, यह भी मानना होगा कि प्राचीन काल में विज्ञान और व्यवहार का संबंध सुव्यवस्थित नहीं था और बहुत हद तक सांयोगिक था।

विज्ञान के विकास में दूसरी मंज़िल १६वीं–१७वीं शताब्दी में आयी। यह इतनी महत्वपूर्ण मंज़िल है कि अनेक विद्वान यहीं से विज्ञान की आयु की गणना आरंभ करते हैं। वे यह मानते हैं कि इस काल से ही विज्ञान ने आधुनिक अर्थ में विज्ञान कहलाने का अधिकार पाया। निस्संदेह, इस काल से ही विज्ञान सच्चे अर्थों में प्रयोगाधारित हुआ और उसमें गणनाओं का व्यापक उपयोग होने लगा।

इस युग की वैज्ञानिक क्रांति, जिसके फलस्वरूप विश्व की रचना संबंधी धारणाएं आमूल बदलीं, खगोलविद्या से आरंभ हुई, क्योंकि इस ज्ञान-शाखा में ही गणितीय विधियां सबसे अधिक अच्छी तरह निरूपित की जा चुकी थीं।

१७वीं शती में पृथ्वी पर कार्यरत भौतिक नियमों का संबंध ब्रह्मांड का संचालन करनेवाले नियमों से जोड़ा गया। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम को मानव-बुद्धि द्वारा किया गया महानतम सामान्यीकरण कहा जाता है। यह नियम पेड़ से गिरते सेब, चंद्रमा और सुदूरतम तारों—सभी पर समान रूप से लागू होता है। गुरुत्वाकर्षण
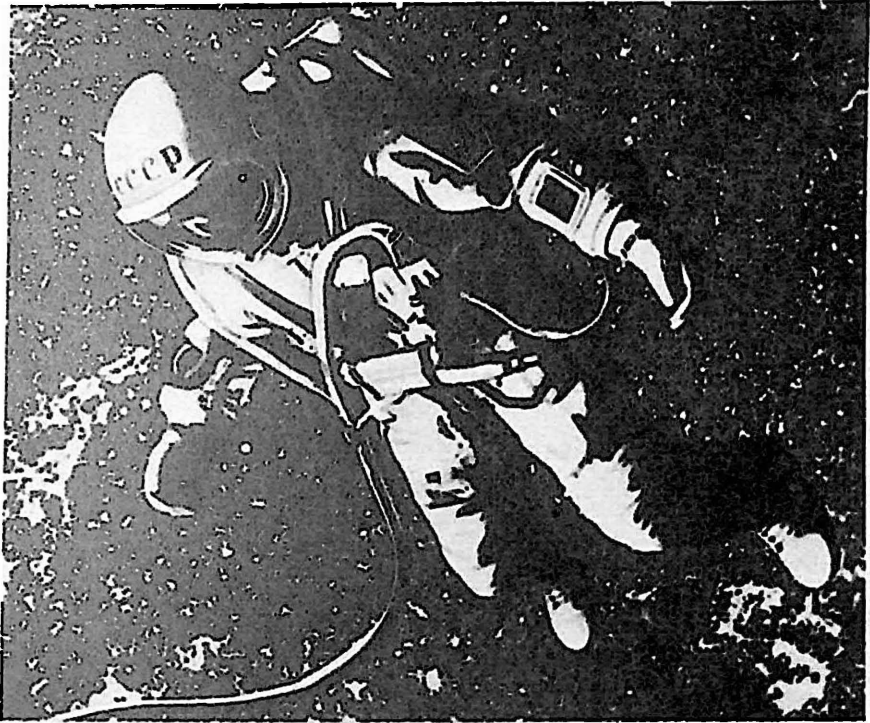
खुले अंतरिक्ष में मानव।

नियम को ही प्राय: उस नदी का उत्स कहा जाता है, जिसके बनाये रास्ते पर तब से विज्ञान का विकास हो रहा है।

न्यूटन की खोज के बाद की शताब्दियों में प्राकृतिक विज्ञानों ने ऐसी सफलताएं पायी हैं, जिनका अतिमूल्यांकन नहीं हो सकता। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण को गिनाना भी बहुत लंबा काम होगा। यहां हम केवल इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि भौतिकी, रसायन, जीवविज्ञान, आदि में हुई खोजें महान तकनीकी तथा अन्य उपलब्धियों का आधार बनी हैं, उन्होंने कृषि और उद्योगों का कायाकल्प किया है। इन आविष्कारों से मानवजाति की नज़रों में विश्व-रचना का चित्र बदल गया है।

संसार के संज्ञान में सभी सफलताओं का श्रेय मुख्यत: प्राकृतिक विज्ञानों को

देना अनुचित और भ्रांतिपूर्ण होगा। मानविकी का, सामाजिक विज्ञानों का भी इसमें बहुत बड़ा योगदान है।

दोनों प्रकार के विज्ञानों के विकास में बहुत-सी समानांतर बातें पायी जाती हैं, यही नहीं, दोनों के मिलते-जुलते नियमों के आविष्कार में सामाजिक विज्ञान प्रायः प्रकृति विषयक विज्ञानों से आगे रहते हैं। उदाहरणतः, इतिहासकारों और दार्शनिकों ने ही पहले इस बात की ओर ध्यान दिया कि विकास इतिहास का नियम है। ग्रहों का और पूरे सौर मंडल का भी काल में विकास होता है—यह बात विद्वानों ने बाद में ही समझी।

परिशुद्ध और प्राकृतिक विज्ञानों की भव्य सफलताओं के कारण आज हम लोग संस्कृति के लिए, जीवन के लिए सामाजिक विज्ञानों की भूमिका को पूरी तरह नहीं आंक पाते हैं। स्मरणीय है कि मानवतावाद, प्रबोध, समाजवाद और वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के सिद्धांत इन ज्ञान-शाखाओं के गर्भ से ही उत्पन्न हुए। ये वे विचार हैं, जिन्होंने लोगों के मनोमस्तिष्क पर छाकर हमारे संसार का वैज्ञानिक आविष्कारों और तकनीकी उपलब्धियों से कम कायाकल्प नहीं किया है।

यह भी उल्लेखनीय है कि पुरातन युग से ही सांस्कृतिक मूल्यों की प्रणाली में विद्या का, ज्ञान-विज्ञान का स्थान, विरले अपवादों को छोड़कर, बहुत महत्व-पूर्ण रहा है और विद्वानों की प्रतिष्ठा बहुत ऊंची। मूर्तियों और चित्रों पर विमुग्ध होते हुए प्राचीन युग में लोग प्रायः मूर्तिकारों और चित्रकारों को तो उपेक्षा क़ी दृष्टि से देखते थे, परंतु ज्ञानियों, दार्शनिकों और विद्वानों का बहुत आदर करते थे।

ज्ञान की खोज, विद्या निरुपाधिक मूल्य बन जाती थी। भारत में विद्या और विद्वानों का समाज में शीर्षस्थ स्थान माना जाता था। राजा-महाराजा मूर्धन्य दार्शनिकों और विद्वानों के सम्मुख श्रद्धापूर्वक शीश नवाते थे, उन्हें अपना संरक्षण प्रदान करते थे, राज दरबार में उन्हें ऊंचे पद प्रदान करते थे।

इस पुस्तक में हम विश्व के जनगण की संस्कृति की एकता और विविधता के बारे में बता रहे हैं। विज्ञान के प्रसंग में यह प्रश्न उठता है कि विज्ञान प्रकृति के वस्तुगत नियमों की खोज करता है, तो फिर इसमें कैसी राष्ट्रीय मौलिकता हो सकती है? आखिर, ज्यामिति, भौतिकी, जीवविज्ञान, इत्यादि जापानी, ब्राज़ीली या डच नहीं हो सकते।

यह तर्क बिल्कुल सही है, किंतु साथ ही कोई वैज्ञानिक आविष्कार किसी देश विशेष में हुआ, न कि अन्य किसी देश में—इस बात का संबंध प्रायः उस देश विशेष की भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक विशिष्टता से होता है। उदाहरण के लिए, इसे मात्र संयोग नहीं कहा जा सकता कि माइक्रोस्कोप की खोज हालैंड में ही हुई, जो चिरकाल से रत्नों को तराशनेवालों और कांच पर कलात्मक काम करनेवालों का देश रहा है। खगोलविद्या का विकास उन देशों में ही सबसे अधिक तीव्र गति से हुआ, जहां इसकी सबसे अधिक आवश्यकता थी—कृषि-कार्य हेतु परिशुद्ध पंचांग बनाने के लिए या सागर अथवा मरुभूमि में तारों को देखकर रास्ते का पता लगाने के लिए। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि प्राचीन मिस्र में यह विद्या जितनी विकसित थी, उतनी क्रीट या ईरान में उन दिनों विकसित नहीं थी। नील में कब-कब बाढ़ें आती हैं, इसका पूर्वज्ञान पाने की
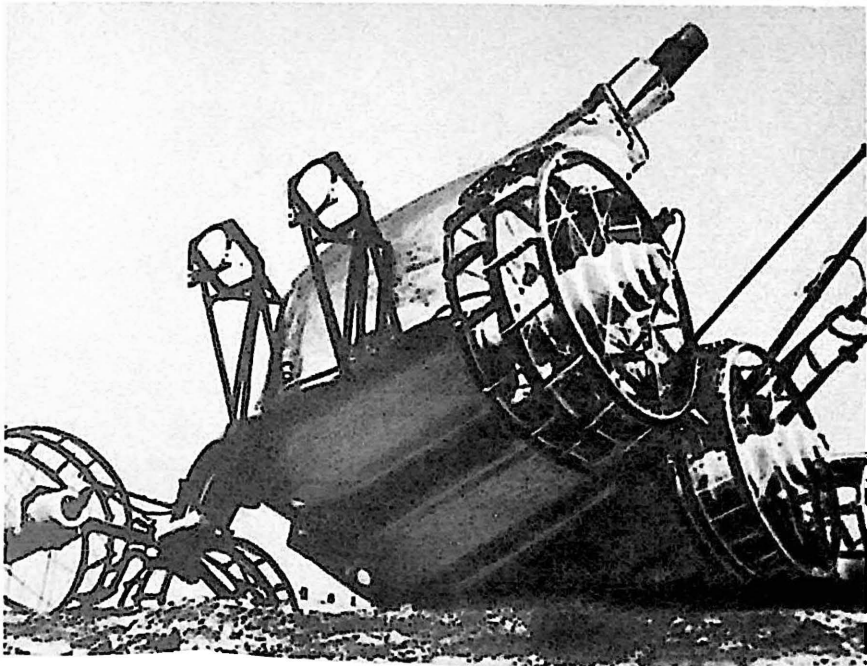
सोवियत 'लुनाखोद' की मदद से लोग चंद्रमा के बारे में बहुत कुछ जान पाये।
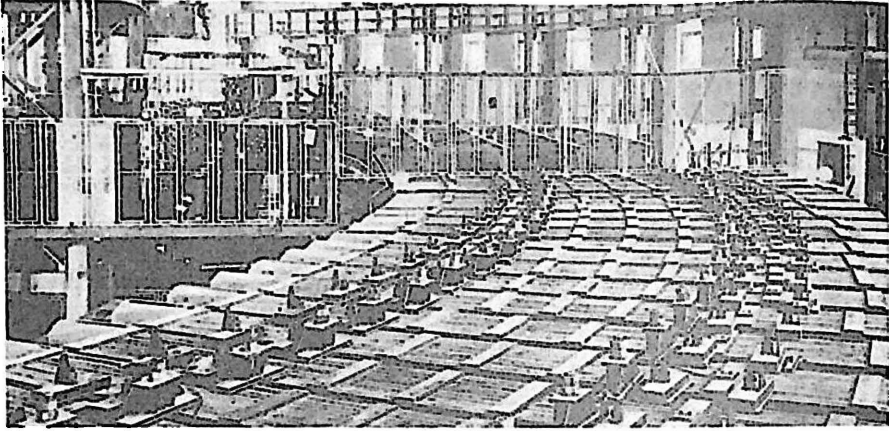
शक्तिशाली सिंक्रोट्रॉन के विद्युतचुंवक का एक अंश।

आवश्यकता ने मिस्र के खगोलशास्त्रियों के सम्मुख जो कार्यभार रखे, वैसे क्रीट या ईरान की प्रकृति ने वहां के ज्योतिषियों के सम्मुख नहीं रखे थे।

संचार के क्षेत्र में १९वीं शती के महानतम आविष्कार – विद्युत तार (टेलीग्राफ़), टेलीफ़ोन और रेडियो – उस समय के क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे बड़े दो देशों में हुए: तार और रेडियो सबसे पहले रूस में प्रकट हुए और टेलीफ़ोन संयुक्त राज्य अमरीका में। विज्ञान और प्रविधि की प्रगति के पीछे सबसे वड़ा कारण आवश्यकता ही होता है।

यह वात भी ध्यातव्य है कि स्वयं विज्ञान भी अपनी ओर से नृजातीय, राष्ट्रीय प्रक्रियाओं की गति पर प्रभाव डालता है। आज विज्ञान एक प्रत्यक्ष उत्पादक शक्ति वन गया है और इससे सामाजिक जीवन के अंतर्राष्ट्रीयकरण में उसकी भूमिका वहुत बढ़ गयी है। राष्ट्रीय (जातीय) आत्मचेतना पर प्रकृतिविज्ञानियों के प्रभाव को भी नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता। यह प्रभाव तव विशेषत: स्पष्ट रूप से प्रकट होता है, जब वे कोई विलक्षण आविष्कार करतें हैं। उनकी कीर्ति किसी न किसी हद तक पूरी जाति, राष्ट्र की कीर्ति वन जाती है और उसे गौरवान्वित करती है। भारतवासियों को इस वात पर गर्व है कि उन्होंने संसार को आर्यभट और भास्कर जैसे गणितज्ञ दिये, पोलैंडवासियों को अपने खगोलविद निकोलाई कोपेरनिकस पर, अंग्रेज़ों को आइसक न्यूटन पर, तो रूसियों को रासाय-

निक तत्वों की सारणी के रचयिता द्मीत्री मेंदेलेयेव पर।

इस संदर्भ में मानविकी विषयों, सामाजिक विज्ञानों की भूमिका कुछ विशिष्ट है। उनके अध्ययन की वस्तु समाज तथा विभिन्न सामाजिक परिघटनाएं और प्रक्रियाएं होती हैं, जिनमें अनेक गवेषक के सामने अपने राष्ट्रीय (नृजातीय) रूप में आती हैं, सो ये विज्ञान राष्ट्रीय (नृजातीय) परिघटनाओं की ओर ध्यान दिये विना नहीं रह सकते। इस सिलसिले में इतिहास, नृजातिविज्ञान, पुरातत्व, भाषाविज्ञान, आदि विषयों की भूमिका महती है, जो अपने अध्ययन की विषय-वस्तु द्वारा ही राष्ट्रीयता के क्षेत्र से जुड़े होते हैं। राष्ट्रीय (जातीय) आत्मचेतना पर इतिहास और वाङ्मय से संबंधित विषयों के विशाल प्रभाव को देखते हुए यह भी आवश्यक है कि अलग-अलग जनगण के ऐतिहासिक अतीत के आदर्शीकरण तथा परंपराओं के प्रति एकतरफ़ा रुख के विरुद्ध संघर्ष किया जाये, क्योंकि इनसे जनगण में फूट ही पड़ती है। सामाजिक विज्ञान ही सर्वप्रथम जातियों, राष्ट्रों के विकास तथा एक दूसरे के निकट आने की प्रक्रिया की वास्तविकता और प्रगतिशीलता प्रमाणित कर सकते हैं, राष्ट्रीय संकीर्णता के मुक़ावले में अंतर्राष्ट्रीयता के विचार रख सकते हैं।

दिक् और काल का "वशीकरण"

मनुष्य संसार को वदलता आया है, हालांकि, कम से कम आरंभ में, उसे स्वयं इसका आभास नहीं होता था कि संसार कैसे बदल रहा है। "नवपाषाण युग की क्रांति" के उदय-काल में प्रत्येक नयी पीढ़ी, पूर्ववर्ती पीढ़ियों ने जो कुछ किया था, उसमें अपेक्षाकृत अल्प योगदान ही कर पाती थी, तो भी संसार धीरे-धीरे वदलता जा रहा था। मनुष्य अव उसे दूसरी दृष्टि से देखता था। न केवल पृथ्वी, वनस्पतियां और जीव-जंतु, वल्कि दिक् और काल भी – उसके विश्वबोध के ये सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व भी – उसके लिए भिन्न हो गये थे।

यायावर आखेटक और कंद-मूल के संग्रहकर्ता के लिए दिक् कैसा है? आज वह यहां है, कल वहां। वह देर तक डेरा कहीं नहीं डालता, सो, किसी स्थान के लिए उसमें अपनत्व का भाव नहीं जागता है, इसलिए कोई ऐसा केंद्र भी नहीं है, जहां से दूरी मापी जा सके। वस, जाने-परखे रास्ते हैं (वेशक, उस इलाक़े में, जहां वह काफ़ी समय से रह रहा है), जिनसे एक डेरे से दूसरे तक पहुंचा

जाता है। पुरातत्वविदों के मत में, आदिम आखेटक-संग्रहकर्ता के लिए दिक् एकविम है, रैखिक है, आहार की अथक खोज में रत इस मानव के लिए केवल रेखाओं का अस्तित्व है, क्षेत्र का नहीं।

स्थावर किसान के लिए दिक् का स्वरूप दूसरा ही हो जाता है। उसका गांव वह केंद्र होता है, जहां से वह खेत में काम करने, शिकार पर या मछली पकड़ने जाता है और जहां लौटकर आता है। कोई स्थान गांव के जितने पास होता है, उतनी ही अच्छी तरह वह उसे जानता है तथा जितनी दूर, उतना कम।

पहले किसान का दिक् कैसा है? प्रत्यक्षतः, एक वृत्त जैसा, जिसका केंद्र-विंदु उसका गांव है। पृथ्वी की एक वृत्त के रूप में कल्पना पहली बार, शायद, तभी की गयी होगी और इस कल्पना से ही विश्व के भूकेंद्रीय रूप की धारणा वनी होगी, जो तत्कालीन लोगों के लिए तर्कसंगत ही थी। सूर्यकेंद्रीय रूप का ज्ञान होने के साथ विश्व के आकार के बारे में लोगों की धारणाएं आमूल बदल गयीं। दृष्टिगोचर ब्रह्मांड का आकार लोगों के लिए निरंतर बढ़ता गया। सूर्य, जिसकी तुलना प्राचीन यूनान में पेलोपोनेस प्रायद्वीप से की जाती थी, पहले तो पृथ्वी से बड़ा माना गया और अंततः १७वीं शताब्दी में ही वैज्ञानिकों ने उसका सच्चा आकार जाना। सोवियत खगोलभौतिकीविज्ञानी योसिप श्क्लोव्स्की इंगित करते हैं कि २०वीं शती के चौथे दशक में भी दृष्टिगोचर मंदाकिनियों तक की दूरी खगोलविज्ञानी पचास गुना घटाकर वताते थे।

यहां एक वात और स्पष्ट कर दें। ब्रह्मांड के बारे में हमारी धारणाओं में सारे परिवर्तन उस विज्ञान के विकास का परिणाम मात्र नहीं थे, जिसने सूर्य, ग्रहों, तारों और मंदाकिनियों के प्रेक्षण की नयी विधियां प्रदान कीं। ये परिवर्तन समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास के साथ, सर्वप्रथम उन सामाजिक तब्दीलियों के साथ, जो सारी आत्मिक संस्कृति में प्रतिविंवित होती रहीं, घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे।

पुराने ज़माने में लोग ब्रह्मांड की रचना को पृथ्वी पर समाज के गठन की आदर्श अनुकृति मानते थे तथा पृथ्वी पर व्यवस्था को अंतरिक्षीय व्यवस्था की नक़ल समझते थे। उनके लिए तारों और ग्रहों में भी वैसा ही श्रेणीक्रम था, जैसा कि पृथ्वी पर सामंती समाज में।

विश्व के रूप को सूर्यकेंद्रीय मानने का विचार अपने मूल में उदीयमान सामाजिक संरचनाओं द्वारा उत्पन्न हुआ था। आकाश पर पुराने श्रेणीक्रम को यह

तोड़ता था, इसका अर्थ यह था कि पृथ्वी पर विद्यमान वास्तविक श्रेणीक्रम के लिए यह खतरनाक था।

सोवियत इतिहासकार म० अ० बार्ग लिखते हैं: "यदि १६वीं शती का मानव इस बात में रुचि लेता था कि ग्रहों के बीच सूर्य का क्या स्थान है, तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह 'खगोलविद्या का शौक़ीन' था। इसके विपरीत यह अनुमान सत्य के अधिक समीप होगा कि अधिकांश मामलों में वह बिल्कुल दूसरे ही प्रकार के प्रश्न का उत्तर पाना चाहता था: उदाहरणतः, इस प्रश्न का कि प्रजा से कर वसूलने का राजा का अधिकार किस बात पर आधारित है? संसार में सब कुछ परस्पर संबंधित हैं – इस विचार को १६वीं शती में सार्विक मान्यता मिली, जो बहुधा अवचेतन ही थी। इससे पहले, शायद, कभी भी यह विचार इस प्रकार लोगों के मनोमस्तिष्क पर नहीं छाया था।"

सो, ज्योर्दानो ब्रुनो और गैलीलिओ गैलीले को कुख्यात धार्मिक न्यायालय – इंक्विज़िशन – के सुपुर्द मात्र इसलिए नहीं किया गया कि वे "अपधर्म" का प्रचार करते थे। ब्रह्मांड की रचना संबंधी धारणाएं बदलने का अर्थ समाज में परिवर्तनों की मांग करना समझा जाता था।

यह मत सोचिये कि ऐसी स्थिति अद्वितीय थी, कि वह केवल मध्ययुगीन यूरोप में ही बनी। सदियों तक सभी सभ्यताओं में प्रकृति विषयक वैज्ञानिक खोजों को लेकर अनम्य संघर्ष चलता रहा है।

चीन में प्राचीन काल में सौर ग्रहणों, भूकंपों तथा प्राकृतिक विपदाओं को सम्राट के किन्हीं कार्यों पर दैवी कोप की अभिव्यक्ति ही माना जाता था। यह विचार इतना अधिक प्रचलित था कि इसका एक बड़ा अप्रत्याशित परिणाम हुआ। ऐतिहासिक इतिवृत्तों के कुछ संकलनकर्ता शासकों को "बदनाम" करनेवाली ऐसी घटनाओं की तिथियां बदल देते थे, ताकि उनकी दृष्टि में जो सम्राट "अच्छे" थे, उन्हें निष्कलंक कर सकें और जो "बुरे" थे, उन्हें कलंकित कर सकें।

"विश्व के केंद्र" को अधिकाधिक दूर ले जाने की प्रवृत्ति हज़ारों वर्ष से देखने में आ रही है – गांव से हटकर निकटवर्ती नगर "केंद्र" बना, फिर दूरवर्ती पवित्र नगर (यूरोप के लिए मध्य युग के आरंभ में येरुशलीम ऐसा नगर था), पहले पृथ्वी को "केंद्र" माना जाता था, फिर सूर्य को माना जाने लगा, फिर आकाशगंगा के केंद्र को। अब तो ब्रह्मांड की रचना के अधिसंख्य अध्येता यह मानते हैं कि केंद्र जैसा कहीं कुछ है ही नहीं। गैलीले ने भी तो अपने ज़माने में लिखा

था : "यह भी विवादास्पद है कि प्रकृति में विश्व का केंद्र है भी या नहीं, क्योंकि... यह तो कभी प्रमाणित नहीं हुआ है कि विश्व का आदि-अंत है और उसका कोई निश्चित रूप है, या यह कि वह असीम और अनंत है।"

दिक् पर दृष्टिकोणों में परिवर्तनों से भी अधिक महत्वपूर्ण वे परिवर्तन हैं, जो काल पर हमारे दृष्टिकोणों में आये हैं।

कुछ विद्वानों का यह मत है कि आदि मानव के चिंतन के लिए वर्तमानवाद अभिलाक्षणिक था। दूसरे शब्दों में, वह केवल वर्तमान में रहता था, अतीत और भविष्य की धारणाओं से वह पूर्णतः मुक्त था। किंतु वास्तव में स्थिति कुछ भिन्न थी। आदि मानव के लिए वर्तमान ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण था, भूत और भविष्य की गहराइयों में वह नहीं जाता था। उदाहरणतः, मिथकीय घटनाओं का काल विगत से ही संबंधित मानता था, किंतु उस काल और वर्तमान के बीच उसके लिए कोई अलंघ्य दूरी नहीं थी : विभिन्न अनुष्ठानों में पुनर्रचित होकर वह जीवन के यथार्थ में स्थान पाता था।

अलग-अलग काल-खंडों की लंबाई किन्हीं ठोस घटनाओं द्वारा निर्धारित होती थी। काल "पदार्थमूलक" था – वह अमूर्त इकाइयों में विभाजित नहीं था। उदाहरणतः, किसी भेंट का समय निश्चित करने के लिए दिन नहीं इंगित किये जाते थे, बल्कि प्रकृति की किन्हीं परिघटनाओं से उसका संबंध जोड़ा जाता था ("बरसात आने पर")।

मानव द्वारा समय का बोध पाने में अग्नि ने विशाल भूमिका अदा की। यह अकारण ही नहीं कि उसके आविष्कार को मार्क्स ने "विराट, प्रायः अपरिमित महत्व का" आविष्कार कहा। प्राग्मानव अपना कोई औज़ार गुफा के कोने में रखकर अगली बार उसकी आवश्यकता पड़ने तक उसे भुला सकता था। लेकिन अग्नि की "उदरपूर्ति" करना आवश्यक था, अन्यथा वह "मर" सकती थी। उन गुफाओं में, जहां साइनेंथ्रोपस – ४ लाख साल पहले के मानव – रहते थे, निरंतर जलते रहे अलावों से बची राख की मोटी तहें मिली हैं। गुफावासियों को ईंधन का पर्याप्त भंडार बनाकर रखना सीखना पड़ा, उन्हें यह हिसाब लगाना आना चाहिए था कि कब नये भंडार की ज़रूरत पड़ेगी, कहां से लकड़ी लाना आसान होगा। यह सब आज के मानव के लिए बिल्कुल स्वाभाविक लगता है, किंतु भंडार बनाने, हिसाब लगाने, किफ़ायत करने की योग्यता आसानी से नहीं पायी गयी। इस शिक्षा का आरंभ आग को जलाये रखने की आवश्यकता से ही जुड़ा हुआ है।

अग्नि मानव को अनुशासित करती थी, उसमें उत्तरदायित्व की भावना जगाती थी, काल की गति पर ध्यान रखना उसके लिए आवश्यक बनाती थी। आग जलाने और उसे जलता रखने के कार्यकलाप से मनुष्य ने जो कुछ सीखा, उसका उपयोग वह अपने कार्यकलाप के दूसरे क्षेत्रों में करने लगता, "काल को विखंडित" करने लगता – इससे पहले एक बहुत लंबी अवधि बीती होगी।

लाखों, दसियों लाख वर्ष तक लोग अपना शिकार और बटोरे हुए कंद-मूल आपस में बांटते रहे। अमूर्त स्तर पर देखा जाये, तो यह पूर्ण को अंशों में विभाजित करने की क्रिया है। मकान और औज़ार बनाना अंशों से पूर्ण की रचना की क्रिया है। इसमें मानवजाति का अनुभव उसके संपूर्ण उद्‌विकास काल के एक अल्प खंड में ही व्याप्त है। मानवजाति के "प्राग्गणितीय" अनुभव का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू है सममितता और लय की, मिलते-जुलते तत्वों की दिक् और क़ाल में एकसमान आवृत्ति की धारणाओं का बनना।

पत्थर के पहले औज़ारों का संसाधन अपेक्षाकृत सरल था – एक पत्थर से दूसरे पर चोट करते हुए उसके सिरे नुकीले, तेज़ बनाये जाते थे। लाखों साल बीतने पर ही ऐसे अंडाकार या बादाम की शक्ल के औज़ार बने, जिनका एक सिरा चपटा, सपाट होता था और दूसरे सिरे पर तेज़ धार। उल्लेखनीय है कि ऐसे औज़ारों का निर्माता केवल इस बात का ही ध्यान नहीं रखता था कि इनसे काम लेना आसान हो, बल्कि इसका भी कि ये देखने में भी अच्छे लगें। बेशक, मानव को अभी इस बात का आभास नहीं था कि औज़ार की ख़ूबसूरती उसके तकनीकी परिष्कार से जुड़ी हुई है, उसे करना तो बहुत कुछ आता था, लेकिन हर बात की समझ, उसकी चेतना उसने नहीं पायी थी।

पाषाण युग के लाखों वर्ष बीतते गये और औज़ारों में सममितता निरंतर अधिक स्पष्ट होती गयी, लय अधिक उभरती गयी। इस लय को ही औज़ारों के निर्माता पत्थर में मूर्तित करते थे।

पत्थर की सिलों पर और भक्षित जंतुओं की अस्थियों पर समांतर और अंतर्गुंथित रेखाएं तथा ऐसे अलंकरण बनने लगे, जो हमारे लिए प्रायः अबोधगम्य हैं। हम यह नहीं जानते और प्रायः इसका अनुमान भी नहीं लगा सकते कि यथार्थ जगत की किन छापों से हमारे पूर्वजों के मन में यह इच्छा जागी कि वे उन्हें ऐसी अलंकृत संरचनाओं में व्यक्त करें। किंतु, जैसा कि अकादमीशियन ओक्लाद्‌-निकोव ने लिखा है, इतना निस्संदेह है कि "उनका रचयिता बुद्धि की पुरानी

जड़ता और साहचर्यों की असंवद्धता को लांघने में सफल रहा। उसने पूर्णतः असंबद्ध छापों को व्यवस्थित किया। उसके लिए जो महत्वपूर्ण था, उसे चुना और सममित ज्यामितीय रेखाओं के अमूर्त रूप में व्यक्त किया। अस्पष्ट के स्थान पर स्पष्ट, अव्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था, धुंधली अनुभूतियों और झलकों के स्थान पर तर्क–यही है इस प्राचीनतम अलंकरण का वस्तुगत अर्थ।"

कहा जा सकता है कि ऐसे मामलों में हमारे सम्मुख गणितीय, ज्यामितीय संरचनाएं ही हैं। और ज्यामिति तो दिक् के नये वशीकरण और वोध की दिशा में एक क़दम है, साथ ही यह क़दम काल की गति और कालगत संरचनाओं के बोध के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है।

पुरापाषाण युग के अलंकरणों में तत्वों की संख्या से यह पता चलता है कि लय का आधार ५, ७, १० और १४ की संख्याएं थीं। इनमें पांच और दस की उत्पत्ति निर्विवाद है–हमारे हाथों की उंगलियों की संख्या दशमलव गिनती का आधार है। कतिपय जनगण (उदाहरणतः, अमरीकी इंडियनों) में प्रचलित २० की संख्या पर आधारित गिनती की उत्पत्ति भी ऐसी ही है–एक व्यक्ति के हाथों-पांवों की उंगलियों की संख्या के अनुसार।

षाष्टिक गणना की उत्पत्ति भी अतिप्राचीन काल में हुई होगी। विशेषज्ञों का अनुमान है कि आद्यभारतीय नगरों में इसका व्यापक प्रचलन था। भारत में जलवायु की प्राकृतिक परिस्थितियों से वर्ष का तीन और छह ऋतुओं में स्थायी विभाजन होता है। निस्संदेह इसी के आधार पर षाष्टिक गणना वनी होगी।

७ और १४ की संख्याएं कहां से आयीं? क्या कारण है कि आज तक उनका "पवित्र" महत्व बना हुआ है (सप्ताह में सात दिन हैं)? दक्षिण अमरीका के रेड इंडियनों और न्यूज़ीलैंड के माओरी क़बीलों में भी क्यों सात की संख्या का विशेष स्थान है वैसे ही, जैसे कि प्राचीन सुमेरी, भारतीय और यूनानी-रोमन सभ्यताओं में था?

प्रत्यक्षतः, ये संख्याएं आदि मानव द्वारा आकाश के प्रेक्षणों का परिणाम हैं। १४ दिन चांद्र मास का आधा भाग हैं और सात दिन इस मास का एक चौथाई भाग–समय की गिनती के लिए यह वहुत सुविधाजनक है। कोई भी एकाग्र प्रेक्षक अचल तारों से अलग सात गतिमान खगोलीय पिंड देख सकता था (सूर्य, चंद्रमा तथा पांच ग्रह)।

गणना संवंधी धारणाओं के विकास की इस दिशा के साथ-साथ ३, ६

और ६ की संख्याएं भी पुरापाषाण-युगीन अतीत में ही अलग कर ली गयी थीं। कुछ विशेषज्ञों के मत में, इसका संबंध दिक् के ऊर्ध्व दिशा में विभाजन से है। इसमें पहला सरलतम विभाजन तीन भागों में होता है: शिर, मध्य, तल। इसके आगे प्रत्येक भाग को २ और ३ से फिर विभाजित किया जा सकता है, जिससे ६ और ६ की संख्याएं प्राप्त होती हैं। इस दिशा में विकास के फलस्वरूप ही दस की संख्या की छह बार आवृत्ति प्रचलित हुई होगी, जिसका उपयोग जापान के होकाइदो द्वीप के प्राचीन निवासी आयनामी जनजाति के लोग करते थे। एशिया के दूसरे छोर पर इससे सुमेर-बाबुल सभ्यता के गणित की प्रमुख गणना-पद्धति निर्धारित हुई। १२ की संख्या का प्रचलन भी इसी क्रम में आता है, दर्जन की गिनती, प्रत्यक्षतः, छह को दो बार दोहराने से चली होगी। प्राचीन काल में इस पद्धति का रोम, चीन तथा अन्य कई देशों में व्यापक प्रचलन था। पश्चिमी यूरोप में बहुत देर तक गिनती दशकों में नहीं, दर्जनों में होती थी। फ़्रांस में दशमलव गणना-पद्धति १७६३ में लागू की गयी। इंगलैंड में तो अभी हाल ही में इसे अपनाया गया है। त्रिआधारित गणना-पद्धति ने मानवजाति की संस्कृति पर गहरी और, शायद, अमिट छाप छोड़ी है। इसका प्रमाण हैं—वर्ष में बारह महीने, दिन का दो दर्जन घंटों में विभाजन, एक घंटे में साठ मिनट और हर मिनट में उतने ही सेकंड।

कृषि-कार्यों के हर साल दोहराये जानेवाले चक्र के लिए वर्षा ऋतु के आगमन, बाढ़ों तथा दूसरी ऐसी घटनाओं के समय का यथेष्ट सही ज्ञान पाना आवश्यक था। कृषि की इन आवश्यकताओं ने ही, संभवतः, पहले पंचांग (कैलंडर) को जन्म दिया होगा।

हमारे लिए तो अब कैलंडर प्राकृतिक घटनाओं के साथ इतना जुड़ा हुआ नहीं है। हमारे सप्ताहों का चंद्र-कलाओं के साथ सीधा संबंध नहीं है, सिवाय इसके कि इन कलाओं को देखते हुए ही इनमें सात दिन हैं।

आजकल संसार के अधिकांश देशों में सौर पंचांग प्रचलित है और इसकी उत्पत्ति रोमन पंचांग से हुई है। वैसे तो, आरंभ में रोमवासियों के यहां भी जो पंचांग था, उसमें वर्ष में केवल दस महीने थे और ३०४ दिन। फिर महीने १२ हो गये और दिन ३५५। इसके साथ ही यह चांद्र पंचांग हो गया, हर नया मास शुक्ल पक्ष की प्रथमा को आरंभ होता था। किंतु सौर वर्ष तो प्रायः ३६५ दिनों का होता है। सो, हर दो साल बाद कैलंडर में अतिरिक्त महीने जोड़ने पड़ते थे।

प्रथम शताब्दी ई० पू० में जूलियस सीज़र ने सिकंदरिया के खगोलविज्ञानियों की सहायता से पंचांग में सुधार किया, जो सौर पंचांग हो गया; हां, इसके अनुसार गणना का पहला दिन – १ जनवरी ४५ ई० पू० – पुराने चांद्र वर्ष की गणना से जुड़ा हुआ था, यह मकर संक्रांति के बाद पहली शुक्ल प्रथमा थी।

प्राचीन ईरान के खगोलविज्ञानियों ने अपने पंचांग में इस बात को ध्यान में रखा कि जाड़ों में सूर्य अपने क्रांतिवृत्त में अधिक तेज़ी से चलता है तथा गर्मियों में धीमी गति से। इसलिए उनके बारह महीने के सौर पंचांग में वर्ष के (वह मार्च में आरंभ होता था) पहले छह महीने ३१-३१ दिन के थे और अगले छह महीने ३०-३० दिन के।

मुस्लिम चांद्र पंचांग के प्रत्येक वर्ष में सौर वर्ष से १०-११ दिन कम होते हैं, इसलिए उसमें गर्मियों या जाड़ों के महीने नहीं हैं। कोई भी महीना किसी भी ऋतु में आ सकता है। यह हिजरी संवत उस तिथि (१५ जुलाई ६२२) से आरंभ होता है, जब पैग़ंबर मुहम्मद ने मक्का से मदीना को पलायन किया।

प्राचीन माया लोग समय के मामले में और भी अधिक स्वतंत्रता बरतते थे। ३६० दिनों के सौर वर्ष के अलावा, जिसमें और ५ दिन जुड़ते थे, उनके यहां २६० दिनों का आनुष्ठानिक वर्ष भी था। दोनों वर्ष महीनों में विभाजित होते थे, जिनमें प्रत्येक २० दिन का होता था। उनके यहां सप्ताह भी था, जो तेरह दिनों का होता था।

दिक् को विखंडित करते और मापते हुए मानव ने अपनी सुविधा के लिए समय को भी समान अंतरालों में बांट लिया। अनेक जनगण ने सुमेर सभ्यता का अनुसरण करते हुए अपने यहां सात दिन के सप्ताहों और प्रायः चांद्र मासों की अवधि जितने ही महीनों में समय की गणना बनाये रखी। रोमवासी अपने महीनों को सप्ताहों में नहीं, दस दिवसीय खंडों में विभाजित करते थे। माया लोग तो वर्ष को ऐसे काल-खंडों में विभाजित करते थे, जिनका किन्हीं प्रत्यक्ष प्राकृतिक मानकों के साथ कोई संबंध नहीं था।

अधिसंख्य देशों में वर्षों की गणना शताब्दियों में होती है। पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के कई देशों में ६० वर्षों के चक्रवाला पंचांग प्रचलित है। ऐसे चक्र के प्रत्येक वर्ष का दोहरा नाम होता है: पांच तत्वों (काष्ठ, अग्नि, पृथ्वी, धातु, जल) में से किसी का तथा निम्न १२ जंतुओं में से किसी एक का:

चूहा, गाय, बाघ, खरगोश, अजदहा, सांप, घोड़ा, भेड़, बंदर, मुर्ग़ी, कुत्ता और सूअर।

पंचांग में संशोधन और सुधार समाज के विकास का, सर्वप्रथम उसकी उत्पादक शक्तियों और तदनुसार सामाजिक संबंधों के भी विकास का सीधा परिणाम थे।

मध्य युग में कालदर्श चक्रीय ही नहीं, "पारिवारिक-वंशानुगत" भी था, प्रत्येक परिवार अपने वंश की पीढ़ियों का हिसाब रखता था। लेकिन उत्तर मध्य युग में यूरोप में काल के प्रति रुख़ बहुत बदल गया, विशेषत: नगरों में। नगरवासी शिल्पियों और व्यापारियों का व्यवसाय कृषि की भांति ऋतुओं से नहीं जुड़ा हुआ था। वे तो लाभ कमाने के लोलुप थे और लाभ इस बात पर निर्भर करता था कि माल को बनाने और बेचने में कितना समय लगता है।

मध्ययुगीन नगरों में नगरपालिका भवनों पर घड़ियां लगायी जाने लगीं। मीनार पर लगनेवाली पहली घड़ी यूरोप में १३वीं शती में बनी, पहली यांत्रिक घड़ी तो इससे कम से कम सौ साल पहले ही बनायी जा चुकी थी। तब से, पहले घंटों और मिनटों तथा फिर और भी छोटी इकाइयों में मापा जानेवाला
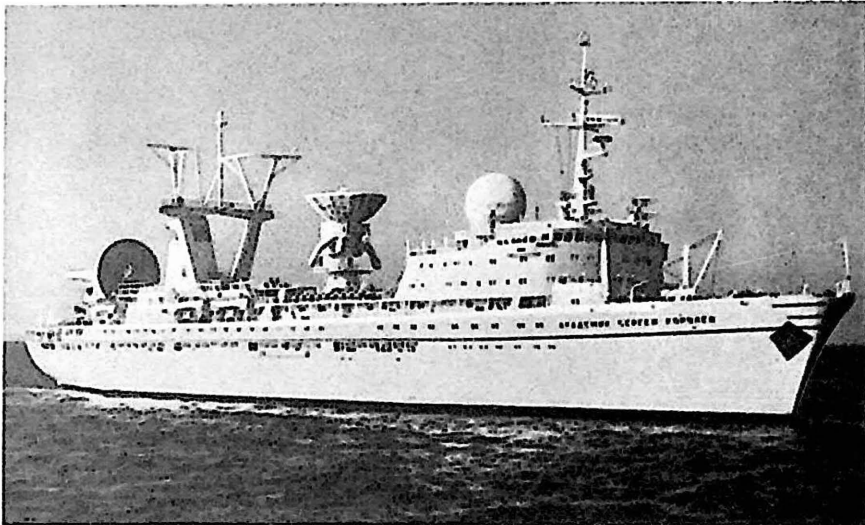
वैज्ञानिक अनुसंधानों के लिए बनाया गया आधुनिक जलपोत।

समय मानव-संस्कृति में निरंतर अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहा है।

१४वीं शती में फ़्लोरेंसवासी लेखक पाओलो दी चेर्ताल्दो अपने पाठकों को परामर्श देते हैं: "जो देर तक सोता है, वह समय गंवाता है", "याद रखो कि वीता समय नहीं लौटता"।

१८वीं–१६वीं शतियों में ओशियाना द्वीपसमूह पर पहुंचे यूरोपीयों को सवसे अधिक आश्चर्यजनक क्या लगा? इन द्वीपों के मूलनिवासियों का समय के प्रति निश्चिंतता भरा रुख, यह बात कि स्थानीय निवासियों को अपने जीवन पर काल की सत्ता का कोई आभास ही नहीं है। इससे प्रायः ऐसे निष्कर्ष निकाले जाते थे कि उष्ण कटिबंध के लोग आलसी हैं, वेहद लापरवाह हैं।

वात जातियों-नस्लों के वीच भेदों की नहीं है, बल्कि यह है कि दो युगों के, मानवजाति के सामाजिक विकास की दो भिन्न अवस्थाओं के प्रतिनिधियों का आमना-सामना हुआ। यूरोपीय देश आयरलैंड के देर तक आर्थिक दृष्टि से पिछड़े रहने का ही, शायद, यह परिणाम है कि आज भी वहां यह मुहावरा प्रचलित है: "ईश्वर ने जव समय वनाया था, तो वहुत वनाया था"।

सोवियत इतिहासकार अ० या० गुरेविच "पूर्व" और "पश्चिम" की समस्या पर नृजातीय-सांस्कृतिक दृष्टि से विचार करते हुए इस वात की ओर विशेषतः ध्यान देते हैं।

उनके मत में, इन देशों के वीच एक भेद यह है कि समय के प्रति उनका रुख विभिन्न है। उदाहरणतः, परंपरागत जापानी संस्कृति में काल एक चक्रीय प्रक्रिया है: इतिहास वारंवार फिर उसी विंदु पर लौटता है, वही घटनाक्रम हर चक्र में दोहराया जाता है।

इसके विपरीत, "पश्चिम" में आज काल के साथ विकास और प्रगति की धारणाएं जुड़ी हुई हैं, काल को दिशावद्ध माना जाता है।

हां, मर्म यही है। किंतु यह "पश्चिमी धारणा" अपने आप में "पश्चिम" की देन नहीं है, बल्कि उसके इतिहास की पिछली कुछ सदियों की ही देन है। उससे पहले यहां भी दृश्य भिन्न था।

"यूरोपीय जनगण की संस्कृति में भी, जो वहुत पहले ही काल के ऐसे ('जापानी') वोध को त्याग चुके हैं, अभी तक ऐसी 'अपश्चिमी' व्याख्या के अवशेष पाये जा सकते हैं," गुरेविच लिखते हैं। "समय के लिए इनकी भाषाओं में प्रयुक्त शब्द लीजिये: अंग्रेज़ी के 'tide' का अर्थ 'समय', 'काल' है

और साथ ही 'ज्वार-भाटा' भी; अंग्रेज़ी का 'year' और जर्मन भाषा का 'jahr' शब्द प्राचीन स्कैंडिनावियाई शब्द 'ăr' से बने हैं, जिसका अर्थ है 'काल', 'वर्ष', 'फ़सल', अर्थात अरेखीय काल, जिसकी निरंतर नयी पुनरावृत्ति होती है।"

पिछली शताब्दियों में पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियों के बीच एक और वास्तविक भेद देखा जा सकता है। जापानी चित्रकार छविचित्र बनाते समय चेहरे की व्यक्तिगत विशेषताएं चित्रित करने की चेष्टा नहीं करते थे। मध्ययुगीन यूरोप के चित्रकार भी इसी सिद्धांत का पालन करते थे, वे मानव-मुख चित्रित करते हुए उनमें अद्वितीय, "असाधारण भाव" नहीं खोजते थे, बल्कि कुछ ऐसा, जिस पर काल का वश नहीं है। दोनों ही मामलों में यह चित्रकार का "अकौशल" नहीं है, बल्कि कलात्मक कार्यभारों की विशिष्टता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्व और पश्चिम के बीच इतने विशाल प्रतीत होनेवाले भेदों की तह में भौगोलिक दिक् नहीं, ऐतिहासिक काल निहित है। इसका अर्थ यह नहीं कि मध्य युग में यूरोपीय संस्कृति और पूर्व की संस्कृति में बहुत समानता थी। बात बस इतनी है कि दूसरे की संस्कृति का अध्ययन करते समय अपनी संस्कृति को भी पूरी स्पष्टता के साथ ध्यान में रखना चाहिए और वह भी किसी एक युग की नहीं लेनी चाहिए, बल्कि उसके ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में उसे देखना चाहिए।

संक्षेप में यह कि परायी संस्कृति को समझने के लिए पहले स्वयं अपने को, अपनी संस्कृति और उसके इतिहास को अधिक गहराई में समझना चाहिए, दूसरे जनगण और देशों की संस्कृति और इतिहास के साथ उसके सहसंबंध और एकता को पहचानना चाहिए।

संसार के किसी भी भाग में सामाजिक विकास की निश्चित अवस्था में प्रत्येक जनगण में अनिवार्यत: प्रकट होनेवाली सांस्कृतिक परिघटनाओं को प्राय: राष्ट्रीय या "क्षेत्रीय" विशिष्टता मात्र मान लिया जाता है। किंतु, ध्यातव्य है कि कुछ देशों में सामाजिक विकास के अगले चरण में संक्रमण के साथ ऐसी "अवस्थामूलक उपलब्धियों" का लोप हो जाता है, जबकि दूसरे देशों में वे दीर्घकाल तक बनी रहती हैं, कुछ हद तक रूपांतरित भले ही वे हो जाती हों।

काल का एक चक्र के रूप में "पूर्वी" बोध ही लीजिये। ऐसा बोध आदिम समाज में ही बनने लगता है, लेकिन मध्ययुगीन सामंतवादी उत्पादन पद्धति

की आरंभिक अवस्थाओं में ही वह पूर्णता को प्राप्त होता है। यूरोप में पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के प्रकट होने से पहले ही, पुनर्जागरण काल में, अर्थात सामंतवाद की उच्चतः विकसित अवस्था में ही ऐसा बोध लुप्त (या प्रायः लुप्त) हो गया।

पूर्व में पूंजीवाद के दौरान भी ऐसा बोध क्यों काफ़ी हद तक बना रहा है? प्रत्यक्षतः, इसका कारण यह है कि एशिया के बड़े भाग में सामाजिक विकास की सामंतवादी अवस्था का यूरोप की तुलना में न केवल बाद में अंत हुआ, बल्कि आरंभ भी उससे कहीं पहले हुआ था। पश्चिमी यूरोप में रोमन साम्राज्य के पतन काल को सामंतवाद का आरंभ माना जाता है। चीन और भारत में, अनेक विशे-षज्ञों के मतानुसार, सामंतवादी संबंध ईसवी संवत से पहले ही विकसित होने लगे थे।

परिणाम यह है कि वे सांस्कृतिक परिघटनाएं, जिन्हें सामंतवाद ही जन्म देता है या जो उससे जुड़ी होती हैं, दक्षिणी और पूर्वी एशिया में कहीं अधिक समय तक अस्तित्वमान रहीं तथा संस्कृति में अधिक गहरी पैठीं। उनके पुराने पड़ने की, निरसन और उन्मूलन की प्रक्रिया भी वहां अधिक लंबी है।

काल विषयक धारणाएं बदल रही हैं। आइन्स्टीन द्वारा सापेक्षता सिद्धांत निरूपित किये जाने के साथ मानव की चेतना में दिक् और काल का नया सहसंबंध बना है।

जीवन-प्रणाली
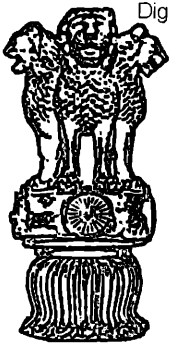
"... उत्पादन पद्धति को केवल इस पक्ष से नहीं देखना चाहिए कि वह व्यक्तियों के भौतिक अस्तित्व का प्रतिरूप है। इससे भी अधिक हद तक यह इन व्यक्तियों के कार्यकलाप की निश्चित विधि है, उनकी जीवन-सक्रियता का निश्चित रूप है, उनकी निश्चित जीवन-पद्धति है।"

कार्ल मार्क्स,
फ़ेडरिक एंगेल्स

इतिहास – एक नियमसंगत प्रक्रिया

इतिहास में कोई काल ऐसा नहीं है, जिसे शांत काल कहा जा सके। जब लोग कंद-मूल और फल-बेरियां बटोरते थे, शिकार करते थे, उन दिनों उनके सिर पर सदा दुर्भिक्ष का संकट मंडराता रहता था। जब लोग फ़सलें उगाने, ढोर-डंगर पालने, उनसे दूध और ऊन पाने लगे, तो भंडार बनाना संभव हुआ, आनेवाले दिन की चिंता कुछ कम हुई, दुर्भिक्ष का सामना अब अपेक्षाकृत कम करना पड़ता था। यह सब केवल इसीलिए संभव हुआ कि "अतिरिक्त उत्पाद" बना, किंतु इसके साथ ही समाज में वर्गों के प्रकट होने का आधार बना, लोगों के ऐसे दलों के प्रकट होने का, "जिनमें एक दल दूसरे के श्रम को हस्तगत कर सकता है, क्योंकि सामाजिक अर्थव्यवस्था के ढांचे में उनका स्थान भिन्न-भिन्न होता है" (लेनिन)। "अतिरिक्त उत्पाद" की बदौलत ऐसे भंडार बने, जो शत्रुओं को आकर्षित करते थे। उत्पीड़क और उत्पीड़ित, विजेता और पराजित बन गये।

अव तो हम जानते हैं: अतीत में स्वर्ण युग की खोज करना व्यर्थ है। हालांकि न केवल प्राचीन कवियों, अपितु आधुनिक इतिहासकारों की भी यह उत्कट अभिलाषा रही है कि शताब्दियों या सहस्राब्दियों पहले के अतीत में कोई ऐसा काल, ऐसा देश खोज निकालें, जव और जहां लोग सुख-चैन से रहते रहे हों— न वे भूखे रहे हों, न परवश, वे सदाचारी भी रहे हों और स्वतंत्र भी।

पुरानी दुनिया के बारे में ऐसी भ्रांतियां जव दूर होने लगीं, तो अमरीकी इतिहास के कुछ अध्येताओं ने "स्वर्ण युग" का नया काल और नया स्थान ढूंढ़ निकाला—प्रथम सहस्राब्दी ईसवी का मध्य अमरीका। उन्हें लगता था कि यहां कई शतियों तक समाज पूर्णतः स्थिर रहा, उत्पीड़ितों का कोई विद्रोह नहीं हुआ, यहां तक कि पड़ोसियों से युद्ध भी नहीं हुए। किंतु प्राचीन वस्तियों की खोज और पुरातत्वीय खुदाई जारी रही, घने वनों में विशाल दुर्गों का पता चला।... दुर्ग तो आवश्यकता के विना वनाये नहीं जाते।

सर्वत्र ही लोगों का जीवन कठिन और जोखिमभरा रहा है।

"...ऐतिहासिक विकास की बहुत बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ती है," इतिहास और संस्कृति के मर्मज्ञ गेओर्गी प्लेखानोव ने लिखा। "इस विकास का, कम से कम एक समय तक, और यह मानना होगा कि यह समय काफ़ी लंबा होता है, परिणाम यह होता है कि समाज वर्गों और श्रेणियों में बंटता है, विशेषाधिकारसंपन्न मुट्ठी भर लोगों का प्रभुत्व स्थापित होता है, जनसाधारण उत्पीड़ित होते हैं, मानव-व्यक्तित्व का हनन होता है और प्रायः स्वैरता, निरंकुशता अपना वीभत्स रूप दिखाती है। कौन-सी शक्ति मानवजाति को सभ्यता की कड़ी अग्नि-परीक्षा से गुज़रने को विवश करती है? कौन-सी शक्ति कतिपय मानव-समुदायों को इस वात के लिए विवश करती है कि वे अपने आदिम संवंध त्यागें, नये राजनीतिक दलों में संगठित हों तथा 'इतिहास की वेगार' करने निकलें?"

समाज का वर्गों में विभाजन उत्पादक शक्तियों के विकास का अवश्यंभावी परिणाम था। अधिक सशक्त समाज को अधिक जटिल होना ही था, उत्पादन के संचालन के प्रकार्य अधिकाधिक स्पष्ट रूप से इस उत्पादन में सहभागिता के प्रकार्यों से अलग होते जा रहे थे।

दासस्वामियों का वर्ग उत्पादन का संगठन और नियंत्रण करता था और जव तक वह यह काम निभाने में समर्थ था, तव तक दासप्रथात्मक व्यवस्था को ध्वस्त करने के प्रयास व्यर्थ थे, यही नहीं, विद्रोह करनेवाले दास भी अधि-

कतर केवल यही चाहते थे कि जो दास थे, वे स्वामी बन जायें।

सामंतवादी युग में भी शोषितों के ऐसे विद्रोह हुए, जिनकी विजय के फल-स्वरूप इन विद्रोहों के नेताओं ने समाज के सामंती शासक वर्ग में स्थान पाया। मध्ययुगीन नार्वे में ऐसा हुआ था, जहां १२वीं शती के अंत में किसान नेता स्वेर्रे महान वीस वर्ष के संघर्ष के पश्चात सिंहासन पर विराजमान हुआ। शत्रु उसके समर्थकों को विर्केबीनर (छाल के जूते पहननेवाले) अर्थात अधनंगे कहते थे और वे ऐसा कहलाने में गर्व अनुभव करते थे। चीन में भी ऐसा हुआ था। वहां वह आंदोलन, जिसके फलस्वरूप १३६८ में मंगोल वंश का अंत हुआ, न केवल राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन था, वल्कि सामंतवादविरोधी भी। इस आंदोलन ने एक साईस को सिंहासन पर विठाया।

हां, यही होता रहा। विजेताओं का ऊपरी संस्तर शासक वर्ग में शामिल हो जाता था और शेष लोगों के लिए सब कुछ पहले जैसा ही रहता था। विद्रोहियों के ध्येय कितने भी उदात्त क्यों न रहे हों, वे न तो आदिम समानता फिर से लाकर इतिहास का चक्र उलटा चला सकते थे और न ही इतिहास की गति से आगे वढ़ सकते थे, ऐसा समाज बना सकते थे, जिसमें न शोषक होते, न शोषित। इस सव के वावजूद उत्पीड़ितों के विद्रोह, जिन्हें विजय पा लेने पर भी असफल होना वदा था, वस्तुगतत: समाज के विकास में सहायक थे। इतिहास में हर बात का अपना समय है। "इतिहास की वेगार" तो पूरी करनी ही पड़ती है।

सामाजिक विकास पर प्राकृतिक परिस्थितियों के प्रभाव का प्रश्न भी वहुत महत्वपूर्ण है। पिछली कई सदियों से इस वात को लेकर ज़बरदस्त विवाद चल रहा है कि प्रकृति इतिहास पर कितना गहरा प्रभाव डालती है। यहां हम संक्षेप में इस विषय पर विचार करते हुए केवल उन बातों को ही ले रहे हैं, जिन्हें विज्ञान में स्वीकृत कहा जा सकता है।

पहले हम वयोवृद्ध सोवियत नृजातिविज्ञानी याकोव रोगीन्स्की को उद्धृत करना चाहेंगे :

"लोगों पर प्राकृतिक परिस्थितियों के प्रभाव के पांच प्रमुख रास्ते इंगित किये जा सकते हैं। सबसे सरल है उनके स्वास्थ्य, शारीरिक सहनशीलता, कार्य-क्षमता तथा प्रजननक्षमता और मृत्युदर पर सीधा प्रभाव। दूसरे प्रकार का प्रभाव मनुष्य के अस्तित्व के प्राकृतिक साधनों—शिकार के जीव-जंतुओं, मछलियों,

वनस्पतियों, दूसरे शब्दों में, आहार की प्रचुरता या अभाव – पर उसकी निर्भरता के ज़रिये पड़ता है। आवश्यक श्रम-साधनों का होना या न होना प्रभाव का तीसरा रास्ता है; यह कारक अत्यंत महत्वपूर्ण है और इसकी भूमिका इतिहास के दौरान बदलती रही है। कहना न होगा कि चक़मक़, टिन, तांवा, लोहा, सोना, पत्थर का कोयला और यूरेनियम अयस्क – इन सबकी विभिन्न युगों में समाज की अर्थव्यवस्था में भूमिका अलग-अलग रही है। मानव और उसकी संस्कृति पर पर्यावरण के प्रभाव का चौथा पथ मानव को कार्य करने की प्रेरणा देनेवाले कारकों के चरित्र द्वारा ही निर्धारित होता है। इतिहासकार टॉयनवी ने इसे प्रकृति द्वारा मानव को दी जानेवाली 'चुनौती' कहा है, जिसका उसे 'उत्तर' देना होता है। मानवजाति और मानव-संस्कृति पर प्राकृतिक पर्यावरण के प्रभाव का पांचवां स्रोत विशेषत: और अत्यधिक महत्वपूर्ण रहा है और अब भी है। यह है विभिन्न मानव-समुदायों के बीच संपर्कों और भेंटों के मार्ग में प्राकृतिक बाधाओं (दलदलों, रेगिस्तानों, पर्वतों, सागरों) का होना या न होना। बाधाओं का न होना, एक ओर, एक दूसरे के अनुभव से समृद्ध होने के लिए अत्यंत उपयोगी हो सकता था; दूसरी ओर, शत्रु-समुदाय के अधिक बड़े दल-बल से टकराव होने पर घातक सिद्ध हो सकता था। इन परिणामों के बीच संतुलन बड़ा अस्थिर हो सकता था और ऐसा, जिसके बारे में कोई भविष्यवाणी करना असंभव था।"

ऐसे समाज को, जिसमें कृषि का विकास हो गया हो, नगर बन गये हों, लिपि विकसित हो चुकी हो, विशाल भवन बनाये जाते हों, इतिहासकार सभ्यता कहते हैं। पुरानी दुनिया की पहली सभ्यताएं २० और ४० अंश उत्तरी अक्षांतर के बीच के उपोष्ण कटिबंध में बनीं। प्राय: एक ही समय पर मिस्र, मेसोपोटामिया (दजला और फ़रात का दोआब) तथा भारत उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम में इनका विकास हुआ। निस्संदेह, भौगोलिक दृष्टि से यह समानता मात्र संयोग नहीं है। उपोष्ण कटिबंध में सामान्यत: (कम से कम आरंभिक काल में) कृषि में श्रम-व्यय कम होता है। यहां, नियमत:, ज़मीन जोतना आसान होता है – पत्थर और लकड़ी के सादे औज़ारों से ही जुताई की जा सकती है, धातु के औज़ार होना ज़रूरी नहीं है।

दासों या आश्रित लोगों के श्रम से दासस्वामी को मिलनेवाला अतिरिक्त (वेशी) मूल्य उपोष्ण कटिबंध में अपेक्षाकृत अधिक होता है, क्योंकि श्रम-

शक्ति के पुनरुत्पादन पर व्यय कम होता है। यहां न गरम मकानों की, न गरम वस्त्रों की आवश्यकता होती है। इस उदार भूमि में तो जीवित रहने के लिए भोजन भी उतना नहीं चाहिए, जितना कि कहीं ध्रुव प्रदेश में। लेकिन यहां खेतों में अक्सर पानी देना, या इसके विपरीत, पानी सुखाना पड़ता है और इस-लिए वहुत जल्दी ही हज़ारों लोगों का श्रम संगठित करना आवश्यक हो जाता है।

पुरानी दुनिया में पहली सभ्यताएं उन स्थानों पर प्रकट हुईं, जहां लोगों को महान नदियों को वश में करना पड़ा था। उधर, अमरीका में सभ्यता के इतिहास का क्रम दूसरा ही रहा। अमरीका में मैक्सिको के भूक्षेत्र में तथा इंक साम्राज्य में शामिल इलाक़ों में कोई भी विशाल नदी न थी, जो अमरीकी संस्कृतियों के लिए "श्रम को संगठित करने की" वह भूमिका अदा करती, जो अफ़्रीका में नील, एशिया में दजला और फ़रात, सिंधु और गंगा, हुआङ्हे और यांग्त्से-क्यांग ने अदा की। अमरीका के उस भाग की वहुसंख्य नदियों में एक भी ऐसी नहीं थी, जो पूरे भूभाग को एक सूत्र में पिरोनेवाला परिवहन मार्ग वन सकती, जिसके तटों पर वहुसंख्य वस्तियां वनतीं।

मैक्सिको और पेरू की ज़मीन ऐसी थी कि यहां अतिरिक्त उत्पाद पाने के लिए विशाल जनसमूह के श्रम की आवश्यकता थी, क्योंकि यहां की ज़मीनों पर खेती के लिए केवल सिंचाई की नहीं, वल्कि भूमि-उद्धार के अन्य कई कार्यों की भी ज़रूरत थी। पेरू में कृषि-कार्य के लिए पहाड़ों की ढलानों पर खेत काटने का प्रचलन हुआ। यह कल्पना करना कठिन नहीं है कि ऐसे खेत वनाने के लिए कैसा भगीरथ परिश्रम करना पड़ता होगा, विशेषत: यदि यह ध्यान में रखा जाये कि कई वार तो उनके लिए उपजाऊ मिट्टी भी नीचे से ले जानी पड़ती थी। ऐंडीज़ पठार की उर्वर घाटियों से कृषि का नये-नये क्षेत्रों में प्रसार हुआ। यहां अतिरिक्त उत्पाद इतना अधिक था कि इंक लोग इसके वल पर विशाल सेना, खूव वड़ा संचालन-तंत्र तथा ऐसे कर्मी रख सकते थे, जो नहरें विछाते, खेत काटते और असंख्य दर्रों में झूला-पुल बांधते थे। इस सारे काम के पैमाने का अनुमान इस वात से लगाया जा सकता है कि इंक साम्राज्य में कुल १५ हज़ार किलोमीटर लंबी सड़कें विछायी गयी थीं। ध्यान रहे कि इनमें ज़्यादातर पहाड़ों में थीं।

मैक्सिको में भी पहाड़ों की ढलानें काटकर खेत वनाये जाते थे। सिंचाई के उपायों में तो यहां ऐसी माहिरी पा ली गयी थी कि प्राचीन मिस्रवासी भी

इस पर ईर्ष्या कर सकते थे। चिनाम्प का उदाहरण ही पर्याप्त होगा। चिनाम्प ज़मीन की लंबी और संकरी पट्टी को कहा जाता था, जो तीन या चार ओर से पानी से घिरी होती थी। इन पट्टियों पर जलीय वनस्पतियों के डंठलों की तह बिछायी जाती थी, उस पर घास-पात फैलाया जाता था और उसके ऊपर प्राकृतिक काई की उर्वर तह। चिनाम्प पर मकई, काशीफल, राजमा, टमाटर की खूब अच्छी पैदावार होती थी। साल में कई फ़सलें यहां उगायी जाती थीं।

दूसरी ओर, प्राकृतिक परिस्थितियों की विविधता भी बहुत महत्वपूर्ण है। ऐसी विविधता परस्पर विनिमय और व्यापार के अवसर प्रदान करती है। यह माना जाता है कि इस कारक की भूमिका भी उन कारणों में से एक रही है, जिनकी बदौलत यूरोप आज से कुछ शताब्दी पूर्व विश्व-विकास में आगे निकलने लगा।

इस सिलसिले में नेहरू जी का दृष्टिकोण उल्लेखनीय है। विश्व-इतिहास पर अपने विचार उन्होंने बेटी इन्दिरा प्रियदर्शिनी के नाम जेल से लिखे पत्रों में व्यक्त किये, जो 'विश्व-इतिहास की झलक' नामक पुस्तक में संकलित हैं। ८ जनवरी १९३१ के पत्र में नेहरू जी ने लिखा: "आज यूरोप समर्थ और शक्तिशाली है, और यूरोपवासी अपने को संसार में सबसे अधिक सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति मानते हैं। यूरोपवासी एशिया और उसके जनगण को हेय दृष्टि से देखते हैं, वे एशियाई देशों में आते हैं और यहां जो कुछ हथिया सकते हैं, हथिया लेते हैं। कितना बदल गया है ज़माना! आओ, यूरोप और एशिया को ज़रा ध्यान से देखें। एटलस खोलने पर तुम विशाल एशिया महाद्वीप से जुड़े छोटे-से यूरोप को देखोगी। वह तो एशिया की छोटी-सी शाखा ही लगता है। जब तुम इतिहास पढ़ोगी, तो पाओगी कि बहुत लंबे अरसे तक, दीर्घकाल तक एशिया का प्रभुत्व रहा। उसके लोगों की एक के बाद एक लहरें यूरोप पर विजय पाती रहीं।... आधुनिक यूरोप के अनेक जनगण का मूल इन एशियाई विजेताओं में ही है।...

"मनुष्य या देश की महानता का मापदंड उसका आकार कतई नहीं हो सकता। हम भली-भांति जानते हैं कि यूरोप संसार का सबसे छोटा भाग होते हुए भी आज महान है।... लेकिन एशिया की महानता को भुलाना भी ऐसी ही मूर्खता होगी।... मैं तुम्हें यह दिखा सकता हूं कि अतीत में हमारा यह प्राचीन महाद्वीप ... कितना महान और जीवनक्षम था। कितना बदल गया है ज़माना!"

नेहरू जी ने एशिया के महान अतीत को नहीं भुलाया, भविष्य में उसकी महान भूमिका की पूर्वकल्पना की और साथ ही यह भी माना कि उन दिनों संसार में यूरोप की ही भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध में सारे संसार के भाग्य का निर्णय मुख्यतः यूरोप के रणक्षेत्रों में ही हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों में, नेपोलियन के युद्धों में और यहां तक कि १८वीं शती के सातवर्षीय युद्ध में भी यूरोप में ही इस बात का निर्णय हो रहा था कि एशिया, अमरीका, अफ़्रीका के किस भाग में कैसी सत्ता स्थापित होगी।

पूंजीवादी पथ पर विकास में यूरोप का नेतृत्व मात्र एक संयोग है या फिर यह किसी नियमसंगति की अभिव्यक्ति है?

मार्क्स ने यह इंगित किया था कि प्राकृतिक परिस्थितियों की विविधता पूंजीवाद की उत्पत्ति के लिए आवश्यक भौगोलिक पर्यावरण का विशिष्ट लक्षण है। यूरोप संसार के दूसरे भागों से सर्वप्रथम इस बात में ही भिन्न है कि यहां प्रकृति की विविधता है, जो मानव-जीवन के लिए आवश्यक परिस्थितियों की विविधता सुनिश्चित करती है।

विख्यात रूसी इतिहासकार वसीली क्लुचेव्स्की ने लिखा था: "दो भौगोलिक विशेषताएं यूरोप को संसार के दूसरे भागों से, और मुख्यतः एशिया से, अलग करती हैं। एक है धरातल के रूपों की विविधता, दूसरी यह कि सागर तटों की रेखा अत्यंत टेढ़ी-मेढ़ी है, सर्पिल है। सुविदित है कि किसी देश के जीवन पर इन दोनों विशेषताओं का कितना प्रबल और बहुमुखी प्रभाव पड़ता है। इन परिस्थितियों के प्रभाव की प्रबलता की दृष्टि से यूरोप पहले स्थान पर है। संसार में और कहीं भी पर्वत-श्रेणियां, पठार और मैदान इतने अपेक्षाकृत कम स्थान पर और इतनी जल्दी-जल्दी एक दूसरे का स्थान नहीं लेते हैं, जितना कि यूरोप में। दूसरी ओर, पश्चिमी और दक्षिणी यूरोप की तटीय पट्टी समुद्र में दूर तक चले गये प्रायद्वीपों और अंतरीपों तथा गहरी खाड़ियों से बनी हुई है। यहां ३० वर्ग मील के महाद्वीपीय विस्तार के पीछे एक मील लंबा समुद्र तट है, जबकि एशिया में एक मील लंबे सागर तट के पीछे १०० वर्ग मील का महाद्वीपीय विस्तार है।"

क्लुचेव्स्की द्वारा इंगित इन दो भौगोलिक विशेषताओं ने, निस्संदेह, इस बात में भूमिका अदा की कि यूरोप पूंजीवाद के विकास में संसार के दूसरे भागों

से आगे निकल गया। यह मानने के लिए भी पर्याप्त आधार है कि इन कारकों का प्रभाव वहुत पहले ही महसूस होने लगा था, हालांकि अलग-अलग समय पर वह समान रूप से प्रकट नहीं होता था। इस प्रभाव का वल स्वयं समाज के विकास के स्तर पर ही निर्भर होता था।

२०वीं शती में दूसरे महाद्वीपों के देश, इनमें एशिया के वे देश भी थे, जिनके वारे में जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था और जो औपनिवेशिक दासता से मुक्त होकर स्वतंत्र राजनीतिक विकास के पथ पर अग्रसर हुए, फिर से संसार में वहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगे।

सो, प्राकृतिक परिस्थितियां स्वयं अपने आप में देशों और जनगण के भाग्य का निर्णय नहीं करती हैं, सामाजिक विकास की गति धीमी या तेज़ तो वे कर सकती हैं, किंतु उसे रोकने में वे असमर्थ हैं। हर वात के मूल में केवल इन कारणों को देखना ग़लत होगा। जर्मन दार्शनिक हेगेल ने भी इस विषय में चेतावनी देते हुए लिखा था: "...यूनान की जलवायु को ही होमर की रचनाओं का कारण वताना सर्वथा अनुचित है।..."

२०वीं शती से पहले के मानवजाति के सारे इतिहास को दो प्रमुख भागों में बांटा जा सकता है: प्राक्वर्गीय समाज का काल तथा वह काल, जव समाज शोषकों और शोषितों में विभाजित हो चुका होता है।

एक ही जन के विभिन्न सामाजिक दलों, संस्तरों के वीच संस्कृति के भेद वर्गाधारित समाज के सारे इतिहास के दौरान अधिक गहरे होते जाते हैं, किंतु इसके वावजूद सारे जन की, जाति की संस्कृति एक ही वनी रहती है।

सामंतों और किसानों की वोली में ब्योरों में कितना भी भेद क्यों न हो, वोलते दोनों एक ही भाषा हैं, दोनों एक ही लिपि का उपयोग करते हैं, एक ही जाति के शोषकों और शोषितों के अलग-अलग धर्म नहीं होते (कुछ ऐतिहासिक क्षणों को छोड़कर, जो कम ही आये और अधिक लंबे भी नहीं थे)।

वर्गाधारित समाज की प्रायः संपूर्ण विचारधारा शोषकों के हित में वनी होती है, किंतु वह सारे समाज पर ही हावी होती है।

उत्पादन संवंधों से, आधार से ही विचारधारा निर्धारित होती है। समाज के विकास के साथ जब पहले के उत्पादन संवंध पुराने पड़ जाते हैं, तव समाज के लिए अनावश्यक हो गये शासक वर्ग की विचारधारा भी पुरानी हो जाती है। यह एक लंवी, जटिल और पीड़ादायक प्रक्रिया है। फ़्रांस में नवोदित और अग्रणी

बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा तभी विजयी हो पायी, जब उत्पादन के क्षेत्र में सामंतवादी संबंध विगत की घटना बन गये थे। विचारधारा के क्षेत्र में नये पूंजीवादी सिद्धांतों की अभिपुष्टि भी तव ही हुई।

सुविदित है कि प्राक्पूंजीवादी समाजों में अनेक श्रेणियां थीं। वर्गों में समाज के प्रमुख विभाजन से भिन्न श्रेणियों में विभाजन ने संसार के अलग-अलग भागों में नाना रूप ग्रहण किये। भारत में चार प्रमुख वर्ण भी आगे चलकर जात-पांत में वंट गये, शूद्रों में भी ऊंची-नीची जातें हो गयीं।

माइक्रोनेशिया के याप द्वीप पर श्रेणियों में विभाजन ने मौलिक रूप ग्रहण किया है। यहां लोग नहीं, वस्तियां ही नौ श्रेणियों में वंटी हुई हैं, तीन श्रेणियां ऊंची हैं, चार निचली और दो बिचली। निचली श्रेणी की वस्ती के लोगों के लिए वह सब खाने तक की मनाही है, जो ऊंची श्रेणी की बस्ती के उनके पड़ोसी खाते हैं। यहां उगनेवाली केले की अनेक क़िस्मों में से केवल एक क़िस्म के केले वे खा सकते हैं। यह अनुमान लगाना कठिन नहीं हैं कि यह क़िस्म सबसे अच्छी नहीं है। यहां पाये जानेवाले अनेक जलजीवों और मछलियों में से उनके लिए केवल शार्क और सर्पमीन (ईल) भक्ष्य हैं। ऐसे गांवों के लोगों के लिए स्थानीय भाषा में जो शब्द है, उसका सबसे सही अनुवाद "दास" ही है। इसमें विशेष आश्चर्य की कोई बात नहीं कि दास और स्वामी अलग-अलग गांवों में रहते हैं और पूरे के पूरे गांव ही सामूहिक दासस्वामी हैं। यह भी ऐतिहासिक विकास के पथों की विविधता की एक अभिव्यक्ति है, उस विविधता की जो दमन के रूपों में भी पायी जाती है। प्राचीन स्पार्टा में स्वयं राज्य ही इलोट दासों का ऐसा सामूहिक स्वामी था।

१५वीं शती में स्याम के अयूतिया राज्य में राजा बह्मत्रिलोकनाथ के शासन-काल में अद्भुत श्रेणी व्यवस्था बनी थी। सारे समाज को पांच श्रेणियों में बांटा गया था: अभिजात, अधिकारी, पुरोहित, सामान्य जन और दास। अभिजातों में केवल राजा के सीधे वंशज ही आते थे, सो भी तीसरी पीढ़ी तक के ही। राजा के पौत्रों के पौत्र यदि अधिकारी गण में स्थान नहीं पा लेते थे, तो सामान्य जन ही माने जाते थे। राजा के वंश को छोड़कर दूसरे अभिजात वंशों के लोग अधिकारी बनते थे, लेकिन उन्हें विशेषाधिकार तब तक ही मिलते थे, जब तक कि वे पदासीन रहते थे। उल्लेखनीय है कि अयूतिया के उच्च अधिकारी राजकीय पद ग्रहण करने के साथ अपना निजी नाम नहीं धारण कर सकते थे, इसके वदले

उन्हें अनेक नये नाम – कभी-कभी तो दर्जन भर – मिलते थे। ये सभी नाम उनके पद से संबंधित होते थे और नये पद पर स्थानांतरण के साथ अधिकारी के नाम भी बदल जाते थे, जबकि पुराने नाम नये अधिकारियों को मिलते थे। इस सब के कारण आज इतिहासकार यह समझने में प्राय: असमर्थ हैं कि अयूतिया में उच्च अधिकारी कब-कब बदले: एक-से ही नामों – पद के नामों – के पीछे, जो सैकड़ों वर्ष तक नहीं बदले, प्रत्यक्षत:, अलग-अलग लोग छिपे हुए हैं।

"इस व्यवस्था का प्रमुख ध्येय सामंती वंशों को अनामी बनाना, पदों और उपाधियों से उनके नाम छिपाना ही था। सामान्य जन के मन में यह बात बिठायी जा रही थी कि कोई ठोस अधिकारी नहीं, उसका पद सम्माननीय है। स्याम के सामंती राजतंत्र के विचारकों के मत में, व्यक्ति कुछ भी नहीं है, पद ही सब कुछ है," सोवियत इतिहासकार ए० बेर्ज़िन लिखते हैं।

यूरोपीय इतिहास में भी इस प्रकार की बातें देखी जा सकती हैं। अंग्रेज़ विद्वान फ़्रैंसिस बेकन का नाम सभी जानते हैं। उनके बाद की कुछ पीढ़ियों के विद्वान अपनी रचनाओं में उनका उल्लेख वेरुलेमियन के रूप में ही करते थे, क्योंकि उन्हें राजा से बैरन वेरुलेम की उपाधि मिली थी। ब्रिटेन में सामंतवाद के ये अवशेष – अभिजातों की उपाधियां – २०वीं शती तक बने रहे हैं। नेपोलियन अपने जनरलों को उन रणस्थलों के नाम पर उपाधियां देता था, जहां पर युद्ध में उन्होंने विशेष वीरता दिखायी। हां, इन सब मामलों में उपाधियां ग्रहण करते हुए लोग, अयूतिया की भांति, अपना पुराना नाम नहीं खोते थे।

अलग-अलग देशों के इतिहास की विविधता में समग्र ऐतिहासिक प्रक्रिया की एकता और भी अधिक स्पष्टता से दृष्टिगोचर होती है, यह साफ़-साफ़ देखा जा सकता है कि किस प्रकार विशिष्ट, सांयोगिक और राष्ट्रीय की पृष्ठभूमि में सामान्य और नियमसंगत उभरता है।

मार्क्स और एंगेल्स ने इतिहास के उन प्रमुख नियमों का पता लगाया, जो विभिन्न युगों में विभिन्न देशों के ऐतिहासिक विकास के सभी रूपांतरों के आधार में निहित होते हैं। पृथ्वी के सहस्रों जनगण के विकास में जो कुछ समान है, वह सामाजिक संरचना, राज्य और विधि के रूपों की सारी विविधता से, विकास की सारी विशिष्टताओं से कहीं अधिक प्रबल है।

समाज के विकास की एक प्राकृतिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के नाते व्याख्या करते हुए मार्क्सवाद के प्रवर्तकों ने यह दिखाया कि मानवजाति के इतिहास की

प्रत्ययात्मक संकल्पनाएं निराधार हैं। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि समाज का विकास वस्तुगत नियमों के अनुसार होता है।

व्यवस्था की ख़ातिर

अपने ऐतिहासिक उपन्यास 'आइवनहो' के एक अध्याय से पहले वाल्टर स्कॉट ने एक "प्राचीन नाटक" से निम्न सूक्ति दी है:

हर राज्य में है व्यवस्था अपनी,
नगरों के नियम, आदेश राजाओं के।

वास्तव में ही प्रत्येक समाज में उसके सदस्यों के परस्पर संबंध नियमित करनेवाले मानक होते हैं, आचार-व्यवहार की निश्चित व्यवस्था होती है। लेनिन ने इस वात का मर्म इन शब्दों में व्यक्त किया है: "समाज में जीना और समाज से स्वतंत्र रहना असंभव है।"

समाज में आचारण-मानकों के महत्व के वारे में सोवियत दार्शनिक ए० व० सोकोलोव लिखते हैं:

"मानक का कार्यभार यह सुनिश्चित करना है कि मनुष्य के व्यवहार में सांयोगिक, शुद्धतः आत्मगत कारणों और परिस्थितियों के प्रभाव का कोई स्थान न हो, कि मनुष्य का व्यवहार निश्चित हद तक विश्वसनीय हो, पूर्वानुमानयोग्य हो, सबके लिए वोधगम्य हो।... सामान्य सचेतन अवस्था में मनुष्य का व्यवहार वाह्य उत्प्रेरणाओं पर नैसर्गिक, सहजवृत्तिमूलक प्रतिक्रिया नहीं होता, स्थिति का सहज प्रत्युत्तर नहीं होता। स्थिति तथा उसके द्वारा जनित कार्य-आवेग के वीच, स्वयं इस आवेग तथा स्थिति के प्रत्युत्तर के बीच मानक स्थित होता है, जो स्थिति द्वारा जनित, स्थिति से व्युत्पाद्य नहीं है, अपितु संस्कृति के सर्वाधिक सामान्य नियमों से संबद्ध है।"

बात केवल यह नहीं है कि समाज आचरण-मानक वनाता है और उनके पालन पर नियंत्रण का भी प्रबंध करता है, ताकि मानक के प्रत्येक उल्लंघन के लिए अनिवार्यतः दंड मिले। समाज सर्वप्रथम अपने सदस्यों को शिक्षित करता है, उन्हें व्यवहार के प्रेरक प्रदान करता है, उनकी चेतना में सामाजिक मूल्यों की अपनी पद्धति विठाता है।

मार्क्स के अनुसार तो मनुष्य का सार ही "सभी सामाजिक संबंधों की समष्टि है"।

समाज के बदलने के साथ आचरण-मानकों की एक व्यवस्था का स्थान दूसरी व्यवस्था लेती है।

संस्कृति का एक प्रमुख "दायित्व" है–मानक निर्धारित और अभिपुष्ट करना, उनके पालन का ध्यान रखना। चूंकि समाज के जीवन का प्रमुख क्षेत्र, जो उसका अस्तित्व ही सुनिश्चित करता है, उत्पादन है, सो, उसमें ही आचारण-मानक अधिक महत्वपूर्ण होने चाहिए। मार्क्स ने इस बात की ओर ध्यान दिलाते हुए लिखा था कि किसी भी प्रकार के उत्पादन में नियमितता और व्यवस्था उसके सारत: अनिवार्य तत्व हैं, इनके होने पर ही उत्पादन में स्थायित्व आ सकता है और वह एक संयोग मात्र या यादृच्छिक कृत्य नहीं रह सकता।

आदिम समाज में गोत्र, बिरादरी, क़बीला क्या हैं? आदिम समाज के विकास के काल में गोत्र सर्वप्रथम भूमि का सामूहिक स्वामी, उत्पादक शक्ति और अंतत: श्रम के उत्पादों का वितरक था। पारिवारिक संबंधों के नियमन का गोत्र का कार्यभार बाह्य तौर पर ही अग्रभूमि में है, किंतु कार्यभार के स्वतो-स्पष्ट होने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि यही गोत्र का मूलभूत कार्यभार था।

ऐसा संगठन अंततोगत्वा जैव संबंधों को व्यवस्थित करने के लिए इतना नहीं था, जितना कि सामाजिक एवं उत्पादनमूलक संबंधों को नियमित करने के लिए।

समाज के लिए जैव की अपेक्षा सामाजिक पितृत्व और मातृत्व ही महत्वपूर्ण है–पिता माना कौन जाता है, न कि वास्तव में पिता कौन है। सोवियत विद्वान यू० ई० सेम्योनोव अपनी पुस्तक 'विवाह और परिवार की उत्पत्ति' में लिखते हैं: "...वंशगत संबंधों में लोगों की रुचि केवल इसलिए है, क्योंकि उनके साथ व्यक्तियों के एक दूसरे के प्रति अधिकार और दायित्व जुड़े होते हैं, क्योंकि ये संबंध समाज के सदस्यों के व्यवहार में प्रकट होते हैं, उसे निर्धारित करते हैं, दूसरे शब्दों में, केवल उस हद तक लोगों की इन संबंधों में रुचि होती है, जिस हद तक कि वे सामाजिक होते हैं।"

इसका प्रमाण हैं मानवजाति के लंबे इतिहास के दौरान रक्त-संबंधों की प्रणालियों में आये परिवर्तन, वे परिवर्तन, जो उत्पादन संबंधों के विकास के स्तर पर निर्भर होते हैं।

इस सिलसिले में कालानुक्रम भंग करके हम अपने लिए अधिक निकट के काल का उदाहरण देखें – १९वीं शती में तथा २०वीं शती के भी बड़े भाग में ग्रामीण जीवन के नियमों को लें।

"सदियों तक किसान परिवार में बड़े की निरंकुश सत्ता आवश्यक थी, एकमात्र संभव और विवेकसंगत सत्ता थी। यह परिवार समाज की प्रमुख उत्पादन इकाई जो था। देश के सभी निवासियों के भरण-पोषण के लिए प्रायः सभी कुछ इस परिवार से ही प्राप्त होता था। परिवार ही खेतीबारी का कारोबार था और परिवार इस कारोबार के लिए ही था।... यहां एक काम करते हुए दूसरे, तीसरे, दसवें का ध्यान रखना चाहिए और निरंतर यह सोचना चाहिए कि किस प्रकार श्रम का संगठन और वितरण किया जाये, ताकि हर किसी की अपनी भूमिका हो, अपना काम हो और सभी जीवन की गाड़ी को एक ही दिशा में खींचें, कुछ भी गड्डमड्ड न हो।... कृषि और पशुपालन के लिए बहुत-सी बातों का ज्ञान और बहुत-से कामों का अभ्यास होना चाहिए, जिसे लेकर कोई भी पैदा नहीं होता। कब और क्या बोना चाहिए, घोड़े-बैल को कैसे जोतना चाहिए और कैसे यह देखना चाहिए कि उन्हें दाना-पानी देने का समय हो गया – ऐसी हर बात के ज्ञान का निर्णायक महत्व है। परिवार के सदस्यों को कौन यह ज्ञान और दक्षता प्रदान कर सकता था? वही जो सबसे बड़ा हो, जिसने ज़िंदगी जी हो और पूर्ववर्ती पीढ़ियों का अनुभव उसका अपना अनुभव बन गया हो। आर्थिक आवश्यकता ही उसे परिवार का मुखिया बनाती थी। उसकी बात ही क़ानून क्यों थी, गांव में स्वप्रबंध की, जनवाद की बू तक क्यों नहीं थी? उसके प्रमुख आदेश प्रविधि (काम करने के ढंग) से संबंधित होते थे। प्रविधि के मामलों में जनवाद का कोई स्थान नहीं हो सकता, वह तो हेतु के लिए घातक है। लोहा कैसे गलाया जाये, इसका फ़ैसला मतदान से नहीं होता। वे सभी प्रश्न, जिनके समाधान का दायित्व कुलपति ग्रहण करता था, किसी न किसी तरह ज़मीन और ढोर-डंगरों की आवश्यकताओं से जुड़े होते थे। वह अपने पुत्र को दुर्बल युवती से विवाह की अनुमति भला कैसे दे सकता था, जबकि इससे परिवार की खुशहाली संकट में पड़ सकती थी?"

यह लंबा उद्धरण हमने अ० स्त्रेल्यानोई के उक्राइनी गांव स्तारया र्यावीना के बारे में लेख से लिया है। हमारे विचार में, इसमें जो कुछ कहा गया, वह संसार के किसी भी कोने के गांव पर लागू होता था। स्वाभाविक ही है कि ऐसी सत्ता

शक्ति पर नहीं, वल्कि कुलपति के नाते पिता की मर्यादा पर आधारित थी।

गोत्र के विघटन के पश्चात ही परिवार समाज की प्रमुख उत्पादन इकाई बना था। जब तक लोगों के आर्थिक जीवन की प्रमुख कड़ी, उसका संगठनकर्ता और नियामक गोत्र था, तब तक उसके सदस्यों पर गोत्र का शासन इससे भी कहीं अधिक चलता था।

गोत्र-समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्थान था, जो उसकी आयु तथा रक्त-संबंधों की प्रणाली में उसकी स्थिति द्वारा निर्धारित होता था। प्रत्येक व्यक्ति की पीठ पीछे गोत्र था, हर कोई अपने इर्द-गिर्द के लोगों का पक्का और विश्वसनीय आसरा महसूस करता था। "वय:संधि" की समस्या हल कर ली गयी थी। लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा की सुचारु पद्धति बना ली गयी थी। अपराध प्राय: अज्ञात बात थी। चोरी हो ही कैसे सकती थी, जबकि किसी के पास कुछ भी अतिरिक्त था ही नहीं और भोजन का समान वितरण निर्विवाद नियम था। (यह सच है कि कठिनाई के क्षणों में आहार पाने के मामले में वयस्क आखेटकों को वरीयता प्राप्त थी, किंतु यह समझ में आता था – उन्हें ही नया आहार लाना होता था।)

तो फिर लोगों ने यह समानता छोड़कर असमानता, सबके लिए स्वतंत्रता छोड़कर गिने-चुने लोगों के लिए स्वतंत्रता क्यों स्वीकार की?

इतिहास में कोई अंतर्निहित अलौकिक ध्येय नहीं होता, केवल कारण और कार्य। ऐतिहासिक विकास के पथ पर यदि वर्गाधारित समाज ने वर्गहीन समाज को विस्थापित किया, उस पर विजय पायी, तो इसका अर्थ है कि अंतोक्त की तुलना में उसमें कोई निर्णायक श्रेष्ठताएं थीं। सर्वप्रथम इस बात में कि समाज का नया संगठन उत्पादन की वृद्धि में तीव्रता लाता था। किंतु केवल यही नहीं। गोत्र-व्यवस्था में लोगों के लिए अपने व्यक्तित्व का विकास करने की संभावनाएं अत्यंत सीमित होती हैं। पहली नज़र में इतने स्वतंत्र प्रतीत होनेवाले लोगों को अपने भाग्य का निर्णय करने का अधिकार नहीं होता। यहां कोई ऐसे निश्चित व्यक्ति नहीं होते, जिन्हें उन्हें आदेश देने का अधिकार हो, किंतु पूरे गोत्र का उन पर शासन होता है और कुछ मामलों में तो गोत्र की सत्ता दासप्रथात्मक समाज में दास पर स्वामी की सत्ता से भी अधिक होती है। लोगों का सारा आचरण प्रथाओं द्वारा निर्धारित होता है, जो व्यक्ति को पूरी तरह अपने बंधनों में जकड़े रखती हैं।

दासप्रथा प्रकट होने के साथ "विभूतियों का प्रकट होना" संभव हो जाता है, केवल दासस्वामियों के वीच ही नहीं, वल्कि अपेक्षाकृत स्वतंत्र शिल्पियों और किसानों के वीच भी, जिनके सम्मुख संसार में अपना भाग्य स्वयं निर्धारित करने का मार्ग खुला होता है। इस संसार में अव अनेक व्यवसाय होते हैं, राजनीतिक कार्यकलाप होता है। यह सव कहने का आशय दासप्रथा का गुणगान करना नहीं है। निस्संदेह, यह संस्कृति की प्रगति के पथ पर मानवजाति का एक सवसे वड़ा वलिदान है और, अंततोगत्वा, उसका यह वलिदान व्यर्थ नहीं गया है।

सामंतवादी समाज में लोगों के जीवन के मानक दासप्रथात्मक समाज में ऐसे मानकों से वहुत भिन्न होते हैं। पूंजीवाद के आविर्भाव के साथ भी ये वदलते हैं। किंतु प्रमुख वात वनी रहती है: शोषक समाज में जीवन को व्यवस्थित करनेवाले नियम शोपकों का प्रभुत्व वनाये रखने में सहायक होने चाहिए।

प्रथाएं और क़ानून

गोत्र-समाज के प्रत्येक सदस्य के अधिकार और दायित्व होते हैं—उन अर्थों में, जिनमें कि आज हम इन शब्दों को समझते हैं, जैसे: गोत्र की सभा में भाग लेने का अधिकार और गोत्र के सदस्य की हत्या के प्रतिशोध का दायित्व; किंतु स्वयं उसके लिए अधिकारों और दायित्वों के वीच भेद नहीं है। एंगेल्स के शब्दों में, एक रेड इंडियन को यह प्रश्न कि रक्त-प्रतिशोध अथवा सामुदायिक कार्यों में भाग उसका अधिकार है या दायित्व, उतना ही वेतुका लगेगा, जितना यह प्रश्न कि सोना, भोजन करना, शिकार पर जाना दायित्व है या अधिकार।

गोत्र-समाज में प्रथाओं का पालन राज्य नहीं करवाता, जिसका तव अस्तित्व ही नहीं होता, न ही मुखिया या ओझा। प्रथाओं में सारे समाज की मर्यादा मूर्तिमान होती है। समाज के सभी सदस्य इस बात के क़ायल होते हैं कि प्रत्येक प्रथा आवश्यक है और भ्रमातीत है; हर प्रथा एक सुघड़ प्रणाली का अंग होती है। अधिसंख्य प्रथाओं के उल्लंघन के लिए तो किसी दंड का प्रावधान तक नहीं होता। सामान्यतः, दंड स्वयं अपराध में ही निहित होता है। भारत के नीलगिरि पर्वतों में रहनेवाले टोडा क़बीले में हुई एक घटना इसका उदाहरण हो सकती है। इस क़वीले में अभी भी गोत्र-व्यवस्था की प्रथाएं वनी हुई हैं।

पड़ोस के बडागा क़बीले के एक व्यक्ति ने अठारह वर्षीय टोडा युवक मवियारकुटन के पिता का अपमान किया था, एक बार मवियारकुटन कहीं मिल गया, तो उसे भी वह बुरा-भला कहने लगा। नौजवान से यह सब सहा न गया और वह बडागा से भिड़ गया। हाथापाई में बडागा मारा गया। इस घटना पर विचार करने के लिए टोडा क़बीले की पंचायत बुलायी गयी और उसमें मृतक के रिश्तेदारों और पड़ोसियों को निमंत्रित किया गया।

बडागा लोग शांत और विनम्र थे। "पुलिस का क्या काम?" उनका कहना था। "हममें कोई भी थाने में नहीं जायेगा। सब जानते हैं कि मारा गया आदमी बड़ा क्रोधी और लालची था। वह धोखा देता था।... टोडा लोगों ने कभी हमारे साथ ऐसा बर्ताव नहीं किया, जैसा यह बडागा करता था। कभी तो धीरज चुकना ही था। बस... विधवा को जितना दे सकता है, दे दे। हम थाने नहीं जायेंगे।..."

वडागा लोगों ने हत्यारे को दोषी नहीं ठहराया। उन्होंने उसे क्षमा कर दिया। लेकिन उसके अपने क़बीले ने उसे क्षमा नहीं किया। स्वयं भी वह अपने कृत्य को उचित नहीं मान पाया। उसके पिता के बाल सफ़ेद हो गये, मां बेटे का मुंह नहीं देखना चाहती थी, रिश्तेदार उनके गांव में नहीं आते थे, लड़कियां उससे आंखें चुराती थीं। वह अब भैंसें चराने नहीं जाता था, सारा दिन जंगल में भटकता रहता था। कुछ दिन पश्चात उसने आत्महत्या कर ली।

परंपराएं और प्रथाएं गोत्र-समुदाय में स्थिरता और संतुलन बनाये रखने में, अस्थिर संसार में समुदाय को बचाये रखने में सहायक होती हैं। प्रायः यह समुदाय ऐसे राज्य, जिसके समाज में फूट पड़ चुकी होती है, की तुलना में बाह्य प्रहारों का अधिक अच्छी तरह सामना कर सकता है। अमरीका में ऐज़्टेकों और इंकों के भव्य साम्राज्यों को स्पेन ने बहुत आसानी से तो नहीं, किंतु काफ़ी जल्दी ही धराशायी कर दिया, लेकिन अर्जेंटाइना के मैदानों में कुछ क़बीलों को वह १९वीं शती तक अपने वश में नहीं कर पाया। अफ़्रीका, एशिया, उत्तरी अमरीका और ओशियाना के भी कई इलाक़ों में ऐसा ही हुआ।

जहां वर्ग-विभेदीकरण काफ़ी विकसित हो चुका हो, जहां शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोध हों और शासक वर्ग उत्पादकों के श्रम को हस्तगत करता हो, वहां विजेता स्थानीय उत्पीड़कों के अनुभव का उपयोग करते हुए शोषण की अपनी प्रणाली सफलतापूर्वक फैला सकते हैं। जहां आक्रामकों का सामना "समान लोगों के

समाज" से होता है, वहां विजेताओं के लिए अपनी सैनिक सफलताओं के फल बटोरना कठिन होता है।

कवि गोत्र-समाजों के स्वतंत्रता-प्रेम का यशगान करते हैं। इतिहासकारों का काम इस बात की व्याख्या करना है कि कहीं अधिक शक्तिशाली शत्रु के विरुद्ध संघर्ष में यह स्वतंत्रता-प्रेम किस आधार पर वास्तविक शक्ति प्रदान करता है। १५वीं शती के अंत में दक्षिणी यूरोप पर तुर्कों के आक्रमण के समय चेर्नोगोरिया के लोगों का वीरतापूर्ण प्रतिरोध अपेक्षाकृत सफल रहा, हालांकि इनकी संख्या इनके पड़ोसी राज्यों – सेर्बिया, हंगरी, यूनान – के लोगों से कहीं कम थी। इसका एक कारण यह भी था कि चेर्नोगोरिया में बहुत देर तक गोत्र-व्यवस्था बनी रही थी, वर्ग-विभेदीकरण यहां प्रायः नहीं हुआ था और प्रथाएं ही शक्ति का स्रोत थीं।

गोत्र-समाज में राज्य के आविर्भाव से पहले विधि-पद्धति, इस शब्द के सही अर्थ में, होती ही नहीं। समाज के सदस्यों के आचार-व्यवहार का संचालन क़ानूनों की पद्धति नहीं, प्रथाएं करती हैं, और ऐसा अत्यंत विरले ही होता है कि किसी स्थिति को लेकर कुछ विवादास्पद प्रश्न उपस्थित हों। इसका कारण, एंगेल्स के शब्दों में, यह है कि "अधिकांश मामलों में सदियों से चली आ रही प्रथाएं सभी प्रश्नों को सुलझा चुकी होती हैं"।

कुछ लोग यह मानते हैं कि सभी आचरण-नियमों के पीछे सख़्त व्यावहारिक आवश्यकता रही है। इस्लाम और यहूदी धर्मों में सूअर का गोश्त खाने की मनाही की व्याख्या इस प्रकार की जाती है: इन धर्मों का सूत्रपात उष्ण जलवायु के क्षेत्रों में हुआ, सूअर का वसामय मांस जल्दी ही खराब हो जाता है और गर्मी में उसे खाना हानिकारक भी हो सकता है। सो, व्यवहार में जिस निषेध की अपेक्षा थी, उसी की धर्म ने पुष्टि की।

लेकिन, दूसरी ओर, इससे भी अधिक उष्ण जलवायु में रह रहे जनगण के यहां सूअरपालन फलता-फूलता रहा है। अफ़्रीका और उष्ण कटिबंधीय ओशियाना के कुछ देश इसका प्रमाण हैं, और इनके निवासियों को सूअर के गोश्त से कोई शिकायत नहीं है।

एक और उदाहरण देखिये। अनेक धर्मों में वर्ष के निश्चित दिनों और सप्ताहों में जो व्रत रखे जाते हैं, उनके मूल में व्रत रखनेवालों के स्वास्थ्य की हितचिंता देखी जाती है। परंतु यह भूल जाते हैं कि जब ईसाई धर्म का, या दूसरे

विश्वव्यापी धर्मों का प्रचलन हुआ था, उन दिनों आम लोगों को इतना भोजन नसीब नहीं होता था कि उनके लिए बदहज़मी का "ख़तरा" होता। वैसे, व्रतों के पीछे कुछ आर्थिक कारण अवश्य रहे होंगे – व्रतों के लिए, सामान्यतः, वर्ष के वे दिन रखे जाते थे, जब भोजन की कमी होती थी। सुदूर उत्तर में बसी अनेक जनजातियों में एक ही दिन मछली और गोश्त खाने की मनाही थी – ऐसा सदा संभव नहीं होता था कि एक ही ऋतु में मछली भी पकड़ी जा सके और शिकार भी कर लिया जाये, सो आसानी से उपलब्ध आहार ही पाना आवश्यक था।

अभी तक यूरोप के कई जनगण के भोजन पर एक बहुत पुराने और प्रचलित नियम की छाप बनी हुई है – मांस के पकवानों के साथ दूध के पकवान नहीं खाने-परोसने चाहिए। प्रत्यक्षतः, ऐसा नियम यह सोचकर बनाया गया होगा कि जब तक दूध पर्याप्त मात्रा में हो, तब तक मवेशियों को बचाये रखा जा सकता है।

बहरहाल, हमारे पूर्वजों के लिए जो लक्ष्य स्वाभाविक थे, वे उनके वंशजों को सदा ऐसे प्रतीत नहीं होते। यदि, जैसा कि माना जाता है, मिथक और धर्म में लोगों का रहन-सहन प्रतिबिंबित हुआ, तो यह भी सच है कि मिथकीय और धार्मिक धारणाओं ने इस रहन-सहन पर अपनी छाप छोड़ी। वे व्रत, जिनके मूल में आर्थिक कारण निहित थे, आरंभ में उन छोटे क्षेत्रों में लागू किये गये थे, जहां कोई धर्म प्रवर्तित हुआ था; ये व्रत इन क्षेत्रों की आर्थिक-भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप थे। ईसाई धर्म भूमध्यसागर के पूर्वी तट से आरंभ होकर उन इलाक़ों में फैला, जहां की परिस्थितियां यहां से भिन्न थीं और जीवनयापन का ढंग भी भिन्न था, प्रायः कृषि-पंचांग तक चर्च के पंचांग से मेल नहीं खाता था, जैसे कि दक्षिणी गोलार्ध में जहां जनवरी का महीना गर्मियों का है और जून का जाड़ों का। लेकिन चर्च ने इसके कारण प्राचीन काल में निर्धारित व्रत के दिन नहीं बदले – वास्तविक परिस्थितियों का ध्यान न रखते हुए पादरियों द्वारा इंगित दिनों को ही व्रत रखे जाते थे।

विभिन्न कालों में विभिन्न जनगण के परंपरागत जीवन-नियमों की विविधता विस्मयजनक है। आज से ढाई हज़ार साल पहले यूनानी इतिहासकार हेरोदोत ने इसके बारे में लिखा था:

"यदि संसार के सभी जनगण से यह कहा जाये कि वे सभी प्रथाओं और लोकाचारों में से सर्वश्रेष्ठ अपने लिए चुन लें, तो प्रत्येक जन उन पर ध्यान से

ग़ौर करके अपनी प्रथाओं को ही चुनेगा। इस तरह, प्रत्येक जन का यह विश्वास है कि उसकी अपनी प्रथाएं और जीवन-पद्धति एक प्रकार से सर्वश्रेष्ठ हैं।... शहंशाह दारा ने अपने शासनकाल में अपने दरवार के यूनानियों को वुलाया और उनसे पूछा कि किस क़ीमत पर वे अपने दिवंगत माता-पिता के शवभक्षण को राज़ी होंगे। उनका उत्तर था कि वे किसी भी क़ीमत पर ऐसा नहीं करेंगे। तव दारा ने शवभक्षी कैलेथियनों को वुलाया और उनसे पूछा कि किस क़ीमत पर वे अपने दिवंगत माता-पिता का शव-दहन करने को तैयार होंगे। इस पर वे चिल्ला उठे और शहंशाह से विनती करने लगे कि वह ऐसा अधर्म न करे। ऐसी हैं जनगण की प्रथाएं और, मेरे विचार में, पिंडर का यह कहना सर्वथा उचित है कि प्रथा ही सर्वेसर्वा है।"

लोगों के किन्हीं एक ही गुणों और एक-से ही कृत्यों का दूसरे लोग काल और स्थान के अनुसार कभी-कभी बिल्कुल अलग-अलग मूल्यांकन करते हैं।

स्वयं कोई रोचक उपाय खोजना, सुझाव रखना, कुछ कर दिखाना – उपाय-कुशलता के इस अनुपम गुण को हमारे समाज में ऊंचा आंका जाता है, किंतु न तो सर्वत्र और न सदा ही इसे एक सद्गुण माना जाता रहा है।

सोवियत लेखक-पत्रकार व्सेवोलोद ओव्चीन्निकोव अपनी एक पुस्तक में लिखते हैं:

"'देर से मत आओ, छुट्टी मत मारो, काम में ज्यादा जोश मत दिखाओ' यह है वह नियम, जो जापानी फ़र्म में पहली वार काम पर आया कर्मचारी सुनता हैं। जापानी व्यावसायिक जगत में नयी-नयी पदोन्नति प्राप्त लोग इस वात का विशेष ध्यान रखते हैं कि वे स्वतंत्र निर्णय लेने से बचें।..."

यहां यह इंगित किया जाना चाहिए कि जापान अंतर्राष्ट्रीय मंच पर एक अपेक्षाकृत नया देश है। यों तो, जापानी राज्य की आयु संसार की किसी भी शक्ति के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकती है। किंतु, यह प्राचीन साम्राज्य मात्र एक शती पहले आधुनिक राज्य वना। इससे पहले इसकी सीमाएं विदेशियों के लिए वस्तुतः वंद थीं, स्वयं जापानी लोग भी परदेश जाने के अवसरों से वंचित थे। अल्प समय में ही जापान संसार का एक सबसे अधिक विकसित औद्योगिक देश वन गया है, किंतु जापानी लोगों के रहन-सहन में सामंतवाद और यहां तक कि गोत्र-व्यवस्था के भी कई अवशेष वने रहे हैं। पहलक़दमी को दवाया जाना,

उसे अत्यंत संकीर्ण सीमाओं में बंद रखना भी, हमारे विचार में, ऐसा ही एक अवशेष है।

मनुष्य का आचार-व्यवहार जिन मानकों से आंका जाता है, वे आज भी जव इतने भिन्न हैं, तो वीते दिनों की क्या कहें! मलाया द्वीपसमूह के वोर्नेओ (कालिमंथन) द्वीप के किसी योद्धा की वीरता उसकी झोंपड़ी में रखे शत्रुओं के नर-मुंडों की संख्या से आंकी जाती थी। फ़ेनिमोर कूपर के उपन्यासों के नायक रेड इंडियनों के लिए कटिवंध पर लटकते शिरावल्क गर्व की वस्तु थे। १६वीं शती के फ़्रांस के राजाओं के दरवार में द्वंद्व-युद्धों से ही यश पाया जाता था। प्रोस्पर मेरिमे के लघु उपन्यास 'कार्ल नवम के काल का इतिवृत्त' का एक नायक दूसरे को वताता है: "पक्का द्वंद्व-योद्धा भद्र समाज का वह पहुंचा हुआ व्यक्ति है, जो सदा द्वंद्व-युद्ध के लिए ललकारने को तत्पर रहता है – किसी का चोग़ा उसे छू जाये, उससे चार क़दम दूर कोई थूक दे या ऐसा ही कोई दूसरा वज़नी कारण उसके लिए पर्याप्त है।" मेरिमे के ही शब्दों में, "सारे फ़्रांस के एक छोर से दूसरे छोर तक वेहद तुनकमिज़ाजी के वड़े दुखद परिणाम हुए। एक औसत गणना के अनुसार, हेनरिक तृतीय और हेनरिक चतुर्थ के शासन-काल में द्वंद्व-युद्धों की हवा इतने अभिजातों की जान ले गयी, जितने कि गृह-युद्ध के दस वर्षों में भी नहीं मारे गये।"

विभिन्न जनगण में अलग-अलग समय में साहस और संकल्प की धारणाएं विभिन्न रही हैं।

स्पेनी वीर सीद की गाथाओं में शत्रु द्वारा अपमानित वूढ़ा अपने तीन वेटों के हाथ वांधकर उन्हें ज़लील करने लगता है। दो वेटे दया-याचना करते हैं, जबकि एक वेटा (उसी का नाम सीद पड़ा) पिता को धमकी देता है। पिता उस पर विमुग्ध होता है और उसे ही अपने प्रतिशोध का वीड़ा सौंपता है, क्योंकि सीद ने कठिन क्षण में साहस का परिचय दिया है।

उधर, चीन या जापान में यह माना जाता कि वही परीक्षा में खरा नहीं उतरा है। पिता जो करे, उसके विरोध का विचार तक नहीं उठना चाहिए।

यूरोप में वहुत पहले से ही इस विषय पर काव्य रचे जाते रहे हैं कि कैसे युवक-युवती विवाह के मामले में माता-पिता द्वारा थोपी जा रही इच्छा का विरोध करते हैं। माता-पिता की निरंकुशता को अस्वीकार करते हुए युवक-युवती दृढ़ संकल्प का परिचय देते हैं। लेकिन आधुनिक जापानी उपन्यासों और फ़िल्मों

में भी सच्चे इच्छाबल का परिचय वही नायक देता है, जिसके लिए ऐसी स्थिति में माता-पिता की आज्ञा शिरोधार्य है।

अश्वारोहिणी ज़ीन में से गिर पड़ी है, उसका पांव रकाब में फंस गया है, मतवाला घोड़ा उसे घसीटता ले जा रहा है। ऐसी विपदा में पड़ी नारी की सहायता करना अच्छा है या बुरा? यह प्रश्न इतना सरल नहीं है, क्योंकि, यदि यह १८वीं शती के स्पेन की घटना है और अभागी नारी स्पेन की रानी है, तो उसे बचाना अपराध है। इस दुखद घटना के स्थल पर उपस्थित दसियों स्पेनवासी हिले-डुले तक नहीं। लेकिन दो फ़्रांसीसी अफ़सर वीरतापूर्वक सहायता करने को लपके और उन्होंने रानी का पांव रकाब में से छुड़ा दिया। इसके बाद तुरंत ही उन्हें स्पेन छोड़कर भागना पड़ा। वैसे तो, उन्हें जान-बूझकर भाग जाने दिया गया—दो निडर विदेशियों को प्राणदंड नहीं देना चाहते थे, और फिर घटना भी उस १८वीं शती की थी, जब प्रबोधन युग के विचारों का बोलबाला था। अन्यथा क़ानून की तो यही मांग थी कि रानी का पांव छूने का दुस्साहस करने-वाले को प्राणदंड दिया जाये।

पिछली शती में फ़िजी द्वीप के मूलनिवासी एक अंग्रेज़ मिशनरी को चबा गये। वैसे तो, इस समय तक फ़िजीवासी नरभक्षण त्याग चुके थे और उस मिश-नरी से भी उनकी कोई शत्रुता नहीं थी। हुआ यह कि उस अभागे अंग्रेज़ ने अपनी ओर से तो निकटता और स्नेह दर्शाने के लिए अपनी कंघी से स्थानीय मुखिया के बाल बनाने की सोची। मुखिया के बालों का स्पर्श वर्जित था और क़बीले की प्रथा की यह मांग थी कि इस वर्जना का उल्लंघन करनेवाले को मृत्युदंड देकर उसका भक्षण किया जाये।

विश्वप्रसिद्ध नृविज्ञानी लुईस लिकी के माता-पिता पूर्वी अफ़्रीका में जा बसे थे, लुईस ही यहां जन्मा पहला श्वेत शिशु था। किकूयु क़बीले के मुखियागण शिशु को देखने आये। वे उसके प्रति अपना आदर और विश्वास प्रकट करते थे, यही नहीं, क़बीले के प्रत्येक सदस्य का जीवन नवजात शिशु के हाथों में "सौंपते" थे, लेकिन इससे पहले वे समारोही ढंग से उस पर थूकते थे।

ईसाई देशों में किसी के घर में प्रवेश करते समय सिर से टोपी न उतारना अशिष्टता माना जाता है, किंतु किसी सच्चे मुसलमान के घर में आप नंगे सिर घुसेंगे, तो वह अपने को अपमानित समझेगा।

एक प्राचीन उपन्यास के नायक का कहना था कि न्याय भूगोल पर निर्भर

होता है: एक स्थान पर जो अपराध माना जाता है, वही दूसरे स्थान पर पराक्रम हो सकता है।

यह कथन पूरी तरह ग़लत नहीं है। उन देशों में, जहां घोड़ों की मदद से खेत जोते जाते थे, घोड़े की चोरी एक सबसे भयकर अपराध माना जाता था। क्रांतिपूर्व रूस में घुड़चोर यदि पकड़ा जाता था, तो लोग उसे प्रायः वहीं जान से मार डालते थे। ऐसा उस देश में होता था, जिसकी जनता के बारे में सदा यह कहा जाता रहा है कि वह पकड़े गये अपराधियों पर दया दिखाती है। किसानों को अपने काम के लिए घोड़े की ज़रूरत होती थी और ज़्यादातर किसानों के पास बस एक-दो घोड़े ही होते थे।

यायावर जातियों में, जहां घोड़ों की "प्रति व्यक्ति" संख्या कहीं अधिक थी और घोड़े की भूमिका भी दूसरी थी, पराये घोड़े पकड़ने के प्रति रुख़ भी भिन्न था। उनके यहां तो यह अपराध कम, दिलेरी और बहादुरी ही अधिक था। अफ़्रीका, एशिया और यूरोप की सभी यायावर जातियों के नौजवान एकसमान जोश और जोखिम के साथ दूसरों के झुंडों पर हमला करते थे। यदि पड़ोसी गोत्रों और क़बीलों में शत्रुता नहीं होती थी, तो ऐसे मामलों में भी निश्चित मर्यादाओं का पालन किया जाता था। यदि पड़ोसी काफ़ी शक्तिशाली होते या उनके साथ मैत्रीभाव बनाये रखना महत्वपूर्ण होता, तो गोत्र अथवा क़बीले के मुखियागण जांबाज़ों को दंड दे सकते थे, लेकिन हर हालत में यह दंड बहुत गंभीर नहीं होता था।

"अच्छे" के अनेक रूप हैं: व्यक्ति का आचरण सही, विनम्रतापूर्ण, व्यवहार-कुशल, बुद्धिमत्तापूर्ण, साहसपूर्ण, या वीरतापूर्ण हो सकता है। इसी तरह "बुरे" के भी अनेक रूप हैं। व्यक्ति कोई ग़लती, दुष्कर्म या अपराध कर सकता है।

अच्छे और बुरे–सभी कृत्यों के मूल्यांकन में हम अपनी बुद्धि और अपने अनुभव से इतना काम नहीं लेते, जितना कि सैकड़ों पूर्ववर्ती पीढ़ियों की बुद्धि और अनुभव से। यह अनुभव प्रथाओं, परंपराओं और आदतों में संघनित होता है। प्रत्येक व्यक्ति इस अनुभव का वाहक होता है।

"सर्वेसर्वा प्रथा" ने वर्ग-विभेदीकरण की परिस्थितियों में बन रहे नये लोकाचार का डटकर विरोध किया, इस अवश्यंभावी ऐतिहासिक प्रक्रिया की गति धीमी की, उसकी राह में रोड़े अटकाये।

तभी प्रथा के मुक़ाबले में विधि का, क़ानून का आविर्भाव हुआ, तभी

उत्पीड़ित वर्गों के दमन हेतु वने विशेष संगठन – राज्य – के साथ विधान पर आधारित विधि-व्यवस्था प्रकट हुई। निस्संदेह, ऐसा एकाएक ही नहीं हुआ। प्रथा और विधि के वीच की कड़ी थी प्रथागत विधि। यह विधि उन मानकों की समष्टि है, जो मूलतः विधि-निर्माण का परिणाम नहीं हैं, वल्कि राज्य द्वारा अनुमोदित परंपरागत प्रथाएं हैं। ज्यों-ज्यों समाज का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी विधि-व्यवस्था में नये, राज्य द्वारा प्रचलित मानक-क़ानून अधिक स्थान पाते जाते हैं, जो वर्गीय असमानता को अभिपुष्ट और संपुष्ट करते हैं।

राज्य और विधि इतिहास की जुड़वां संतानें हैं। वैरभावपूर्ण समाज में राज्य एक वर्ग पर दूसरे वर्ग की ज़ोर-ज़वरदस्ती का तंत्र है और इस ज़वरदस्ती का एक प्रमुख साधन विधि है। यहां हम राज्य और विधि के निरूपण एवं विकास के ऐतिहासिक नियमों और रूपों का विवेचन नहीं करेंगे। हमारा कार्यभार ठोस उदाहरणों की सहायता से यह दिखाना है कि किस प्रकार विधि के रूपों और मानकों की विविधता सारे समाज के लिए समान ऐतिहासिक नियमसंगतियों को ही व्यक्त करती हैं।

आइये, वावुल के राजा हमुरावी (१७९२-१७५० ई० पू०) की विधि-संहिता और रूस के राजकुमार यारोस्लाव (९७८-१०५४ ई०) की 'रूस्स्कया प्राव्दा' नाम से ज्ञात विधि-संहिता को देखें। इनमें पहली में जहां दासप्रथात्मक समाज के विधिक मानकों की अभिपुष्टि हुई, वहीं दूसरी में सामंतवादी समाज के मानकों की। इन दोनों में ही विभिन्न वर्गों के लोगों के अधिकारों और दायित्वों में स्पष्टतः भेद किया गया है।

द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य में हित्ती साम्राज्य (एशिया माइनर) में मान्य क़ानूनों का एक उदाहरण देखिये: "यदि स्वतंत्र व्यक्ति किसी का घर जला देता है, तो उसे नया घर बनवाना होगा और घर में जो कुछ भी नष्ट हुआ हो – लोग, ढोर-डंगर, आदि – उनका भी हरजाना अवश्य देना होगा। यदि यही अपराध दास करता है, तो हरजाना उसके स्वामी को देना होगा और दास के नाक-कान काटे जायेंगे।"

जहां-जहां वर्गाधारित समाज वना, वहां सर्वत्र ही क़ानूनों में निजी संपत्ति का आविर्भाव और उसका अपार महत्व प्रतिविंवित हुआ।

हमुरावी की विधि-संहिता में किसान के मवेशियों की चोरी का दंड मवेशियों का दस गुना मूल्य रखा गया था। यदि मवेशी राजा या मंदिर के होते, तो उनकी

तीस गुनी क़ीमत वसूली जाती थी। धीरे-धीरे हत्या, शारीरिक क्षति, अपमान, आदि अपराधों के लिए दंड भी मवेशियों, सोने-चांदी की सिलों तथा अन्य भौतिक मूल्यों में मापा जाने लगा।

मध्य युग में हत्या के वदले "मुआवज़ा" देने का प्रस्ताव कोई वुरी वात नहीं समझा जाता था। उधर, अनेक आरंभिक वर्गाधारित राज्यों में चोरी के लिए प्राणदंड दिया जाता था: तव निजी संपत्ति का दृढ़तापूर्वक और चरम उपायों से समर्थन करना आवश्यक था। वैसे तो, पूरी तरह गठित हो गये वर्गाधारित समाजों – विकसित दासप्रथात्मक, सामंतवादी और पूंजीवादी राज्यों तक – में इन उपायों का स्वरूप ऐसा ही वना रहता है।

समाजवादी राज्य में अपराधी को केवल दंड देना नहीं, उसे सुधारना ही प्रमुख कार्यभार माना जाता है। शोपक समाजों में भयभीत करना ही प्रमुख कार्यभार रहा है। इसीलिए मृत्युदंड सवको दिखाकर दिया जाता था, प्राणदंड को एक लोमहर्षक दृश्य बनाया जाता था। मध्ययुगीन चीन में या १४वीं शती के फ़्रांस में, १७वीं शती के रूस या इंडोनेशिया में प्राणदंड के ये दृश्य अलग-अलग तरह के होते थे, लेकिन अर्थ सभी का एक ही होता था।

सामंतवादी समाज में अलग-अलग श्रेणियों के लोगों के लिए दंड में भेद विल्कुल साफ़-साफ़ दृष्टिगोचर होता था। कोई सामंत यदि भूदास किसान की हत्या कर देता, तो उसे अधिक से अधिक यह दंड मिलता कि गिरजे का पादरी उसकी भर्त्सना करता, उसे मृतक के परिवार को सहायता देनी पड़ती और किसान यदि किसी दूसरे सामंत का होता, तो उस सामंत को मुआवज़ा देना पड़ता। सामंत की हत्या करने पर इस वात का ख़तरा था कि उसके संवंधी ख़ून का वदला ख़ून से लेंगे, हत्यारे सामंत को जुर्माना भरना पड़ेगा या जेल होगी। यदि कोई किसान किसी सामंत की हत्या करता, तो उसे तड़प-तड़पकर मरना होता, उसके सारे समुदाय को भी दंडित किया जाता। अधिसंख्य दासप्रथात्मक और सामंतवादी राज्यों की आवादी श्रेणियों में विभाजित थी, जिन पर अलग-अलग मानक, क़ानून लागू होते थे।

संस्कृति का एक मौलिक और अभिन्न घटक होने के साथ-साथ प्रथाएं और क़ानून सामाजिक संवंधों का दर्पण भी होते हैं। कुछ विद्वानों ने यह प्रस्ताव अकारण ही नहीं रखा है कि इस घटक का नाम सामाजिक-मानककारी संस्कृति हो।

"संस्कृतियों के लिए अभिलाक्षणिक सामाजिक मानकों और प्रथाओं को

देखकर यही लगता है कि इन्हें प्राकृतिक वरण ने ही बनाया है, हां, इस मामले में उसने आनुवंशिक नहीं, सामाजिक-मानसिक आधार पर काम किया है और कच्चे माल के तौर पर जीनों के उत्परिवर्तनों और पुनर्समूहन का नहीं, बल्कि संयोगवश बनी प्रथाओं और आदतों का उपयोग किया है," जीव आचारविज्ञान के एक संस्थापक, आस्ट्रियाई विद्वान कोनरद लारेंज़ लिखते हैं। लारेंज़ जीव-जंतुओं के आचार-व्यवहार के विशेषज्ञ हैं, तो भी उनकी यह टिप्पणी ध्यातव्य है।

"अभी तक मानक-निर्माण अपने अल्पांश में ही मानव की दूरदर्शिता और अन्वेषणशीलता का कार्य था," सोवियत दार्शनिक सोकोलोव का मत है। वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि अधिसंख्य मानक स्वतोस्फूर्त ढंग से, जांच और भूल विधि से बने हैं। लारेंज़ और सोकोलोव के दृष्टिकोण में निश्चित औचित्य अवश्य है, किंतु फिर भी एक बात यहां स्पष्ट की जानी चाहिए।

बहुत लंबे समय तक दर्शन और समाजविज्ञान में यह मत सर्वमान्य रहा कि सामुदायिक जीवन के मानक सदा विवेकसंगत होते हैं (यह विचार आज भी विज्ञान में तो नहीं, लेकिन दैनिक जीवन में अवश्य हावी है)। अब इससे हटते हुए दूसरे चरम छोर पर भी नहीं जाना चाहिए। अनेक ऐसे मानक हैं, जिन्हें लोगों ने पूर्णतः सचेतन रूप से लागू किया या बदला। इनके महत्व का अवमूल्यन नहीं होना चाहिए, विशेषतः इसलिए कि मानवजाति के सामाजिक विकास के साथ-साथ ऐसे सचेतन मानक-निर्माण की भूमिका बढ़ती जाती है।

नैतिकता

समाज अनेक प्रकार से लोगों के आचरण पर प्रभाव डालता है। हम उन आचार-मानकों की चर्चा कर चुके हैं, जो प्रथाओं द्वारा अभिपुष्ट होते हैं, तथा उनकी भी, जो क़ानून के बल पर टिके होते हैं और क़ानून का यह बल राज्य की ज़ोर-ज़बरदस्ती करने की सत्ता पर सीधे-सीधे आधारित होता है। भांति-भांति की नियमावलियां और निर्देश, सेना में कमांडर के आदेश या राजकीय अधिकारी के, प्रतिष्ठान एवं कार्यालय के अधिकारी के आदेश, इत्यादि – ये सब भी लोगों के आचार-व्यवहार को संगठित और नियमित करते हैं।

नियमन के इन क्रियातंत्रों में नैतिकता का विशेष स्थान है। मनुष्य की गति-विधियों का कोई भी ऐसा रूप नहीं है, जो नैतिकता के दायरे से बाहर हो।

अपने व्यवसाय में, परिवार और दैनिक जीवन में हम नैतिक मानकों की बात करते हैं। ये सभी नैतिक अपेक्षाएं इस बात की धारणा पर आधारित होती हैं कि व्यक्ति के लिए क्या करणीय है और इन अपेक्षाओं की वैचारिक अभिपुष्टि होती है। नैतिक आचरण नैतिक आदर्शों और सिद्धांतों के अनुरूप होता है, जिनमें भलाई और बुराई की संकल्पनाओं का विशेष स्थान होता है।

नैतिक धारणाओं को समाज निरूपित करता है और उसके विकास के साथ-साथ ये धारणाएं भी बदलती जाती हैं।

प्रत्येक समाज की नैतिकता में सारी मानवजाति के लिए एकसमान लक्षण भी होते हैं। अनुकंपा और सहानुभूति, वचनबद्धता, मित्रों की सहायता करने और रोगियों एवं दुर्बलों की हितचिंता की तत्परता–ये सब वे नैतिक गुण हैं, जिन्हें आदिम समाज में तथा उसके बाद की समाज के विकास की सभी अवस्थाओं में भी बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार के नैतिक मानक किसी भी मानव-समुदाय के मूलभूत नियम होते हैं।

किंतु व्यक्ति के नैतिक कर्तव्यों के बारे में धारणाएं बहुधा समय के साथ बदलती रहती हैं। प्रत्येक वर्गाधारित समाज में शासक वर्ग की नैतिकता का वर्चस्व होता है। वर्गीय नैतिकता पहले दासता को, फिर भूदासता के अधिकार को, फिर मज़दूरों का शोषण करने के पूंजीपति के अधिकार को स्वाभाविक, अपरिहार्य और चिरस्थायी घोषित करती है। इस या उस समाज के संकटग्रस्त होने तक समाज के अधिसंख्य शोषित सदस्य भी इस नैतिकता को स्वीकार करते हैं।

प्राचीन युग के "सच्चे दास", सामंतकालीन "आज्ञाकारी प्रजा" तथा बुर्जुआ देशों के वे मज़दूर, जो मिल-कारखाने के स्वामी को अपना "अन्नदाता" और "माई-बाप" समझते हैं–ये सब इस बात के कुछ उदाहरण हैं कि किस प्रकार उत्पीड़ित जन एक समय तक शोषकों के उन नैतिक मानकों को भी स्वीकार करते हैं, जो, सारतः, इन जन के विरुद्ध ही लक्षित होते हैं।

शासक वर्ग की नैतिकता का छोटी उम्र से ही आम लोगों पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है, यह हम एक साहित्यिक उदाहरण से स्पष्टतः देख सकते हैं। मार्क ट्वेन की पुस्तक का नायक हेक्लबेरी फ़िन नीग्रो दास जिम की उसकी "मालकिन" के यहां से भागने में मदद करता है, लेकिन ऐसा करते हुए उसका ईमान उसे कचोटता है।

हेक्लवेरी अपने मित्र टॉम सॉयर से कहता है: "मैं एक नीग्रो को चुराकर गुलामी से छुड़वाने की सोच रहा हूं।... तुम कहोगे, यह नीचता है, सरासर कमीनापन है। ठीक है, मैं नीच हूं, मैं ही उसे भगाऊंगा, तुम वस चुप रहना, मेरा भेद मत खोलना। ठीक है?"

टॉम हेक्लवेरी की मदद करने का वायदा करता है। इस पर हेक्लवेरी की क्या प्रतिक्रिया होती है?

"मैं तो वस खड़े का खड़ा रह गया। ऐसी ग़ज़व की वात मैं ज़िंदगी में पहली वार सुन रहा था। अव क्या वताऊं आपको, इसके वाद टॉम सॉयर मेरी नज़रों में गिर गया – अव मैं उसकी पहले जितनी इज़्ज़त नहीं करता था।"

हेक्लवेरी अपने समाज की नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह करता है, किंतु मन ही मन स्वयं अपनी भी और उसके इस विद्रोह में शामिल होनेवाले की भी भर्त्सना करता है।

स्वयं मार्क ट्वेन ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है: "जव मैं स्कूल में पढ़ता था, तो मुझे ग़ुलामी से कोई घृणा नहीं थी। मुझे इस वात का गुमान तक नहीं था कि उसमें कोई वुराई है। मेरे सामने कोई उसकी निंदा नहीं करता था: स्थानीय समाचारपत्र ग़ुलामी का विरोध नहीं करते थे; स्थानीय गिरजे में हम यह प्रवचन सुनते थे कि ईश्वर इसका अनुमोदन करता है, यह पावन है, कि यदि किसी को इसमें संदेह हो, तो वह वाइविल पढ़ देखे – और वाइविल के उद्धरण सुनाये जाते थे; यदि स्वयं ग़ुलामों को ग़ुलामी से नफ़रत थी, तो वे वुद्धिमानी दिखाते हुए चुप ही रहते थे।"

रूस में जव भूदास प्रथा का प्रचलन था, उन दिनों ज़मींदार इसे विल्कुल स्वाभाविक मानते थे कि वे लोगों का सौदा कर सकते हैं, उन्हें कोड़ों से या जैसे चाहें सज़ा दे सकते हैं। रूसी ज़मींदारों के पास तो अपनी "सफ़ाई" में यह तर्क भी नहीं था कि वे दूसरी चमड़ी के, दूसरी जाति के लोगों को वेचते और मारते हैं।

प्रत्येक युग में उत्पीड़कों की नैतिकता के मुक़ावले में उत्पीड़ितों की नैतिकता भी होती है। दासों, भूदासों, मज़दूरों के विद्रोह, अन्य सव वातों के अलावा, इस नैतिकता का होना भी प्रमाणित करते हैं।

१७वीं शती में रूस में हुए किसान विद्रोह के नेता स्तेपान राज़िन को सरकारी नैतिकता ने अपराधी घोषित किया, लेकिन इसके वावजूद वह रूसी जन-नायक

वन गया। उसके विद्रोह को कुचलनेवालों के वारे में नहीं, उसके वारे में ही किसानों ने गीत रचे। सामंतवादी नैतिकता के प्रति किसानों के विद्रोह ने ही इंगलैंड में राविन हुड को, जो अमीरों को लूटता और ग़रीवों की मदद करता था, राष्ट्रीय नायक वनाया था।

नैतिकता की एक और विशिष्टता भी है, जिसकी ओर एंगेल्स ने ध्यान दिलाया: "जव ... हम यह कहते हैं: यह वात अनुचित है, यह अन्यायपूर्ण है, ऐसा नहीं होना चाहिए—तो राजनीतिक अर्थशास्त्र का सीधे-सीधे इससे कोई वास्ता नहीं होता है। हम केवल यह कहते हैं कि इस आर्थिक तथ्य का हमारी नैतिक भावना के साथ मेल नहीं वैठता है। ...यदि जनसामान्य की नैतिक चेतना किसी आर्थिक तथ्य को अन्यायपूर्ण घोषित करती है, जैसाकि कभी दासता और वेगार के साथ हुआ था, तो यह इस वात का प्रमाण है कि यह तथ्य कालातीत हो गया है, कि ऐसे दूसरे आर्थिक तथ्य प्रकट हो गये हैं, जिनके कारण वह असह्य और असंरक्षणीय हो गया है।"

व्यक्ति की नैतिक चेतना अपने युग से आगे भी निकल सकती है। उत्पीड़न की पुरानी दुनिया का विरोध करने की प्रेरणा क्रांतिकारियों को सर्वप्रथम इस उत्पीड़न पर नैतिक आक्रोश से ही मिलती है।

प्रत्येक व्यक्ति की नैतिक चेतना चारों ओर के संसार के अंतर्विरोधों को प्रतिविंवित करती है और विभिन्न नैतिक सिद्धांतों के बीच संघर्ष का अखाड़ा वनती है। व्यक्ति के नैतिक जगत में किसी न किसी प्रकार न केवल उसका वर्गीय मूल और शिक्षा-दीक्षा ही, अपितु उसका निजी अनुभव, उसके चरित्र और स्वभाव की विशिष्टताएं और सामाजिक-राजनीतिक, पारिवारिक, दैनिक जीवन संबंधी तथा भांति-भांति की अन्य असंख्य परिस्थितियां भी प्रतिविंवित होती हैं।

व्यक्ति सभी विद्यमान मूल्यों को यंत्रवत अंगीकार नहीं करता है, वल्कि निश्चित हद तक उनका चयन करता है। इतिहास में नैतिकता की यह विशेषता ही उसके विकास और अग्रसरण में सहायक रही है।

नैतिकता के क्षेत्र में हुई खोजें विज्ञान के प्रमुखतम आविष्कारों से कम महत्व-पूर्ण नहीं हैं।

भारत में वुद्ध ने लोगों की समानता का विचार प्रस्तुत किया। १५वीं-१७वीं शतियों में पूर्व और पश्चिम में पुनरुत्थान के विचारों ने श्रम के प्रति सामाजिक नैतिका का रुख वदला। इससे पहले दासस्वामी और सामंत तो श्रम को हेय

दृष्टि से ही देखते थे। टामस मोर से लेकर फ़ूरिये और ओवेन तक यूटोपियाई समाजवादियों ने लोगों के वीच संवंधों के नये नैतिक सिद्धांतों के निरूपण का काम आरंभ किया।

नये नैतिक सिद्धांतों और मानकों का प्रकट होना तभी संभव होता है, जवकि इतिहास उनके लिए सामाजिक नींव तैयार कर देता है। ज्यों-ज्यों अनुकूल परि-स्थितियां वनती जाती हैं, त्यों-त्यों ये सिद्धांत और मानक वहुमत के वीच फैलते जाते हैं।

प्लेख़ानोव ने इंगित किया है: "मानवजाति का नैतिक विकास आर्थिक आवश्यकता के पीछे क़दम-दर-क़दम होता है; वह समाज की यथार्थ आवश्यक-ताओं के ही अनुरूप ढलता है।"

आधुनिक नैतिकता वहुस्तरीय है। इसमें वहुत कुछ ऐसा है, जो हमें धरोहर में मिला है। सोवियत समाजवादी समाज की नैतिकता में पूर्ववर्ती युगों की नैतिक उपलब्धियां समाविष्ट हैं; उसके अभिन्न लक्षण हैं: सामूहिकता, मानवप्रेम, मानवीयता। इस नैतिकता के सर्वोपरि कार्यभार को लेनिन ने इन शब्दों में निरूपित किया: "नैतिकता मानव-समाज को अधिक ऊंचा उठाने, उसे श्रम के शोषण से मुक्त कराने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए है।"

"**मनुष्य ही मनुष्य के लिए सर्वोपरि है,**" और यह एक निरुपाधिक मांग है, जिसकी अपेक्षा यह हैं कि "**उन सब संबंधों को नष्ट किया जाये,** जिनमें मानव पददलित, असहाय, तुच्छ जीव होता है..." मार्क्स ने लिखा।

सोवियत समाज की नैतिक संहिता में वे शब्द अंकित हैं, जो समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए दायित्वपूर्ण हैं: "मनुष्य मनुष्य का मित्र, साथी और वंधु है।"

नैतिकता के वारे में प्रायः यह कहा जाता है कि धर्म के विना उसका अस्तित्व असंभव है। किंतु स्वयं इतिहास इस कथन का खंडन करता है, और केवल पिछली कुछ शतियों का इतिहास ही नहीं, जब निरीश्वरवादियों की संख्या तेज़ी से वढ़ी है। प्राचीन चीन में कन्फ़्यूशसवाद की नैतिक मान्यताओं और वर्जनाओं की पद्धति किसी प्रकार के धार्मिक आधार से नहीं जुड़ी हुई थी। प्राचीन यूनान और भारत के भी कतिपय नैतिक-दार्शनिक मत पूर्णतः निरीश्वरवादी थे।

"अपने" और "पराये"

आइये, एक बार फिर नैतिकता के इतिहास पर, उसके विकास के एक पहलू पर ग़ौर करें। अतीत के अनेक समाजों में यदि किसी व्यक्ति के कारण कोई दूसरा व्यक्ति, जो उसके समाज का नहीं होता था, "पराया" होता था, पीड़ित होता था, तो दोषी व्यक्ति का ईमान उसे नहीं कचोटता था।

खेद की बात है, किंतु "अपनों" और "परायों" में विभाजन मानवजाति के प्राय: सारे इतिहास में पाया जाता है। इस विभाजन को चरमबिंदु पर – और फलत: अनर्गलता की हद तक – २०वीं शती के नस्लवादी सिद्धांत और फ़ासिस्ट व्यवहार ले गये। हम जानते हैं कि नाज़ीवाद के कर्ता-धर्ता युवा जर्मनों को यही शिक्षा देते थे: तुम्हें केवल अपनों के लिए, "आर्यों" के लिए ईमानदार, भला और न्यायशील होना चाहिए। वे यह तक मानते थे कि अंततोगत्वा जीने का अधिकार "उच्च नस्ल" के लोगों को ही है।

"अपनों" और "परायों" में विभाजन किसी न किसी रूप में अरसे से विद्यमान है। अलग-अलग युगों में ऐसा विभाजन अलग-अलग सिद्धांतों पर आधारित होता था।

गोत्र-समाज में सबसे निकट के "अपने" हैं गोत्र के सदस्य, उनके बाद क़बीले के सदस्य, उनसे भी आगे, किंतु अभी भी किसी हद तक "अपने" हैं मित्र क़बीलों के सदस्य।

अनेक क़बीलों और जातियों के अपने नामों का अर्थ ही केवल "लोग" या "सच्चे लोग" है। दूसरे शब्दों में, शेष लोग लोग नहीं हैं, या फिर लोग हैं भी, तो सच्चे नहीं। "अपनों" के जीवन और संपत्ति की रक्षा करनेवाले क़बीले के नियम अन्य सब पर लागू नहीं भी हो सकते थे।

ओशियाना, न्यू गिनी और कुछ दूसरे स्थानों के मूलनिवासियों का वहां आये यूरोपीय लोगों की संपत्ति के प्रति बेझिझक रुख़ का कारण कुछ समय पहले तक नृजातिविज्ञानी यह बताते थे कि इन लोगों के यहां संपत्ति की धारणा ही नहीं थी। पाठक इस तथ्य से परिचित होंगे कि मैगालान का मूलनिवासियों से जब पहला परिचय हुआ, तो उसे गोलियां दाग़कर उन्हें भगाना पड़ा, क्योंकि उन्हें जहाज़ पर जो कुछ भी अच्छा लग रहा था, वे उसे उठाते जा रहे थे।

अब यह माना जाता है कि ऐसा बर्ताव बहुधा इस विचार का परिणाम नहीं था कि सब कुछ सभी का है। पपुआ लोग निकटवर्ती नगर से परायी चीज़ें उठा ले जा सकते थे, लेकिन अपने क़बीले की बस्ती में कोई भी परायी चीज़ नहीं उठाता था। कारण? अपने क़बीले में आचरण के नियम एक थे, दूसरे क़बीलों के लोगों के बीच आचरण के नियम दूसरे।

यहां यह भी कहा जाना चाहिए कि गोत्र-समाज में "अपनों" और "परायों" में विभाजन पूर्णतः स्पष्ट होने के बावजूद उनके बीच कोई अलंघ्य रेखा नहीं खींचता था। हर क़बीले में ऐसे अनुष्ठानों का प्रावधान था, जिनकी मदद से "पराया" "अपना" बन सकता था। रेड इंडियनों, अरबों, अफ़्रीका और ओशियाना के निवासियों के क़बीले शांतिपूर्ण आगंतुकों और पराजित शत्रुओं तक को सहज ही "अपनों" में शामिल कर लेते थे।

दासप्रथात्मक व्यवस्था में स्थिति अधिक जटिल हो गयी। ऐसा सोचा जा सकता है कि एक राज्य के सभी स्वतंत्र नागरिक एक दूसरे के लिए "अपने" होने चाहिए, जैसे कि पहले एक क़बीले के सदस्य थे। किंतु क्या रोम के पैट्रीशियनों (कुलीनों) के लिए स्वतंत्र प्लेबियन (सामान्य जन) "अपने" हो सकते थे, हालांकि पड़ोसियों से युद्ध के समय दोनों कंधे से कंधा मिलाकर लड़ते थे? अब पैट्रीशियन प्लेबियन के साथ ऐसा बर्ताव कर सकता था, जैसा वह दूसरे पैट्रीशियन के साथ कभी भी न करता।

सामंत के लिए किसान – अपने भूदास हों, या पड़ोसी जमींदार के भूदास, या पड़ोसी राजा के किसान – सभी चाकर हैं, जो आदमी कहलाने के योग्य नहीं हैं। १२वीं शती में प्रोवांस (फ़्रांस) के बैरन बर्त्रां दे बोर्न ने लिखा:

भूखी-नगी रहे जनता,
तड़पे चाहे छटपटाये,
मन मेरा तो ख़ुशियां पायें।
झूठ जो इसमें कोई पाये,
बेवफ़ा महबूबा हो जाये।
विलान* का चाहे हो घाटा,

---

* मध्ययुगीन फ्रांस, इटली और जर्मनी में ऐसे किसान जो व्यक्तिगत रूप से तो स्वतंत्र होते

चोटें पहुंचें उसे या घाव,
तरस मुझे न उस पर आये।
इंसान ही जो न कहलाये,
दया उस पर कोई क्यों दिखाये।

फ़ांसीसी सामंत के लिए पोलैंड और रूस के ज़मींदार, कुंवर या इंगलैंड के बैरन अपने देशवासी किसानों से कहीं अधिक क़रीबी थे।

अभिजात वर्ग के लोग निर्बाध रूप से अपना देश छोड़कर पड़ोसी राजा के दरवार में सेवा कर सकते थे, इसके लिए कोई भी उन्हें देशद्रोही नहीं कहता था – कुछ विशेष मामले ही इसका अपवाद हो सकते थे। रूस में मास्को के ज़ार की छत्रछाया में छोटी-छोटी रियासतों के शासकों और दरवारियों के रूप में औरों के अलावा लिथुआनिया और पोलैंड के नामी कुलों के प्रतिनिधि और स्वर्ण ओर्दु के वंशज तक एकत्रित हुए।

ज़मीन से बंधा मध्ययुगीन किसान सामान्यत: दूसरे देशों के अपने बंधु किसानों के साथ ऐसा श्रेणीगत सामीप्य अनुभव करने के अवसरों से वंचित था।

पूंजीवाद के आविर्भाव के साथ श्रेणीगत विभाजन बहुत हद तक कालातीत हो गये। शिल्पियों को अपने काम में कौशल पाने के लिए प्राय: परदेस जाना पड़ता था, वहां उन्हें शिल्पी संघों का संरक्षण मिलता था, उनमें वे "अपने" होते थे। वर्गों के वीच भेद वुर्जुआ समाज में स्पष्टत: उभर आये। वुर्जुआ समाज के विभिन्न वर्गों में नैतिक मानक एकसमान नहीं होते।

एंगेल्स के शब्दों में, "वर्ग-विरोधों और उनके बारे में हर तरह की यादों से ऊपर स्थित नैतिकता, सच्चे अर्थों में मानवीय नैतिकता समाज के विकास की उस अवस्था में ही संभव हो पायेगी, जब वर्गों की प्रत्यास्थापना न केवल मिटा ली जायेगी, बल्कि जीवन-व्यवहार में भुलायी भी जा चुकी होगी।"

थे, किंतु ज़मीन उनके पास अपनी नहीं होती थी। ज़मीन पर स्वामित्व सामंत का ही होता था और इस नाते ये उस पर आश्रित होते थे।

रीति-रिवाज और अनुष्ठान

"ये रीति-रिवाज क्या हैं?" नन्हे राजकुमार ने पूछा।

"यह भी कुछ ऐसा है, जो बहुत पहले ही भुलाया जा चुका है। कुछ ऐसा, जिससे कोई एक दिन दूसरे सभी दिनों जैसा नहीं रहता, कोई एक घड़ी दूसरी सभी घड़ियों जैसी नहीं रहती। मेरे शिकारियों के यहां ऐसा रिवाज है: हर बुध को वे गांव की लड़कियों के साथ नाचते हैं। कितना प्यारा होता है यह बुध का दिन!"

अंतुआं द सेंत-एक्बुपेरी

प्रायः वे सभी प्रथाएं, जिनकी विविधता पर हम इस पुस्तक के पहले पृष्ठों से विस्मित होते आये हैं, ऐसे रूप ही हैं, जिनमें प्रत्येक समाज में स्वीकृत आचरण-मानक क्रियान्वित होते हैं।

प्रथा उस कार्य की पूर्ति की रीति है, जो हर हालत में किया जाना है। हम खाना चम्मच से, छुरी-कांटे से, विशेष डंडियों से या हाथ से ही खा सकते हैं। लेकिन उसे खाना तो है ही।

किंतु ऐसे कार्य भी होते हैं, जिन्हें किये बिना भी काम चल सकता है, लेकिन लोग उन्हें संपन्न करते हैं और प्रायः उन्हें बहुत महत्वपूर्ण समझते हैं। ये अनुष्ठान हैं।

स्त्री-पुरुष एक दूसरे से प्रेम होने पर इकट्ठे रहने और पारिवारिक जीवन व्यतीत करने लग सकते हैं। किंतु सामान्यतः वे विवाह करते हैं। विवाह एक संस्कार है, अनुष्ठान है।

अजरबैजानी लेखक मकसूद इब्राहिमबेकोव ने अपनी एक कहानी में नायक द्वारा किये जा रहे क्रिया-कर्म का वर्णन इस प्रकार किया है:

"जलील-मुअल्लिम ने तीसरे दिन मृत्युभोज दिया, फिर सातवें दिन और आखिरी बार चालीसवें दिन। अपनी दिवंगत माता मरियम-खानुम का यथोचित क्रिया-कर्म करने के लिए जो कुछ करना आवश्यक था, वह सब वह पूरी तरह कर रहा था।

"नित्यप्रति की दौड़धूप और चिंताओं में ही वह अपने पूर्वजों की उन असंख्य

अनेक यूरोपीय देशों में वसंत ऋतु में बच्चे "मई वृक्ष" का यह खेल खेलते हैं।

पीढ़ियों के गहन विवेक को समझा, जिन्होंने ये प्रथाएं चलायी थीं और इन्हें बनाये रखा था। किसी अदूरदर्शी व्यक्ति को ये अनावश्यक और निरर्थक लग सकती हैं, लेकिन इन प्रथाओं का पालन करते हुए ही, भागदौड़ में लगे रहकर, लोगों से घिरे रहने पर ही आदमी पल भर को यह भुला पाता है कि अपने निकटतम संबंधी को गंवा बैठा है; अपना वह दुख भुला पाता है, जिससे अधिक मर्मांतक और पीड़ादायक दुख सारे मानव-कुल ने अपने लंबे अस्तित्व में और कोई नहीं जाना है।...

"अपनी सारी जमा-पूंजी की पाई-पाई जलील-मुअल्लिम ने इन चालीस दिनों में ख़र्च कर डाली थी और उसे इसका लेशमात्र भी रंज नहीं था। उसे पक्का विश्वास था कि ऐसे पुनीत और महत्वपूर्ण काम में कंजूसी दिखाना शोभा नहीं देता। जलील-मुअल्लिम यह मानता था कि इस रस्म की कितनी अच्छी अदायगी होती है, इसी से यह ठीक-ठीक पता चलता है कि कौन शरीफ़ घर का है, दूसरों का आदर-सम्मान पाने योग्य है, और किसका कोई आगा-पीछा नहीं है।"

यह लंबा उद्धरण हमने यह दिखाने के लिए भी दिया है कि स्वयं अनुष्ठान-कर्ता के लिए अनुष्ठान में क्या मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और नैतिक अर्थ निहित होता है।

किंतु मानव-जीवन में अनुष्ठान का अर्थ, सामाजिक संबंधों के सुदृढ़ीकरण के लिए उसका अर्थ कहीं अधिक व्यापक होता है। अनुष्ठान के दौरान उसके सहभागी और दर्शक सभी एकसमान विचारों और भावनाओं से सूत्रबद्ध होते हैं, एक सह-अनुभूति उन्हें एक दूसरे से जोड़ती है।

इसके अलावा, अनुष्ठान एक सर्वमान्य रूप बनकर युवा पीढ़ियों के संवेगों और विचारों को विगत पीढ़ियों के भावनात्मक अनुभवों और धारणाओं की सामान्य धारा से जोड़ते हैं। जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाओं के अवसर पर लोगों में सह-अनुभूति जगाने का सामाजिक प्रकार्य अनुष्ठानों को मानव-जीवन में अद्वितीय स्थान दिलाता है।

संसार के सभी जनगण की ही भांति सोवियत लोगों के जीवन में अनुष्ठानों का महत्वपूर्ण स्थान है। हमारे यहां नये समाजवादी अनुष्ठान भी बन रहे हैं, जिनका ध्येय न केवल मनुष्य के जीवन को अलंकृत करना है, बल्कि उसे मानवतावादी और कम्युनिस्ट आदर्शों की भावना में शिक्षित करना भी।

विलक्षण सोवियत शिक्षाशास्त्री अन्तोन मकारेन्को ने क्रांति के बाद अनाथ

वच्चों के लिए स्कूल खोला था, जहां वच्चे पढ़ाई के अलावा भांति-भांति के काम भी सीखते थे। इस स्कूल के वारे में मकारेन्को ने 'जीवन की ओर' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें छात्रों द्वारा मनाये जानेवाले उत्सवों का भी वर्णन है। इनमें एक था 'पहले पूले का उत्सव'– सभी उत्सवों की भांति इसमें भी मेहमान आते, खुशियां मनायी जातीं, दावत होती। इस सव के साथ ही यह एक अनुष्ठान भी था। स्कूल के सर्वश्रेष्ठ आदरणीय लोग लाल झंडियों से घिरे खेत के टुकड़े की कटाई करते और पहला पूला बांधते, फिर श्रेष्ठों में श्रेष्ठ व्यक्ति किसी एक किशोर छात्र को पहला पूला सौंपते हुए कहता: "यह पहला पूला मेरे हाथों से ग्रहण करो। इस तरह पढ़ना और काम करना सीखो कि वड़े होकर युवा कम्युनिस्ट वनो और वह सम्मान पाओ, जो आज मुझे मिला है–तुम भी पहले पूले की कटाई करो।"

विवाह मानव-जीवन का एक प्रमुख संस्कार है, अनुष्ठान है। इससे जुड़े रीति-रिवाज असंख्य हैं। सोवियत संघ में विवाह का पंजीकरण विवाह-प्रासादों में होता है, फूलों-रिवनों से सजी कारों में वर-वधू और उनके संवंधी वहां जाते हैं और फिर देश की रक्षा के लिए वीरगति को प्राप्त शहीदों के स्मारक पर पुष्पांजलि अर्पित करते हैं। फिर वर अथवा वधू के घर में या रेस्तरां में प्रीति-भोज होता है। देहातों में विवाह के नये तौर-तरीक़ों में वहुत-से परंपरागत तत्वों का भी समावेश होता है (विवाह-गीत, नृत्य, इत्यादि)। वहां रिश्ता मांगने की पुरानी रस्म भी निभायी जाती है। वेशक, अव इसका रूप काफ़ी वदल गया है।

रूसी और दूसरे स्लाव लोगों के यहां रिश्ता मांगने की रस्म वहुत पुरानी है। सव जगह इसके अपने नियम-क़ायदे हैं। ल० व० ज़ासेदातेलेवा ने अपनी पुस्तक 'तेरेक के कज़्ज़ाक' में इन लोगों के विवाह के रीति-रिवाजों का विस्तृत विवरण दिया है।

रिश्ता मांगने की प्रक्रिया लंवी और जटिल है। रिश्ता मांगने आने-वाले आदरणीय लोग होते हैं, साथ ही हंसमुख वाक्पटु और फुर्तीले भी। वे खास ढंग से पकायी गयी खूव वड़ी रोटी लेकर आते हैं। वे यह स्वांग रचते हैं कि वे सौदागर हैं, जिन्होंने सुना है कि इस घर में "माल" है।

लड़का पसंद नहीं है? लड़की के घरवाले मेहमानों से वैठने को भी नहीं कहेंगे। या, सोच-विचारकर, कुछ दिनों वाद रोटी लौटा देंगे, या कद्दू भेज देंगे।

लड़का पसंद है? तो भी रिश्ता मांगनेवालों को तुरंत ही स्वीकृति नहीं
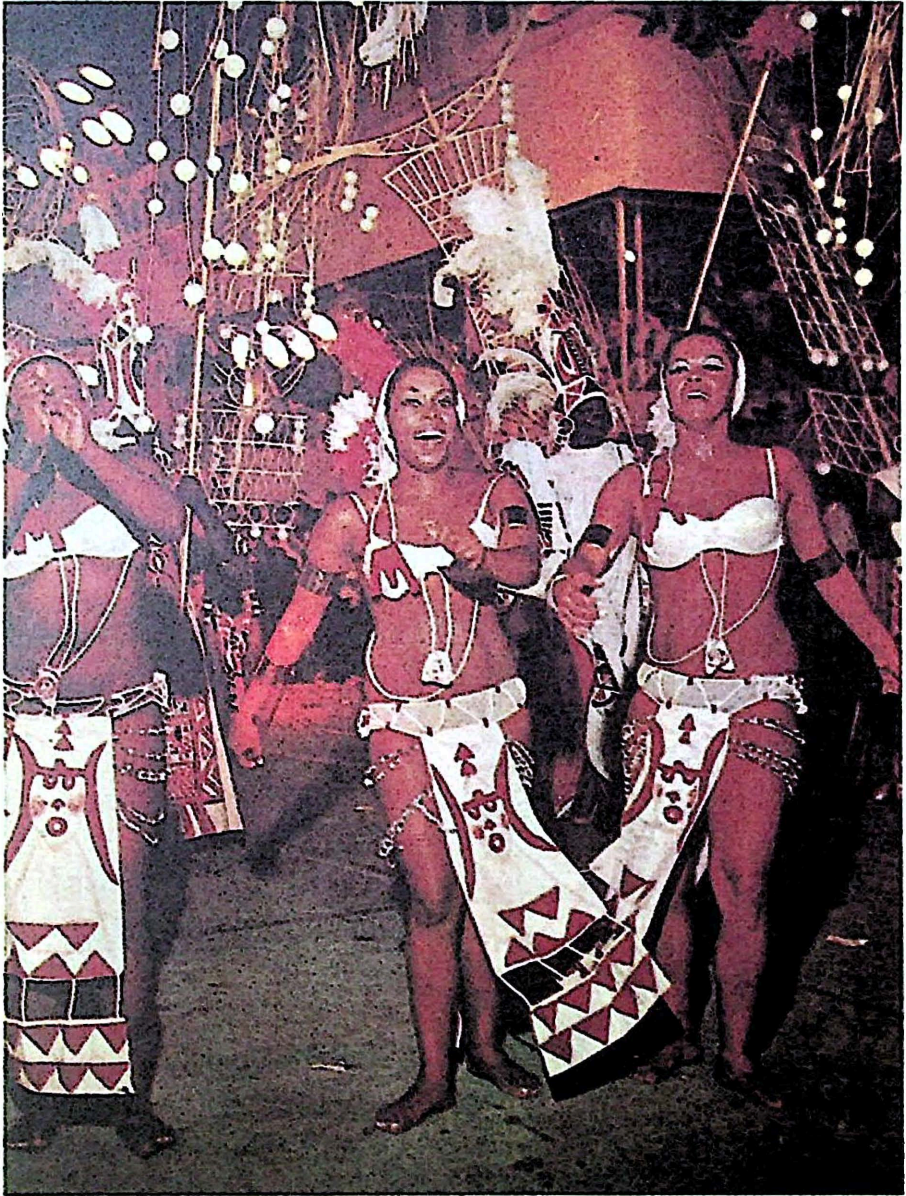
ब्राज़ील में परंपरागत कार्निवल।

मिलेगी। उन्हें तीन वार आना होगा, तब कहीं लड़की के माता-पिता हामी भरेंगे।

तव लड़का अपने माता-पिता के साथ आता है। लड़की का पिता पहले लड़के से और फिर लड़की से पूछता है कि वे विवाह के लिए राज़ी हैं या नहीं। फिर लड़की की मां वह रोटी तोड़ती है, जो रिश्ता मांगनेवाले पहले दिन लाये थे। लड़के के माता-पिता दावत की चीज़ें मेज़ पर रखते हैं। लड़के और लड़की को दूसरे कमरे में ले जाया जाता है—प्रथम मिलन के लिए।

अगली रस्म है "हाथधरायी"। यह लड़के के घर में होती है। यहां यह तय होता है कि शादी टूट गयी, तो कौन कितना हरजाना देगा। फिर दावत होती है और उसके वाद "हाथधरायी"—लड़के और लड़की के माता-पिता एक दूसरे के हाथ के ऊपर हाथ धरते हैं और ऊपर से वहां उपस्थित दूसरे लोग भी अपना हाथ रखते हैं।

इसके वाद कुछ दिनों तक दोनों घरों में दावतें और नाच-गान होता है और फिर दोनों ओर से सभी रिश्तेदार जमा होकर यह तय करते हैं कि किस दिन व्याह होगा, कितने मेहमान आयेंगे, कितना खर्चा होगा, क्या-क्या उपहार होंगे और दहेज़ में क्या होगा, इत्यादि-इत्यादि।

इसके वाद से लड़की वधू मानी जाती है। अव रोज़ शाम को उसकी सहेलियां उसके यहां जमा होती हैं, गीत गाती हैं, दहेज़ तैयार करने में उसकी मदद करती हैं। गांव के लड़के भी यहां आते हैं, लड़कियों को मिठाइयां खिलाते हैं, उनका मन वहलाते हैं। शादी महीने-डेढ़ महीने वाद होती है। शादी से पहले वर और वधू के घर में अंगूरी वोतलों में भरी जाती हैं, गेहूं, रई, जौ, जई, वाजरे की वालियों से वोतलें वंद की जाती हैं। नाना प्रकार के पकवान पकाये जाते हैं। इनमें सवसे अधिक ध्यान विवाह की विशाल रोटी पकाने की ओर दिया जाता है। विवाहिता स्त्रियों को, सो भी उनको जिनका विवाहित जीवन सुखी हो, यह रोटी पकाने के लिए आमंत्रित किया जाता है। गीत गाते हुए वे आटा गूंधती हैं, तंदूर में उसे पकाती हैं, आटे के फूल, चांद-सूरज और भरत पंछी वनाकर उनसे रोटी सजाती हैं। रोटी पर हरी घास का गुच्छा रखा जाता है, जो लाल धागे से वंधा होता है। फिर समारोही ढंग से रोटी वर के घर ले जायी जाती है।

हम अभी विवाह तक नहीं पहुंचे हैं, उपरोक्त रस्मों में भी वहुत-से व्योरे हमने छोड़ दिये हैं, तो भी पूरे अनुष्ठान के छोटे-से अंश का यह अतिसंक्षिप्त वर्णन इतना लंवा हो गया है! अभी तो वर वधू के घर आयेगा, विवाह से पहले

लड़कियां आखिरी वार वधू के घर में जमा होंगी, माता-पिता द्वारा आशीर्वाद देने की रस्म होगी, वधू का "क्रय" होगा, दहेज़ वर के यहां पहुंचाया जायेगा; और भी कितनी ही रस्में हैं, विवाह की रस्म के साथ भी अनुष्ठान पूरा नहीं होता।...

ल० व० ज़ासेदातेलेवा उचित ही कहती हैं: "विवाह... जटिल अनुष्ठान है, सही-सही कहा जाये तो इसमें निहित संवंधों और धारणाओं की गहराई, विविधता और वहुपक्षीयता की दृष्टि से यह अथाह है।" अनुष्ठान इसीलिए जटिल होता है कि इसमें विभिन्न युगों से वने आये संस्तरों का समावेश होता है।

परंपरागत पूर्वी स्लाव विवाह में गोत्र-व्यवस्था के अवशेष हैं, रोमन-यूनानी जगत के प्रभावों के चिह्न हैं और बैजंतियाई ईसाई प्रभाव की छाप है तथा इन जातियों के प्राचीन मौलिक और गृहीत तत्वों के कालांतर में हुए परिष्कार के फल भी निहित हैं। तेरेक नदी के तट पर वसे कज़्ज़ाकों के जीवन की विशिष्ट परिस्थितियों और काकेशिया के पर्वतवासियों के साथ उनके लंवे संपर्कों का भी असर उनके रीति-रिवाजों पर पड़ा।

प्रत्येक अनुष्ठान में गहरी ऐतिहासिक जड़ें देखी जा सकती हैं। समाज के लिए इस प्रकार के अनुष्ठानों में सवसे अधिक महत्वपूर्ण वात यह होती है कि ये सामाजिक रहन-सहन के सामान्य मानकों की पुष्टि करते हैं, अनुष्ठान के प्रमुख कर्ताओं की समाज में नयी स्थिति को मान्यता देते हैं।

गोत्र-समाज में किशोर निश्चित अनुष्ठान की पूर्ति के पश्चात समाज का वयस्क सदस्य माना जाता है, इसी प्रकार मध्य युग में शिल्पशाला का शिष्य भी अनुष्ठान के पश्चात शिल्पी वनता है। जन्म और मृत्यु के साथ भी अनुष्ठान जुड़े हुए हैं। अनुष्ठान जीवन के प्रमुख क्षणों को उत्सव का रूप देते हैं, उन्हें दैनंदिन जीवन से ऊपर उठाते हैं। मिथकीय चिंतनवाले गोत्र-समाज में अनुष्ठान सदा जादुई अर्थ भी रखते हैं और लोग प्रति दिन कई-कई घंटे अनुष्ठानों की पूर्ति में लगाते हैं। भैंस को नमक देना एक साधारण काम ही तो है। लेकिन गोत्र-व्यवस्था में जी रहे भारतीय टोडा क़वीले के पुरुषों के लिए यह एक लंवी रस्म है। टोडा लोग यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि यह काम जटिल अनुष्ठान के विना भी किया जा सकता है।

हिंदू लोग नित्य पूजा-पाठ, आदि नाना अनुष्ठान करते हैं। इनमें कई बहुत सुंदर भी हैं। उदाहरणतः, कई स्थानों पर हिंदू महिलाएं रंगीन चूर्णों और दानों से रंगोली सजाती हैं।

अनुष्ठान का सौंदर्यबोधात्मक प्रभाव उसका प्रमुख प्रकार्य नहीं है, उसकी शैक्षिक, चरित्र-निर्माणात्मक भूमिका ही सर्वोपरि है।

आदिम युग का मानव हो या आधुनिक मानव – वह एक सामाजिक जीव ही है और इस नाते दूसरे लोगों के साथ एकात्मता की भावना, सह-अनुभूति की चेतना और सबके साथ मिलकर नैतिक मूल्यों का बोध पाने की अनुभूति – यह सब उसके लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। साम्यता और एकात्मता की यह भावना, न्यूनाधिक पूर्णता के साथ, अनुष्ठान से प्राप्त होती है।

हमारे पूर्वजों के जीवन में अनुष्ठान का महत्व अपार था। मध्ययुगीन शिल्प-शाला में शिल्पी बनने के लिए दी जानेवाली परीक्षा की रस्म, जिसका हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, उच्च प्रतिकात्मक और व्यावहारिक अर्थ रखती थी। परीक्षार्थी अपना सारा कौशल, सारी प्रतिभा और प्रेरणा वास्तव में अद्वितीय वस्तु बनाने में लगाता था। यह सारी रस्म कितने समारोही ढंग से होती थी!

कोई कह सकता है कि इस सबसे पुरातनता की बू आती है, यह आधुनिक नहीं है। किंतु मानवजाति के इतिहास में नूतनता सदा पुरातनता की नींव पर खड़ी होतीं है, उसी के बीज से उगती है। सहस्राब्दियों के दौरान बनी जन-प्रथाओं के रूप में और बहुधा अंतर्य में भी बहुत कुछ ऐसा होता है, जिसे हम ग्रहण कर सकते हैं, जिसका हम नूतन की सृष्टि के लिए उपयोग कर सकते हैं। ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में दीक्षांत समारोह प्रभावोत्पादक होता है – काले गाउन और टोपियां पहनकर सब हॉल में आते हैं, डिग्रियां दी जाती हैं। ऐसी ही मध्ययुगीन रस्म प्राग विश्वविद्यालय में भी है। यह सब डिग्री पानेवालों के जीवन में इस घटना के महत्व पर बल देता है। डाक्टर अपनी शिक्षा पूरी होने पर जो शपथ ग्रहण करते हैं और इंडोनेशिया में अदालती कार्रवाई में जो पुरानी रस्में हैं – इस सबमें पुरातनता भी समसामयिक हो सकती है। पुरातनता यदि अर्थगर्भित और प्रतीकात्मक होती है, तो वह हास्यास्पद नहीं होती।

अनुष्ठान का भावनात्मक प्रभाव उस पर हुए व्यय से नहीं, बल्कि उसके संगठन से, उन साधनों के उपयोग से निर्धारित होता है, जिनकी बदौलत लोगों को घटना के महत्व और उदात्तता की विशेषत: तीव्र अनुभूति होती है।

९ मई को हमारे देश में विजय-दिवस मनाया जाता है। फ़ासिस्ट जर्मनी के विरुद्ध महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध (१९४१-१९४५) में दो करोड़ प्राणों की आहुति देकर सोवियत जनता ने यह विजय पायी। लेनिनग्राद नगर इस युद्ध में

९०० दिनों तक शत्रु के घेरे में रहा। ऐसी भयंकर नाकेबंदी की सारी कठिनाइयां, सारे अभाव सहते हुए नगरवासी दिन-रात संघर्ष करते रहे। लाखों लोगों ने इस संघर्ष में अपने प्राण अर्पित किये। उनकी पावन-स्मृति में हर साल ९ मई को लेनिनग्राद के पिस्कार्योव्स्कोये क़ब्रिस्तान में पुष्पांजलि अर्पित की जाती है। यह भावभीना और भव्य दृश्य होता है। प्रत्येक व्यक्ति जनता के पराक्रम की महानता और युद्ध की वेदी पर हुए वलिदानों की शोकमय वेदना की भावना हृदय में लिये वीरों की समाधि पर फूल चढ़ाता है। शोक संगीत की स्वर-लहरियां उज्ज्वल आकाश की ओर उठती जाती हैं।

सीधे-सादे और ज़रूरी नियम

आचार-व्यवहार और संसर्ग की शिक्षा कहां से आरंभ होती है?

"वेटे, आंटी को नमस्ते करो।"

"तुमसे ग़लती हुई है, तो तुम्हें माफ़ी मांगनी चाहिए।"

"देखो, यह तुम्हारा घर है। तुम्हारे घर आकर अगर कोई ठीक वर्ताव नहीं करता, तो तुम्हें इसकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए।"

कितना अभागा होता है वह व्यक्ति, जो अपने समाज के प्रमुख मानकों का पालन तो करता है, समाज में स्वीकृत नैतिकता को भी मानता है, अच्छा-ख़ासा शरीफ़ आदमी है, लेकिन किसी कारण से यह नहीं सीख पाया है कि दूसरों के साथ संपर्क कैसे स्थापित करना चाहिए, संवंध कैसे वनाने चाहिए, कैसे दूसरों को समझना चाहिए।

दैनंदिन जीवन में आचार-व्यवहार के नियम, जो परस्पर समझ और शिष्टता के उद्भव से जुड़े होते हैं, संसार के सभी जनगण के यहां पाये जाते हैं और सर्वत्र ही अपने-अपने नियम होते हैं।

क्या कारण है कि सभी मानव-समाजों को साहचर्य के और शिष्टाचार के नियमों की आवश्यकता पड़ी? क्यों और किसलिए?

समाज में साहचर्य के नियमों का ध्येय समाज को वनाये रखना और उसके सदस्यों की निरापदता तथा दूसरे समुदायों के प्रति आदर-भाव सुनिश्चित करना है। शिष्टाचार के नियमों के पालन का अर्थ है अपने इर्द-गिर्द की, परिचित और अपरिचित लोगों की अच्छी मन:स्थिति का भी ध्यान रखना। १७वीं शती के

फ़ांसीसी लेखक जां दे लाब्रुयेर के शब्दों में, शिष्टता का अर्थ इस बात का प्रयास करना है कि हमारे शब्दों और हमारे व्यवहार से दूसरे संतुष्ट हों। शिष्टता उसे प्रदर्शित करनेवाले को भी शिक्षित करती है और जिसके प्रति शिष्टता दिखायी जाती है उसे भी।

प्राचीन चीन में शिष्टाचार के नियम लोगों का जितना समय लेते थे, उतना संसार में और कहीं नहीं। वहां "कोरी औपचारिकता" की ओर इतने ध्यान की बड़ी सुस्पष्ट और कामकाजी व्याख्या की जाती थी। "औपचारिकता और शिष्टता मनुष्य को सदाचारी बनाती हैं," चीनी मनीषियों का कहना था। यदि मनुष्य सदाचारी नहीं बना, उसमें सदाचार है ही नहीं, तो? तब शिष्टता सदाचार का स्थान लेती है। लेकिन यहां यह भी कहना होगा कि प्राचीन चीन की शिष्टता काफ़ी बोझिल थी और इसमें समय का अत्यधिक अपव्यय होता था। केवल एक स्थिति के लिए शिष्टाचार के ये नियम देखिये, जिनका वर्णन पान इन ने 'वाक्-व्यवहार की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक विशिष्टता' शीर्षक अपनी पुस्तक में दिया है:

"प्राचीन चीन में एक दूसरे से अपरिचित लोगों की भेंट इस प्रकार होती थी: अतिथि को गृहस्वामी के लिए अनिवार्यतः कोई उपहार लाना होता था, जो गृहस्वामी की सामाजिक स्थिति के अनुरूप होता था (उदाहरणतः किसी विद्वान से मिलने के लिए उसे फ़ेज़ेंट भेंट करना होता था।) अतिथि के दस्तक देने पर नौकर बाहर आता और यह जानकर कि अतिथि के आने का प्रयोजन क्या है, उत्तर देता: 'स्वामी आपका स्वागत करने में असमर्थ हैं। आप कृपया घर लौट जायें। स्वामी स्वयं आपकी सेवा में उपस्थित होंगे।' ये शब्द कहते हुए नौकर हाथ जोड़कर बार-बार शीश नवाता। आगंतुक भी हाथ जोड़कर और सिर झुकाकर उत्तर देता: 'मैं आपके स्वामी को कष्ट नहीं दे सकता। मुझे अंदर जाकर स्वयं उनके आगे शीश निवाने की आज्ञा हो।' इस पर नौकर उत्तर देता: 'स्वामी के लिए यह बहुत बड़ा सम्मान है। आप घर लौटें। स्वामी तुरंत उपस्थित होंगे।' अतिथि से मिलने की पहली अस्वीकृति 'औपचारिक कथन' कहलाती थी, दूसरी अस्वीकृति 'आग्रहपूर्ण कथन'।

"'आग्रहपूर्ण कथन' के पश्चात अतिथि पुनः अनुरोध करता। नौकर तीसरी बार अतिथि की बात सुनकर स्वामी के पास जाता और लौटकर कहता: 'यदि आपको हमारा आग्रह स्वीकार नहीं है, तो स्वामी अभी आपसे भेंट के लिए

उपस्थित होंगे। किंतु उपहार वह ग्रहण नहीं कर सकते।' इस पर अतिथि तीन बार यह कहता कि यदि उसका उपहार नहीं लिया जाता, तो वह भेंट नहीं कर सकता। इसके वाद ही गृहस्वामी वाहर आकर अतिथि का स्वागत करता। दोनों हाथ जोड़कर एक दूसरे को शीश नवाते, और फिर गृहस्वामी अतिथि को अंदर चलने को कहता। अतिथि फिर से तीन वार इंकार करता। अंततः गृह-स्वामी अतिथि की ओर मुंह करके घर के अंदर जाता और अतिथि को भी इशारे से वुलाता।" भेंट की औपचारिकताएं इतने पर ही समाप्त नहीं होती थीं, किंतु इनका वर्णन तो वैसे ही वहुत लंवा हो चुका है।

१८वीं शती के फ़्रांस ने संसार को अनेक विलक्षण दार्शनिक प्रदान किये। प्रायः इन सभी ने समाज के लिए शिष्टाचार के महत्व पर अपने विचार प्रकट करना आवश्यक समझा। उन्होंने इसे सामाजिक सद्‌गुणों की अभिव्यक्ति कहा और इस बात पर ज़ोर दिया कि आदमी जहां वुराई की देखादेखी वुराई करता है, वहीं अच्छाई को देखकर अच्छाई भी करता है, कि शिष्ट व्यक्ति दूसरों के सम्मुख अच्छाई का उदाहरण ही प्रस्तुत करता है।

ये दार्शनिक आशावादी थे। इस मामले में उनका आशावाद, अन्य अनेक मामलों की ही भांति, औचित्यपूर्ण भी था।

शिष्टाचार के कुछ नियम मात्र सांयोगिक होते हैं। उदाहरणतः, यूरोप में खाना खाते समय लोग सिर से टोपी, शायद, इसीलिए उतार लेते हैं कि किसी ज़माने में शाही भोज में केवल वादशाह ही सिर पर ताज पहनकर बैठ सकता था। राजा-महाराजा प्रायः कहीं नहीं रहे, लेकिन यह प्रथा वनी हुई है।

प्रत्येक नियम की ऐतिहासिक व्याख्या अत्यंत रोचक हो सकती है, किंतु इससे भी अधिक रोचक वात यह है कि प्रथाओं और लोकाचार के इन संयोगों में सदा शिष्टता की आवश्यकता, अनिवार्यता प्रतिविंवित होती है।

शिष्टता, विनम्रता के पीछे सामाजिक जीवन की कहीं अधिक गहन परि-घटनाएं और उसके मानक निहित हैं।

हमें एक दूसरे की आवश्यकता है

लोगों के वीच संसर्ग मानव और मानवजाति के लिए नितांत आवश्यक है और शिष्टता, अन्य सव वातों के अलावा, वह मूल्य है, जो हम स्वेच्छा से

इस संसर्ग के लिए चुकाते हैं। इस संसर्ग में और इसकी वदौलत ही संसार के सभी भौतिक एवं आत्मिक मूल्यों का निर्माण होता हैं। लेनिनग्रादवासी लेखक वीक्तोर कोनेत्स्की ने एक बार मज़ाक़ में कहा था कि आदमी परलोक में भी पूर्ण एकांत की कल्पना नहीं कर सकता:

"सभी युगों में लोग स्वर्ग और नरक की भी कल्पना धर्मात्माओं और पापियों के समूहों के रूप में ही करते आये हैं।"

मानव-संसर्ग की समस्या, निस्संदेह, वहुआयामी हैं। संयम, धैर्य और परस्पर समझ की योग्यता इसके लिए आवश्यक गुण हैं। इन गुणों की ही सदा सभी जनगण वहुत क़द्र करते आये हैं। ये गुण लोगों के वीच व्यक्तिगत स्तर पर संसर्ग के लिए ही मानी नहीं रखते। सही-सही कहा जाये तो स्वयं समाज भी लोगों के वीच परस्पर संबंधों की पद्धति ही है। लोगों के वीच ज्ञान और कलात्मक विंबों का, श्रम के औज़ारों और आहार का विनिमय भी अपनी सारी व्यापकता के वावजूद संसर्ग की इस प्रक्रिया का एक अंश ही है। संसर्ग में ही हम जीवन की शिक्षा पाते हैं, संसर्ग में ही जीते हैं। रॉविन्सन क्रूज़ो भी, जो निर्जन द्वीप पर अकेला रह जाने के कारण इस सजीव प्रक्रिया से कट गया था; ध्वस्त जहाज़ से लायी गयी चीज़ों के रूप में लोगों के पूर्ववर्ती संसर्ग के फलों का उपभोग करता रहा था।

दूसरे लोगों के साथ संसर्ग में हम संस्कृति को आत्मसात करते हैं। लोगों के वीच संसर्ग जितना अधिक वहुमुखी और सक्रिय होता है, संस्कृति उतनी ही अधिक विकसित होती है।

आदि मानव अपने समुदाय के और, शायद, कुछ पड़ोसी समुदायों के कुछ दर्जन लोगों से संबंधित होता था। आज हममें से प्रत्येक व्यक्ति असंख्य सूत्रों से दूसरे लोगों से जुड़ा हुआ है।

स्वचालित करघा वनाना, संभवतः, पुस्तक-मुद्रण-यंत्र वनाने से आसान नहीं रहा होगा। लेकिन आज इस करघे के अन्वेषकों का नाम शायद ही कोई जानता हो, जबकि जर्मन गुटेनबर्ग का नाम, जिसने यूरोप में सवसे पहला मुद्रण-यंत्र वनाया, वहुत-से लोग वचपन से जानते हैं। इसका कारण वहुत हद तक यही है कि पुस्तक-मुद्रण से संसर्ग की सघनता वढ़ाने का तात्कालिक कार्यभार पूरा हुआ। पुस्तकों की छपाई के साथ वैज्ञानिक, तकनीकी, कलात्मक-भावनात्मक—हर प्रकार की सूचना के विनिमय की प्रक्रिया में कल्पनातीत तीव्रता आयी।

१९वीं शती के अंग्रेज खगोलविज्ञानी जॉन हेर्शेल के ये शब्द पुस्तक का स्तुतिगान ही हैं: "आदमी को पठन-पाठन का अभ्यस्त वना दीजिये, उसे अपनी यह लगन पूरी करने का अवसर दीजिये और आप उसे सौभाग्यशाली वना देंगे। आप उसे मनीषियों और वाग्मियों की संगत दिलायेंगे, सर्वाधिक सुकोमल, निश्छल और साहसी लोग, इतिहास के सभी युगों के मानव-रत्न उसके मित्र होंगे। आप उसे सभी राष्ट्रों का नागरिक और सभी युगों का समसामयिक वना देंगे।"

२०वीं शती में फ़्रांसीसी लेखक आंद्रे मोरुआ यही वात दोहराते हैं: "विगत पीढ़ियों द्वारा संचित ज्ञान और स्मृतियों का परिणाम – यही है हमारी सभ्यता। इसके नागरिक हम तभी वन सकते हैं, जवकि हम अपने से पहले की पीढ़ियों के विचारों से परिचित हो जायें। सुसंस्कृत मानव बनने का एक ही उपाय हैं – पठन-पाठन।... पुस्तक सभी सीमाओं को लांघने का साधन है।"

पुस्तक के बारे में ऐसे भावप्रवण कथनों से ग्रंथ के ग्रंथ संकलित किये जा सकते हैं।

* * *

"संसर्ग का मूल्य" कितना भी ऊंचा क्यों न हो, उससे इंकार का मूल्य कहीं अधिक ऊंचा है। यह वात न केवल लोगों, अपितु राज्यों के वीच संसर्ग पर भी लागू होती है।

जनगण की मैत्री, राज्यों के वीच सहयोग – इन धारणाओं के पीछे विभिन्न जातियों के लोगों के वीच वंधुत्वपूर्ण संवंधों और पृथ्वी पर शांति की मानव और मानवजाति की हितचिंता ही नहीं, बल्कि समाज के विकास और अस्तित्व तक के हित में सभी स्तरों पर संसर्ग की गहन सांस्कृतिक आवश्यकता भी निहित है। "व्यक्तिगत स्तर" पर संसर्ग का सर्वोपरि रूप मैत्री है। यह भी संस्कृति की चहेती संतान है, लंबे और कठिन ऐतिहासिक विकास का फल है।

निस्संदेह, सदा ऐसे लोग हुए हैं, जो परस्पर सद्भाव और आकर्षण के सूत्र में वंधे होते हैं, अपने मन की बात एक दूसरे से कहते हैं, एक दूसरे की सहायता करने और परामर्श देने को सदा तत्पर रहते हैं। लेकिन गोत्र-समाज में प्रेम की ही भांति मैत्री की भी सीमाएं प्रथाओं द्वारा निर्धारित थीं। जीवन-संगिनी की ही भांति मित्र के चयन की भी संभावनाएं वहुधा अत्यंत सीमित थीं। जिस प्रकार आस्ट्रेलियाई मूलनिवासी गोत्र की संरचना में अपने स्थान के अनुसार

अपने लिए उपयुक्त आयु की दो-तीन स्त्रियों में से ही अपने लिए पत्नी चुन सकता था, उसी प्रकार उसके गोत्र का ही और उसके आयु-वर्ग का ही कोई व्यक्ति उसका मित्र हो सकता था।

इसके साथ ही गोत्र-समाज के सदस्य को खतरा केवल "वाह्य शत्रु" से, उदाहरणतः पड़ोसी क़वीले से हो सकता था, किंतु अपने समुदाय में कोई "आंतरिक शत्रु" नहीं था। फिर शत्रुतापूर्ण वर्गों का उद्भव हुआ और अव उसी क़वीले का, यहां तक कि उसी गोत्र का, वही भाषा बोलनेवाला एक व्यक्ति दूसरे को अपना दास वना सकता था... या संपदा अथवा सामाजिक संरचना में स्थान द्वारा एक व्यक्ति को प्राप्त सत्ता का दूसरा व्यक्ति विरोध कर सकता था। दसियों हज़ार या, शायद, लाखों वर्ष तक समुदाय को केवल बाहर से जो खतरा रहता था, उसी ने अब उसके भीतर स्थान वना लिया। क़रीवी लोग शत्रु बन गये, या वन सकते थे।

ऐसी स्थिति में जव पिता को पुत्र से ख़तरा हो, भाई भाई पर हाथ उठा सकता हो, किसका सहारा लिया जाये?

गोत्र-समाज के विघटन की परिस्थितियों में मैत्री औपचारिकतः निरूपित स्वरूप धारण कर सकती थी, मैत्री के नाते मुंहवोले भाई वनने का अनुवंध हो सकता था।

१९वीं शती के अंत में रूसी भाषा में प्रकाशित 'व्रोकहाउस एवं येफ़ोन विश्वकोश' में इस संकल्पना के इतिहास में न जाते हुए इसकी निम्न परिभाषा दी गयी है: "मुंहबोला भाई या मुंहवोली बहन–दक्षिणी स्लावों (वुल्गारियों और सेर्बों) की प्रथागत विधि की संस्था, जिसमें दो या दो से अधिक समलिंगी अथवा विषमलिंगी लोग ऐसा सहवंध स्थापित करते हैं, जो साझे भूस्वामित्व की समानता अथवा रक्त-संबंधों पर नहीं, वल्कि परस्पर नैतिक प्रेम पर आधारित होता है।... इसके प्रमुख लक्षण हैं–एक दूसरे के प्रति निष्ठा और वफ़ादारी, नैतिक संबंधों की शुचिता, विभिन्न धर्मों और विभिन्न क़वीलों का सदस्य होने की संभावना, सहवंध की अटूटता और सांपत्तिक उत्तराधिकार के संवंधों का न होना।"

विश्वकोश में यह इंगित किया गया है कि यह एक पुरानी प्रथा है, जो सर्वप्रथम भारोपीय जनगण के एक अंश–दक्षिणी स्लावों–में पायी जाती है। अव यह प्रमाणित माना जा सकता है कि यह प्रथा भारोपीय जनगण में ही नहीं, तुर्कों में, प्राचीन वाबुलवासियों में, मंगोलों और पॉलीनीशियाई जनगण में भी

प्रचलित थी। जहां-जहां गोत्र-समाज का विघटन होता है, वहां-वहां मनुष्य की रक्षा का एक साधन पुनीत संबंध मानी गयी मैत्री बन जाती है।

शक लोगों में मुंहबोला भाई बनाने की प्रथा प्रचलित थी। प्राचीन रोमन लेखक लुकियान ने तोक्सारिस नाम के एक शक की कथा उद्धृत की है। इसका एक अंश इस प्रकार है:

"मित्र हमें प्रीति-भोजों में नहीं मिलते। और इसलिए भी नहीं बनते कि अमुक व्यक्ति हमारा समवयस्क है, बल्कि इसलिए कि महान पराक्रम करने में सक्षम किसी श्रेष्ठ व्यक्ति को देखकर हम सब उसकी ओर बढ़ते हैं। ... और जब कोई एक सौभाग्यशाली मित्र बन जाता है, तो दोनों मित्र यह शपथ ग्रहण करते हैं कि वे सदा साथ रहेंगे और आवश्यकता पड़ने पर एक दूसरे के लिए प्राणों की बाज़ी लगा देंगे।"

शक लोगों में यह प्रथा लगभग दो सौ वर्ष तक चली। प्राचीन रूस में भी शीघ्र ही विलुप्त हो गयी।

विकसित वर्गाधारित समाज में यह प्रथा मिट जाती है। जैसा कि 'ब्रोकहाउस एवं येफ़्रोन विश्वकोश' में बताया गया है, १६वीं शती के अंत तक यह प्रथा दक्षिणी स्लावों में ही बनी रही थी—वहां जहां कई सदियों तक बने रहे तुर्कों के अंकुश ने समाज को विकास के सोपानक्रम में पीछे धकेल दिया था, जहां पराधीन जन के सदस्य की निरापदता राज्य द्वारा सुनिश्चित नहीं थी।

इसके अलावा मुंहबोले भाई की प्रथा एशिया की कुछ यायावर जातियों में भी बनी रही। इसका सीधा-सादा कारण यह है कि यायावर समाज का विकास, नियमतः, अत्यंत धीमी गति से होता है।

वह प्रथा अब नहीं रही, जिसने मैत्री को एक पावन सहबंध का दर्जा दिलाया, किंतु अपने स्वतंत्र चयन से स्थापित की जानेवाली मैत्री बनी रही है, हमारी संस्कृति का एक अंश, इसका एक नितांत आवश्यक तत्व बन गयी है। अब इसका औपचारिक निरूपण नहीं होता, मित्रों के सहबंध की अभिपुष्टि अनुष्ठानों द्वारा नहीं होती, किंतु मुंहबोला भाई बनने की पुरानी प्रथा और आज की सच्ची मैत्री के बीच संबंध और सातत्य स्पष्टतः देखा जा सकता है। "आदमी के पास काम हो—यह अच्छा है, पुस्तकें हों—यह भी अच्छा है, पर मित्र हों—यही सबसे अच्छा है।" महान भौतिकविज्ञानी जेम्स क्लार्क मैक्सवेल के ये शब्द जो न दोहरा पायें, ऐसे कुछ गिने-चुने अभागे ही होंगे।

हम अपनी आत्मकथाओं में अपने मित्रों के नाम नहीं गिनाते हैं, लेकिन हमारे समवयस्क, हमसे उम्र में बड़े और छोटे मित्रों की इस वात में कितनी बड़ी भूमिका होती है कि हम कौन-सा जीवन-पथ चुनते हैं और इस वात में भी कि कैसे हम इस पथ पर चलते हैं।

मैत्री का एक और पहलू भी है, जिसकी ओर सोवियत दार्शनिक और मनोविज्ञानी ई० स० कोन ने विशेष ध्यान दिया है। प्राय: मैत्री मानो (प्रेम की ही भांति) यह प्रमाणित करने के लिए ही बनती है कि एक दूसरे से बहुत भिन्न लोगों में समानता उनके बीच भेदों की तुलना से कहीं अधिक है। दोन किहोत (क्विक्ज़ोट) और सांचो पांसा की आश्चर्यजनक जोड़ी ऐसी स्थिति का उदाहरण तो नहीं (आखिर वे वास्तविक व्यक्ति नहीं, कल्पित पात्र हैं), हां, इसका प्रतीक अवश्य मानी जा सकती है।

प्रेम और परिवार

१६वीं शती में फ़्रांसीसी मनीषी मिशेल मोंतें ने भी आज ही की तरह प्रचलित ये बातें सुनीं कि अधिकांश लोगों का विवाहित जीवन सुखी नहीं होता और इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज के लिए परिवार अनावश्यक है, हानिकारक है, कि परिवार जैसी कोई संस्था रहनी ही नहीं चाहिए। कालांतर के अपने देशवासियों से भिन्न मोंतें को विरोधाभासमय कथनों का शौक़ नहीं था, तो भी यहां उन्होंने ऐसा तर्क ही प्रस्तुत किया: अधिकांश परिवार सुखी नहीं हैं, लेकिन फिर भी परिवार का अस्तित्व बना हुआ है – इतनी उपयोगी और आवश्यक चीज़ है यह।

परिवार का सूत्रपात कहां से होता है? प्रेम से।

प्रत्येक मानव के अस्तित्व का श्रेय प्रेम को ही है।

नारी की महिमा

नारी को ललना, रमणी और कामिनी कहते हैं, नारी को ही अबला भी कहते हैं।

पहली बात से पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता है, दूसरी से अंशत: ही।

मनोविज्ञानियों ने बहुत पहले ही इस बात की ओर ध्यान दिया है कि स्त्रियां कई काम पुरुषों से अधिक अच्छी तरह करती हैं, एक तो वे काम, जिनके लिए विशेषत: सटीक गतियों की और एकाग्रचित्त बने रहने की आवश्यकता होती है, दूसरे, जैसाकि प्रयोगों से पता चला है, ऐसे अत्यंत जटिल काम भी, जिन्हें करने के लिए एक साथ बहुत-सी बातों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। यह दूसरी बात सामान्यत: स्त्रियों पर नहीं, बल्कि केवल उन स्त्रियों पर लागू होती है, जो गृहस्थी चलाती हैं। सो, हो सकता है कि बात किन्हीं जन्मजात योग्यताओं की न होकर व्यवहार द्वारा उनके विकास की ही हो – घर-गृहस्थी में ही तो आदमी

को गंभीर बातों के अलावा हज़ारों छोटी-छोटी बातें भी ध्यान में रखनी पड़ती हैं।

नारी को ही अनेक विद्वान मानव-संस्कृति की प्रणेता मानते हैं!

आदिम समाज के श्रम-विभाजन में पुरुष मुख्यत: आखेटक ही था और स्त्री कंद-मूल बटोरती थी। वही ज़मीन में से कंद-मूल खोदकर निकालती थी, कीट-डिंभक खोजती थी, जंगली अनाज की बालियां तोड़ती थीं। संभवत:, उसी ने सोच-समझकर नरम ज़मीन में बीज डाले, और इस तरह मानव ने पहली वनस्पतियां उगायीं। मिथकों में अग्नि के अन्वेषक, उसे हरने या प्रदान करनेवाले – चाहे वे देवता हों अथवा वीर – पुरुष ही हैं। लाखों वर्ष के कालक्रम में लोग यह भुला बैठे कि "अग्नि की खोज" का श्रेय भी नारी को, "गृह" स्वामिनी को ही है: पहला गृह बनने से पूर्व ही गृहस्थी का काम कर रही नारी ही तो अग्नि के गुणों को समझी होगी, उसी ने अपने आवास को गरमाने के लिए और भोजन पकाने के लिए भी उसका उपयोग किया होगा, भले ही पहली जलती टहनी उसके लिए पुरुष लाया हो।

ऐसा भी हुआ होगा कि आखेटक पुरुष ज़िंदा पकड़े गये शावकों को ले आया और नारी ने उन्हें पाला-पोसा। प्रत्यक्षत:, उन्हीं में से कुछ पालतू जानवरों के पूर्वज बने। वस्त्रों और जूतों की खोज भी नारी ने की और उसी ने चिकनी मिट्टी से पहले बर्तन बनाये।

गोत्र-समाज में पुरुष की ही भूमिका प्रधान हो जाने पर भी समाज के आत्मिक विकास में नारी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती रही।

आज भी, प्रत्यक्षत:, स्त्रियां शिष्टाचार का पुरुषों से अधिक ध्यान रखती हैं, नैतिकता के प्रश्नों में अधिक दृढ़ता दिखाती हैं। समाजविज्ञानियों के मत में, समाज के इतिहास में स्त्रियां स्थायित्व लानेवाली शक्ति होती हैं, सामान्यत: वे किसी भी प्रकार की अतियों से पुरुषों की तुलना में अधिक दूर होती हैं। सांख्यिकी के आंकड़े यह बताते हैं कि अपराध करनेवालों में स्त्रियों का अंश कम होता है, स्त्रियां एल्कोहल और दूसरे मादक द्रव्यों के प्रभाव में कम आती हैं।

स्त्री-पुरुष के बीच नैतिक संबंधों के मानकों के पालन में स्त्रियां, नियमत:, विशेषत: महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती आयी हैं। संभवत:, नारी ने ही नैसर्गिक कामेच्छा को उस दिशा में मोड़ा, जिसमें बढ़ते हुए वह उदात्त प्रेम-भावना बनी, तथा होमर, कालिदास, शेक्सपियर और पुश्किन ने, साफ़ो, ज़ेबुनिस्सो और जार्ज सैंड ने उसका स्तुतिगान किया।

प्रेम, विवाह, परिवार

स्वयं मानव के पुनर्जनन में जो भावना इतनी विशाल भूमिका अदा करती है, वह समाज के लिए नगण्य नहीं हो सकती।

प्रेम एक सामाजिक परिघटना है और उसका स्वरूप ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है—इसके बारे में फ़ेडरिक एंगेल्स ने बहुत कुछ लिखा है।

गोत्र-समाज के अधिसंख्य क्या, प्रायः सभी युवक-युवतियां उनके लिए निर्धारित पत्नी और पति को किसी प्रकार के विरोध या कुनबुनाहट के बिना स्वीकार करते हैं। इसके बाद आनेवाले अनेक समाजों में भी यही स्थिति रहती है। भारत में अभी हाल ही तक भावी पति और पत्नी विवाह की एक रस्म के समय ही एक दूसरे को पहली बार देखते थे (कई मामलों में अब भी ऐसा ही होता है)। इस पर आश्चर्यचकित यूरोपीय लोगों को सगर्व उत्तर दिया जाता था: "आप लोग पहले प्रेम करते हैं, फिर विवाह। हम भारतीय पहले विवाह करते हैं, फिर प्रेम।" भारत में प्राचीन काल में ही विकसित कामकला—आत्मिक और दैहिक प्रेम की परिष्कृत संस्कृति—से ही विवाह से पहले अपरिचित पति-पत्नी की स्थिति आसान होती है, उन्हें वास्तव में एक दूसरे से प्रेम करने में मदद मिलती है।

सुविदित है कि सुखमय प्रेम से काव्य-प्रेरणा विरले ही मिलती है। संसार भर के कवि दुखमय प्रेम की ओर ही कहीं अधिक ध्यान देते हैं। किंतु क्या इसका यह अर्थ है कि प्रेम में लोग सौभाग्यशाली कम और अभागे ही अधिक होते हैं? साहित्य के आंकड़ों के आधार पर वास्तविक जीवन के आंकड़ों का अनुमान लगाना खतरनाक है।

ऐसी असाधारण घटनाएं ही कला के लिए विशेष ध्यान की वस्तु बनती हैं, जो मानव-प्रकृति की व्यापकता और विविधता को दर्शाती हैं। हम कहते हैं: वे रोमियो और जूलियट की भांति एक दूसरे से प्रेम करते हैं। किंतु १६वीं—१७वीं शतियों के संधिकाल में शेक्सपियर द्वारा चित्रित किये जाने के पश्चात ही प्रेमियों के इन बिंबों ने लोगों के जीवन में स्थान पाया।

प्रत्येक समाज की संस्कृति एक व्यवस्था है, जिसके अंश परस्पर संबंधित होते हैं, और साथ ही निश्चित हद तक स्वतंत्र भी होते हैं। प्रत्येक ठोस संस्कृति की एक कुंजी यह है कि उसमें प्रेम का क्या स्थान है और उसके प्रति रुख कैसा है।

ऐसे प्रेम की खुशियां भी लोगों को कम नहीं मिलतीं, जो विरह और वेदना से अत्यधिक त्रस्त नहीं होता। हमारे विचार में, चेकोस्लोवाकियाई लेखक कारेल चापेक ने 'वेरोना के प्रेमियों' की कथा का नया अंत अकारण ही नहीं लिखा है।

उनकी कहानी में फ़ादर इप्पोलिट, जो लड़कपन में फ़ादर लॉरेंस का (शेक्सपियर के नाटक में वह रोमियो और जूलियट का विवाह कराता है) सेवक रहा था, एक अंग्रेज़ यात्री को बताता है कि वास्तव में क्या हुआ था:

"वास्तव में तो रोमियो मेंटुआ भाग गया था और वेचारी जूलियट ने इसके दुख में थोड़ा ज़हर खा लिया था। लेकिन, श्रीमान, उनके बीच वस वालसुलभ लगाव ही था, और कुछ नहीं। आप चाहते भी क्या हैं, जूलियट तो पंद्रह बरस की भी नहीं हुई थी। ..."

वाद में जूलियट को काउंट पेरिस से (नाटक में रोमियो उसकी हत्या करता है) प्रेम हो जाता है और उनका विवाह होता है।

"फ़ादर इप्पोलिट हंस पड़ा: 'दो युवा जीवनों का ऐसा अंत हो, इसमें भला क्या अच्छी वात है, मेरी तो समझ में नहीं आता। ... मुझसे पूछिये तो कहीं अच्छी बात यह रही कि जूलियट का विवाह हो गया और उसने आठ वच्चों को जन्म दिया, वच्चे भी कितने प्यारे, हे भगवान!'"

चापेक के इस व्यावहारिक और विनोदमय चरित्र से एक वात में हम अवश्य सहमत हो सकते हैं: "सच्चा प्रेम? यदि स्त्री-पुरुष एक दूसरे में निष्ठा और एक दूसरे से तारतम्य बनाये रखकर जीवन भर साथ निभा सकें, तभी, मैं कहूंगा, उनमें सच्चा प्यार है।"

हमें विश्वास है कि प्रेम के प्रति रुखों में सारी विविधता के वावजूद इस निष्कर्ष से प्राचीन रोमवासी, मध्ययुगीन ईरानी या उज़्वेक और हमारे समसामयिक कज़ाख, रूसी, आयरिश, भारतीय, कीनियाई – सभी सहमत होंगे।

प्रेम "समाज का शत्रु" भी रहा है, "जीवन में पेचीदगियां" भी लाता रहा है। आस्ट्रेलिया के मूलनिवासियों में विवाह-वर्गों की कड़ी प्रणाली यह निर्धारित करती है कि कौन किससे विवाह कर सकता है। इसके साथ ही क़बीले चूंकि अल्पसंख्यक हैं, सो वधुओं की संख्या अधिक नहीं होती है, और इनमें भी सबसे अधिक आकर्षक स्त्रियां वहुधा सर्वश्रेष्ठ आखेटकों और योद्धाओं को, परिपक्व एवं अनुभवी लोगों को दूसरी, तीसरी पत्नी के रूप में मिलती हैं।

किंतु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रेम विवाह संवंधी किन्हीं सीमाओं

की, दृढ़ प्रथाओं की परवाह नहीं करता। युवक-युवती अपना क़बीला छोड़कर भागते हैं, हालांकि उनकी मृत्यु प्रायः निश्चित है, क्योंकि उनके क़बीले के लोग उनका पीछा करेंगे और दूसरे पड़ोसी क़बीलों के लोग भी– उनके यहां भी तो ऐसे "विवाह-वर्ग" हैं और उनके लिए भी ये भगोड़े अधर्मी और पापी हैं। गोत्र-समाज के नियम कठोर हैं, यही नहीं, समाज के सदस्य इन्हें बाहर से किसी सत्ता द्वारा थोपे गये नहीं, बल्कि स्वाभाविक नियम मानते हैं। इन नियमों का उल्लंघन करना सर्वप्रथम उन आंतरिक वर्जनाओं के कारण कठिन होता है, जो ऐसे समाज में पले हर व्यक्ति के मन में बनी होती हैं, उसके संकल्प को जकड़ती हैं। लेकिन फिर भी उल्लंघन करनेवाले निकल ही आते हैं।

प्रेम के बारे में अकारण ही नहीं कहा गया है कि वह "मृत्यु की भांति सर्वशक्तिशाली है"।

सवाल यह उठता है: क्या यह अच्छी बात है या बुरी कि प्रेम के कारण वे नियम भंग किये जाते थे, जो आज हमें कितने भी क्रूर क्यों न लगें, गोत्र-समाज का अस्तित्व सुनिश्चित करते थे, निकट संबंधियों में विवाह न होने देकर उसे ह्रासोन्मुख होने से तथा स्त्रियों को लेकर परस्पर कलह से बचाते थे?

बात यह है कि इन नियमों का उल्लंघन बहुत विरले ही होता था, क्योंकि विरले ही कभी सर्वस्व न्योछावर करने को तत्पर प्रेम होता था। ऐसे नियमों के विरले उल्लंघन तो, अंततोगत्वा, मानव-समुदायों के लिए हितकर ही थे। यदि गोत्र-समाज की स्थिरता एकदम पत्थर सरीखी दृढ़ और निश्चल होती, यदि सदा और सभी परिस्थितियों में लोग उसकी प्रथाओं की सत्ता द्वारा शासित होते, तो उसमें किसी प्रकार का कोई विकास न हुआ होता। नयी सामाजिक परिस्थितियां जन्म लेतीं इसके लिए यह आवश्यक था कि पुरानी परिस्थितियों पर संदेह किया जाने लगता। प्राचीन मानकों का उल्लंघन नये मानकों के उद्भव का पूर्वसूचक था।

हम यह भी इंगित किये बिना नहीं रह सकते कि प्रेम पड़ोसी जनगण में कलह के ही नहीं, सुलह के भी बीज बोता था। शत्रु गोत्रों में समझौते होते थे कि वे एक दूसरे की स्त्रियों से विवाह करेंगे। पराजित जनगण की स्त्रियां विजेताओं की पत्नियां बनती थीं।

शेक्सपियर के नायकों डेस्डेमोना और ओथेलो का, अलग-अलग नस्लों के प्रतिनिधियों का प्रेम, विभिन्न धर्मों और सामाजिक श्रेणियों के लोगों के प्रेम की

ही भांति वारंवार लोगों की समानता की पुष्टि करता था और मानवजाति की भावी एकता की भविष्यवाणी करता था।

यदि हम अपने देश सोवियत संघ को लें, तो आजकल यहां विभिन्न जातियों के परस्पर निकट आने का एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण चिह्न यह है कि हमारे यहां अंतरजातीय विवाहों की संख्या निरंतर बढ़ रही है। हालांकि अभी भी कहीं-कहीं ऐसे प्रणय-सूत्र में बंधनेवाले युवक-युवती को पुरानी रूढ़ियों से जूझना, नाते-रिश्तेदारों के विरोध का सामना करना पड़ता है।

समाज को अपने विकास की सभी अवस्थाओं में यौनाकर्षण को ध्यान में रखना पड़ा है: वह इस आकर्षण को सीमाओं में बांधता था, जीवन-साथी के चयन की संभावनाएं सीमित करता था, स्त्री-पुरुष के संसर्ग के लिए समय निर्धारित करता था (उदाहरणतः, आखेट-ऋतुओं के बीच का समय, या किन्हीं व्रतों, आदि के बीच की अवधि)। अंततोगत्वा ऐसे प्रतिबंध उत्पादन के हित में, अर्थात व्यावहारिक उद्देश्य से लगाये जाते थे।

उत्पादन, धर्म और रहन-सहन – समाज के जीवन के इन सभी क्षेत्रों का नियमन करनेवाला संगठन गोत्र, नियमतः, बहिर्विवाही था, दूसरे शब्दों में, गोत्र के भीतर (या बिरादरी के कुछ गोत्रों की सीमाओं में) विवाह वर्जित था। ठोस युग्म परिवार मात्र स्त्री और पुरुष का नहीं, बल्कि दो अलग-अलग गोत्रों के लोगों का सहबंध होते थे। यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि गोत्र-समाज में बालकों और बालिकाओं के लालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा की पद्धतियों में बहुत अंतर होता था। सो, ऐसा सोचना सर्वथा अनुचित होगा कि आदिम परिवार आंतरिक टकरावों से मुक्त था और उसका जीवन सीधा-सरल था। इसका प्रमाण ओस्ट्रेलिया के मूलनिवासियों, दक्षिणी अमरीका के रेड इंडियनों और पपुआ, आदि क़बीलों के रहन-सहन के अध्ययन से मिलता है।

मात्र जैविक नहीं, अपितु एक सामाजिक भावना के नाते यौनाकर्षण मानव-जाति के सारे लंबे इतिहास के दौरान बदलता रहा है। सभी युगों में इस भावना की, वह चाहे कितनी भी बदली क्यों न हो, चयनशीलता मानव-वंश के कुछ प्रतिनिधियों के लिए जीना दूभर करती रही है, लेकिन कुल जमा इस वंश को उसने सुधारा है, उसके प्रतिनिधियों के जीवन को आकर्षक बनाया है। लोगों को तब इस बात की समझ नहीं भी हो सकती थी कि कोई निश्चित पिता और माता एक दूसरे से प्रेम करें, मिलकर अपने बच्चों से स्नेह करें और उनका लालन-पालन करें –

यह बात समाज के लिए कितनी हितकर है, किंतु इतिहास उन समाजों को ही अधिक शक्तिशाली बनाता था, जहां यह बात आम थी, जहां परिवार प्रेम पर आधारित होता था।

प्रकृति से हमें प्रेम बीजरूप में ही मिला। संतानोत्पत्ति की नैसर्गिक वृत्ति को संस्कृति ने ही उदात्तता प्रदान की, प्रेम-भावना बनकर यह वृत्ति संस्कृति और मानवजाति की सेवा करने लग गयी। प्रेम की यह भावना, जिसे मानवजाति ने पीड़ा और कष्ट सहते हुए विकसित किया, संस्कृति के विकास का एक सशक्त उत्तोलक बन गयी और स्वयं संस्कृति की एक आश्चर्यजनक परिघटना भी, जिसकी ओर कला अन्य किसी भी परिघटना से अधिक ध्यान देती है।

मानव पर संस्कृति का सुप्रभाव प्रेम में विशेषतः स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, उस भावना में, जिसका अंतिम ध्येय मानव-वंश को जारी रखना ही है। जिस भावना को लेकर संसार भर में काव्य और महाकाव्य रचे गये हैं, उसमें तथा शरीरक्रियात्मक आवश्यकता की पूर्ति मात्र में उतनी भी समानता नहीं है, जितनी कि राकेट और पाषाण युग की कुल्हाड़ी में है।

मनोविज्ञानियों का कहना है: "माता-पिता के वैवाहिक संबंध और बच्चों के प्रति उनका रुख मनुष्य के, यहां तक कि उसके वंशजों के भी आगे के भावनात्मक जीवन के प्रमुख प्राथमिक कारक बनते हैं।"

आजकल तो संसार में एकविवाह प्रथा ही प्रमुख है, किंतु इससे पहले विवाह के दूसरे रूप भी प्रचलित रहे हैं। पिछले वर्षों में हुई पुरातत्वीय खुदाई से यह पता चलता है कि युग्म परिवार दसियों हज़ार साल पहले ही बन गया था। दक्षिणी यूरोप के तत्कालीन निवासी जो लंबे मकान बनाते थे, उनमें भीतरी "रिहायशी कोठरियां" भी थीं, जिनका उपयोग, स्पष्टतः, अलग-अलग परिवार करते थे। ऐसे परिवार का नाभिक स्त्री-पुरुष का युग्म ही था; वैसे, यह परिवार अपेक्षाकृत अल्पजीवी रहा। संसार में बहुपत्नीत्व का भी प्रचलन रहा और बहुपतित्व का भी; पूर्वोक्त प्रथा आज भी कतिपय अफ़्रीकी और एशियाई जनगण में पायी जाती है, जबकि अंतोक्त नेपाल और भारत के कुछ क़बीलों में।

एक समय था जब किसी के सामने यह प्रश्न नहीं उठता था कि वह विवाह करे या न करे। गोत्र-समाज में "कुंवारा पुरुष" या "अनब्याही स्त्री" अत्यंत असाधारण बात थी।

ऐसा हो भी कैसे सकता था? नियमतः, युवतियों के लिए बचपन से ही यह

तय होता था कि अमुक पुरुषों से, या कम से कम अमुक समूह के पुरुषों से उनका विवाह होगा। वयस्क या विवाहयोग्य आयु को प्राप्त होते ही युवतियों को प्रथा का पालन करते हुए विवाह करना होता था, प्रथाओं की अभिव्यक्ति प्रायः माता-पिता अथवा गोत्र-मुखियाओं की इच्छा के रूप में होती थी। ऐसा भी होता था कि युवती उन पुरुषों में से, जिन्हें उससे विवाह करने का अधिकार होता, स्वयं अपना वर चुन सकती थी, किंतु यह चयन वह स्थगित नहीं कर सकती थी।

सभी क़बीलों में पुरुषों की संख्या, नियमतः, स्त्रियों से कम होती थी– योद्धा और आखेटक ही मृत्यु का ग्रास अधिक बनते थे। किंतु इस समस्या का भी सीधा-सादा हल ढूंढ़ लिया गया था: कुछ पुरुषों की दो या दो से भी अधिक पत्नियां होती थीं। कोई भी स्त्री अविवाहित नहीं रहनी चाहिए, क्योंकि स्त्री से ही परिवार बनता है, गृहस्थी बसती है, वह गृह-देवी है।

अब एक और बात की ओर ध्यान दीजिये। गोत्र-समाज में स्त्री या पुरुष का चाहे किसी से भी विवाह होता, उनके संभाव्य पति और पत्नियां एक दूसरे से अपने स्वभाव और निजी गुणों की दृष्टि से ही भिन्न होते थे, समाज में उनके प्रकार्यों में भेद प्रायः नगण्य ही होता था।

जीवन-साथी के चयन का अवसर न होना या इस चयन का बहुत ही सीमित होना इस बात की ही एक अभिव्यक्ति था कि गोत्र-समाज में व्यक्ति स्वयं अपना जीवन-पथ चुनने के वास्तविक अवसर से वंचित होता था। उसके लिए जीवन-पथ कड़ाई से निर्धारित होता था।

किसी सामंतवादी देश में किसानों के लिए जीवन-पथ के चयन की संभावनाएं अधिक व्यापक थीं। किंतु चूंकि किसान को किसान ही बने रहना होता था, सो सामाजिक परिस्थितियां उसे इस बात के लिए विवश करती थीं कि वह अपने लिए ऐसी पत्नी चुने, जो घर-गृहस्थी के तत्संबंधी दायित्व निभा सके। स्त्री का विवाह किसी भी किसान से क्यों न होता, उसकी ज़िम्मेदारियों का दायरा प्रायः एक-सा ही होता था।

श्रेणियों में विभाजित समाज में भी पति-पत्नी के चयन की संभावनाएं अधिक नहीं थीं, यहां भी उन लोगों का दायरा सीमित था, जिनमें से स्त्री-पुरुष के लिए पति-पत्नी का चयन हो सकता था और एक परिवार में जीवन का ढंग दूसरे परिवार के जीवन के तौर-तरीक़े से खास भिन्न नहीं होता था।

सो, यह अकारण ही नहीं कि अनेक समाजों के इतिहास में विवाह और प्रेम एक प्रकार से परस्पर संबंधित नहीं रहे थे।

प्राचीन यूनानी कवि अपनी कविताएं नियमतः अपनी पत्नियों को और वधुओं को भी नहीं, बल्कि गणिकाओं को समर्पित करते थे।

पश्चिमी यूरोप में रोमानी प्रेम की लहर मध्य युग में ही आयी। मुख्यतः निष्काम प्रेम के ही गीत गाये जाते थे और वे प्रायः पड़ोसी नाइट या बड़े सामंत की पत्नी को संबोधित होते थे, जिसके बारे में प्रेमी पहले से जानता था कि वह अलभ्य है।

उल्लेखनीय है कि सामंतवादी बेड़ियों के विरुद्ध विद्रोह कर रहे नवोदित, क्रांतिकारी बुर्जुआ वर्ग ने ही उस पारस्परिक प्रेम को, जिसकी परिणति वैध विवाह में हो, आदर्श घोषित किया। अनेक श्रेणीगत बंधनों और रूढ़ियों को तोड़कर उदीयमान पूंजीवाद ने व्यक्ति की मुक्ति और विकास की दिशा में अगला महत्वपूर्ण क़दम भरने में समाज की सहायता की। यह सच है कि उसने तुरंत ही सामंती बेड़ियों के स्थान पर व्यक्ति पर दूसरी बेड़ियां डाल दीं, जो इतनी स्पष्टतः दृष्टिगोचर नहीं थीं। समाज में अब हज़ारों धंधे, सहस्रों व्यवसाय हो गये, प्रथाएं सर्वशक्तिशाली नहीं रहीं, सो, परिवार की नैतिकता भी बदल गयी। इस नैतिकता में प्रेम को विवाह के लिए महत्वपूर्ण माना जाने लगा। यह बात अलग है कि बुर्जुआ समाज में विवाह पाखंडतापूर्ण है, वह तथाकथित आर्थिक दायित्वों के साथ बुरी तरह जुड़ा हुआ है। वस्तुतः वह स्त्री और पुरुष का समानाधिकारपूर्ण सहबंध नहीं है। बुर्जुआ परिवार के बारे में एंगेल्स ने लिखा है: "आधुनिक वैयक्तिक परिवार नारी की खुली या छिपी हुई घरेलू दासता पर आधारित है।... आज अधिकतर परिवारों में, कम से कम मिल्की वर्गों में, पुरुष को जीविका कमानी पड़ती है और परिवार का पेट पालना पड़ता है, और इससे परिवार के अंदर उसका आधिपत्य क़ायम हो जाता है...।"

बुर्जुआ जगत में स्त्रियों को आर्थिक और राजनीतिक अधिकार पाने के लिए उग्र सामाजिक और राजनीतिक संघर्ष करना पड़ा है और करना पड़ रहा है।

ज्ञान और कौशल

वह क्या चीज है जिसकी बदौलत मनुष्य प्रकृति के साथ सामंजस्य बनाये रखते हुए जी सकता है? हमारी सबसे अधिक मूल्यवान "पूंजी" क्या है? उत्तर एक ही है – लोगों का ज्ञान और कौशल। अनगिनत पीढ़ियों का अनुभव ही मानव-जाति के काम आता है – वह अनुभव जिसे पाने के लिए इतने प्राणों की आहुति दी गयी।

रूसी चित्रकार कुज़्मा पेत्रोव-वोद्किन ने अपनी आत्मकथा में लिखा है: "बचपन से ही मुझे किसानों की इस योग्यता पर आश्चर्य होता था कि दिन-रात के छोटे-से-छोटे काल-खंडों तक का उन्हें अहसास रहता है और वे समय का दूरी के साथ, अपनी गतियों के साथ सही-सही संबंध बिठा लेते हैं। ऋतुओं के अनुसार समय की अनुभूति बदलती थी और सदा सटीक बनी रहती थी।... सूर्योदय और सूर्यास्त कैसा है, कोहरे और बादलों का रूप कैसा है, पाले से खिड़की पर नमी कैसे जमी है, चूल्हे में लपटें कैसे उठ रही हैं, ख़मीर के साथ गुंधा आटा कैसे फूल रहा है – ऐसी भांति-भांति की असंख्य बातें किसानों को प्रकृति में होने जा रही छोटी-बड़ी घटनाओं के बारे में बताती थीं।"

प्रकृति के साथ संसर्ग का अनुभव, प्रकृति की भाषा का ज्ञान और धरती की अनुभूति – यह सब हर नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ियों से पाती आयी है।

ज्ञान शिक्षा से पाया जाता है। कौशल दूसरों के अनुकरण से ग्रहण किया जाता है। कर्मठता चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया में विकसित की जाती है।

वह प्रमुख समय, जब मनुष्य शिक्षा पाता है, कौशल ग्रहण करता है, चरित्र के गुण विकसित करता है – बचपन ही है।

संसार की सबसे पुरानी और चिरनूतन, जटिलतम समस्या है चरित्र-निर्माण! मां की गोद में खेलते निर्बोध बच्चे को अपने परिवार, समाज और मानवजाति का योग्य सदस्य कैसे बनाया जाये?

एक ज़माना था ...

आदिम सामुदायिक व्यवस्था का इतिहास, जैसाकि हम कई बार इंगित कर चुके हैं, करोड़ों नहीं, तो लाखों वर्ष लंबा अवश्य था। जिसे हम सभ्य युग कहते हैं, इससे इसकी तुलना की जाये, तो यह कल्पनातीत लंबा इतिहास है। सभ्य समाज का उदय हुए तो दस हज़ार वर्ष भी नहीं बीते हैं। उन लोगों का इतिहास कहीं अधिक लंबा है, जो "अमीर" और "ग़रीब", "दास" और "स्वामी", "मालिक" और "नौकर" – इन धारणाओं से अनभिज्ञ थे।

आदिम समाज में शिक्षा-दीक्षा और चरित्र-निर्माण का कार्य कैसे होता था? पहली नज़र में (अर्थात आदिम अवस्था में स्थित क़बीलों के साथ संपर्क में आये यात्रियों की नज़र में) ऐसा कार्य, "सभ्य समाज" के मापदंडों के अनुसार, प्रायः होता ही नहीं। बच्चों को सज़ा नहीं दी जाती। वे जो चाहें कर सकते हैं, बिल्कुल छोटी उम्र में तो अवश्य ही ऐसा है। बच्चों पर कोई रोक-टोक नहीं है, यहां तक कि माता-पिता बच्चों को सागरतटीय ऊंचे कगार के ऐन सिरे पर ख़तरनाक खेल खेलने देते हैं, हालांकि इसमें कोई संदेह नहीं कि इन माता-पिता को भी अपने बच्चे प्यारे हैं। दक्षिणी अर्जेंटाइना के मपुचे नामक रेड इंडियन क़बीले में साल भर का बच्चा माता-पिता को चपतें मारता जाता है, लेकिन उसे कोई रोकता नहीं। चार साल की उम्र में उसके सभी नाज़-नख़रे उठाये जाते हैं, यहां तक कि यदि वह कहे झोंपड़ा नयी जगह बनाओ, तो मां-बाप नयी जगह झोंपड़ा बन लेंगे। लेकिन सात वर्ष का होते न होते वह बड़ा कर्मठ और ईमानदार श्रमिक बन जाता है। उत्तरी अमरीका के अनेक "जंगली" रेड इंडियनों में माता-पिता कभी बच्चों को पीटते नहीं, उन्हें डांटते-डपटते तक नहीं।

पॉलीनीशिया, केंद्रीय अफ़्रीका, मडागास्कर, आदि अन्य स्थानों पर भी, जहां आदिम समाज बना हुआ था, बच्चों को सज़ा नहीं दी जाती थी।

रेड इंडियनों के बारे में यह सोचा जा सकता है कि वे प्राचीन भारत की इस सूक्ति पर अमल करते थे: पांच वर्ष तक बेटे को राजा मानो, पंद्रह वर्ष तक सेवक और पंद्रह वर्ष से बड़ा हो जाने पर उससे आप-बराबरी का बर्ताव करो। लेकिन रेड इंडियनों के समाज में न राजा थे, न सेवक – वहां सभी समान थे।

क़बीले के सदस्यों की समानता मात्र ही आदिम शिक्षा-दीक्षा और चरित्र-निर्माण को सफल नहीं बनाती। समुदाय के सभी सदस्य यह अनुभव करते हैं

कि वे घनिष्ठतम रूप से सारे समुदाय से जुड़े हुए हैं। यहां गोत्र, उसके नियम और प्रथाएं ही सर्वोपरि हैं, इन्हें अगली पीढ़ियों तक पहुंचाना है और यही शिक्षा-दीक्षा का कार्यभार है।

आदिम शिक्षा-दीक्षा के सिद्धांत क्या थे?

एक निश्चित आयु का हो जाने पर बच्चे को कुछ दायित्व सौंपे जाते थे, जिन्हें निभाने से वह इंकार नहीं कर सकता था। वह समुदाय का अभिन्न अंग होता था, ऐसे छोटे-से समुदाय का, जहां कोई भी और कुछ भी दूसरों की नज़रों से छिपा नहीं होता। बच्चा जानता ही नहीं, महसूस भी करता था कि उसे जो कुछ करना है, वह न करना अकल्पनीय है।

वयस्क आपस में झगड़ते नहीं थे, और बच्चे भी लड़ते-झगड़ते नहीं थे। पौरुष और बल का प्रदर्शन वे आखेट और खेलों में करते थे। खेल इस तरह के होते थे: जलते अलाव में से लड़के अंगारे उठाते और खुली हथेली पर रखते। जो अधिक देर तक आंच सह लेता, वही जीतता। वय:संधि काल में प्रत्येक तरुण को और वहुत-से स्थानों पर तरुणियों को भी ऐसी कठोर परीक्षाओं से गुज़रना होता था, जिनके सामने अंगारों का खेल मनबहलाव ही था। ये "वयस्कता की परीक्षाएं" एक प्रकार का दीक्षा-संस्कार थीं।

परीक्षार्थी को भूखा-प्यासा रखा जाता था, उसे आहार पाने का कौशल दिखाना होता था और पीड़ा सहने की अपनी क्षमता भी।

हर बच्चा जानता था कि उसे ऐसी परीक्षा देनी होगी और वह उसके लिए अपने को तैयार करता था। ऐसी परीक्षा में असफलता भयावह थी। असफल व्यक्ति को जीवन भर बच्चों या औरतों के कपड़े पहनने होते थे, उसे क़बीले की सभा में अपना मत व्यक्त करने का अधिकार नहीं मिलता था।

युवतियों की सभी स्थानों पर ऐसी परीक्षा नहीं ली जाती थी, लेकिन उन्हें दूसरी परीक्षाओं से गुज़रना होता था, जो कम कठोर नहीं होती थीं।

दीक्षा-संस्कार की तैयारी के दिनों में क़बीले के जीवन-नियम पूरी तरह आत्मसात किये जाते थे, प्रथाओं का अडिग पालन करने और गोत्रीय वर्जनाओं को मानने की आदत पक्की होती थी।

संस्कृति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि छोटी उम्र में ही श्रम का अभ्यास चरित्र-निर्माण के लिए नितांत महत्वपूर्ण है। पॉलीनीशिया में तीन वर्ष की आयु से और साइबेरिया में पांच वर्ष की आयु से बच्चा बड़ों के काम में

हाथ बंटाने लगता था और दस-बारह वर्ष का होते न होते वह सभी प्रमुख कार्य बखूबी करना सीख लेता था। रूसी नृजातिविज्ञानी और क्रांतिकारी लेव श्तेर्नबर्ग ने इस शती के आरंभ में लिखा था: "... दस-बारह वर्षीय गिलाह किशोर सामान्यत: accomplished gentleman (पूर्ण भद्रपुरुष) होता है। वह अपने गोत्र की जीवन-चर्या के सभी कामों की विधियां सीख चुका होता है, वह धनुर्धर, मछेरा, खेवैया, इत्यादि ही नहीं होता, वह सभी के जैसा श्रमिक भी होता है। यही नहीं, सारे आत्मिक ज्ञान के बड़े अंश को भी वह आत्मसात कर चुका होता है, वह व्यवहार से गोत्र की सभी प्रथाएं जान गया होता है, सारे रक्त-संबंधों का उसे ज्ञान होता है, वह अपने क़बीले की किंवदंतियां, लोककथाएं और गीत जानता है, और इस सबके साथ ही साथ उसे लोगों का वह ज्ञान भी प्राप्त होता है, जो यात्राओं में, आखेट और मछली पकड़ते समय, उत्सवों-पर्वों में, सदा बड़ों के बीच रहने से मिलता है। इसी से उसमें आत्म-सम्मान की भावना बनती है, उसके आचार-व्यवहार में गरिमा आती है। ..."

कभी-कभी ऐसे विवरणों को देखकर यह निष्कर्ष निकाल लिया जाता है कि गोत्र-समाजों में लड़के-लड़कियां बहुत जल्दी ही आत्मनिर्भर और स्वतंत्र हो जाते हैं, वे स्वयं अपने किये के लिए उत्तरदायी होते हैं, माता-पिता से अलग रह सकते हैं, इत्यादि। किंतु यह निष्कर्ष सही नहीं है। वह नेनेत्स, या पॉलीनीशियाई, या बोर्नेओ द्वीप का दयाक, जिसका ज्ञान और कौशल इतना व्यापक होता है, अनेक वर्ष बाद ही अपने समुदाय का पूर्णाधिकार-संपन्न सदस्य माना जायेगा। उसका दीक्षा-संस्कार होगा, उसके पश्चात ही वह वयस्क बनेगा और इतना स्वतंत्र, जितना कि गोत्र-समाज में कोई व्यक्ति हो सकता है, उसे क़बीले की सभाओं में अपना मत व्यक्त करने का अधिकार मिलेगा (इसके भी बहुत बाद तक वह इस अधिकार का उपयोग नहीं करेगा – उसे अनुभव पाना होगा, यह प्रमाणित करना होगा कि उसकी राय में वज़न है)।

... फिर समस्या उठी

उत्पादक शक्तियों के विकास के फलस्वरूप जब वर्गीय विस्तरीकरण और फिर राज्य का उद्‌भव हुआ, तब पुराने, सशक्त गोत्र के साथ-साथ गोत्रीय लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा भी अतीत के गर्भ में समा गये।

उसका स्थान किसने लिया? प्राचीन मिस्र के पैपाइरसों में, वावुल के मृत्तिका फलकों में, सुकरात की वार्ताओं में, मध्ययुगीन चर्मपत्रों में और नूतन युग के मुद्रित पृष्ठों पर — सर्वत्र एक ही शिकायत मिलती है। वच्चे विगड़ गये हैं, नौ-जवान बड़ों का आदर नहीं करते, मेहनत नहीं करना चाहते।

मेसोपोटामिया के एक प्राचीन निवासी ने सैंतीस सौ साल पहले अपने पुत्र के नाम पत्र लिखा। ठप्पों से मृत्तिका फलकों पर कीलाक्षर बनाये गये, फिर फलकों को आग में तपाया गया और कटुता एवं आक्रोश भरे, वेदनामय और वात्सल्यसिक्त शब्दों की सदियों लंवी उड़ान शुरू हुई।

"तुम, जो चहल-पहल भरे चौकों में निरुद्देश्य भटकते रहते हो, क्या तुम सफलता पाना चाहते हो? तो फिर उन पीढ़ियों पर दृष्टिपात करो, जो तुम्हारे से पहले हुई हैं।... विद्यालय में जाओ, इससे तुम्हारा कल्याण होगा। वत्स, पूर्ववर्ती पीढ़ियों पर दृष्टि दौड़ाओ, उनसे उत्तर मांगो। तुमने मेरा हृदय विदीर्ण कर दिया है।... तुम्हारा आचरण मानवोचित नहीं है, तुम्हारा यह व्यवहार मेरे हृदय को लू की भांति झुलसा रहा है। तुम्हारी वड़वड़ाहट ने मुझे हताशा के छोर पर पहुंचा दिया है, मुझे मृत्यु के कगार पर खड़ा कर दिया है।... तुम जैसे दूसरे काम करते हैं, माता-पिता का अवलंव हैं। तुम तो अपने हठ में ही पुरुष हो, अन्यथा पुरुषों की तुलना में तुम पुरुष नहीं हो।..."

सो, युवाजन माता-पिता का आदर नहीं करते? मेहनत नहीं करना चाहते?

"यदि बच्चों से ज़बरदस्ती काम न कराया जाये, तो वे न पढ़ना-लिखना सीखेंगे, न संगीत और व्यायाम की शिक्षा पायेंगे और न ही उनमें लज्जा पनपेगी, जो सदाचार के लिए सवसे अधिक आवश्यक है," यूनानी दार्शनिक डेमोक्राइटस ने लिखा, "लोग अपनी प्रकृति से इतना नहीं, जितना कि अभ्यास से उदात्त बनते हैं।"

ऐसे नियमों के अनुसार पले वच्चे वड़े होकर अपने पिताओं जैसे ही वनते थे और उन्हें भी इस वात में पूरा विश्वास होता था कि वल और दंड से ही शिशु को सच्चा मनुष्य बनाया जा सकता है। इस नियम के अनुसार: "हमारी भी पिटाई होती थी, हम तो अच्छे आदमी वन गये हैं"। वैसे, यह भी सच है कि प्राचीन युग में ही अनेक मनीषियों ने वच्चों को शारीरिक दंड देने का विरोध किया था। उनकी वातें सामान्यतः वड़े ध्यान से सुनी जाती थीं, लेकिन इस मामले में उनके विचारों का न तो उनके समसामयिकों पर और न ही उनके वंशजों पर

भी कोई विशेष प्रभाव पड़ा। आज भी अपने आपको बड़ा सभ्य माननेवाले देश इंगलैंड में इस बात पर विवाद चल रहा है कि स्कूलों में शारीरिक दंड दिया जा सकता है या नहीं।

अतीत की कुरीतियां भी बड़ी चीमट हैं। उधर, ऐसे शिक्षाशास्त्रियों, जैसे कि चेकोस्लोवाकिया के यान अमोस कोमेन्स्की, स्विट्ज़रलैंड के पेस्तालोज्ज़ी, रूस के उशीन्स्की और पोलैंड के यानुश कोर्चाक, तथा संसार के अन्य जनगण के महान शिक्षाशास्त्रियों ने विश्वासोत्पादक ढंग से यह प्रमाणित कर दिखाया है कि शारीरिक दंड के बिना शिक्षा और चरित्र-निर्माण के परिणाम कहीं अधिक अच्छे होते हैं।

हमारी संस्कृति जिस ज्ञान और कौशल की अपेक्षा करती है, वह बहुत विशाल है, इसलिए आजकल जीवन के पहले १०-१२ वर्षों में बच्चा उसे आत्मसात करने में असमर्थ होता है। लेकिन अतीत से हमें यह अवश्य सीखना चाहिए कि किस प्रकार छोटी उम्र से ही बच्चों को काम में लगाया जाये, और, शायद, बच्चों में कर्मठता एवं अध्यवसाय विकसित करने के कुछ पुराने उपाय भी हमें ग्रहण करने चाहिए।

पिछले वर्षों में एक रोचक ज्ञान-शाखा का गठन हुआ है। यह है नृजातीय शिक्षाशास्त्र। इसका कार्यभार है विभिन्न जनगण द्वारा खोजे गये शिक्षा एवं चरित्र-निर्माण के श्रेष्ठ उपायों, विधियों का अध्ययन करना और उन्हें व्यवहार में प्रयुक्त करना।

संभव है, यह ज्ञान-शाखा "वयस्कता की परीक्षा" के कोई नये रूप सुझाये, जो हमारे जीवन में स्थान पा लें, इच्छाबल, सूझ-बूझ, सहृदयता जैसे गुण तथा व्यावहारिक श्रम-कौशल का विकास करते हुए चरित्र-निर्माण में सहायक हों।

संस्कृति का साधन – विद्यालय

"कल तुमने विद्यालय में क्या किया?" – इस प्रश्न का मोटा-मोटा उत्तर देखिये।

मैंने पहाड़ा याद किया, नाश्ता किया, सुलेख के लिए पट्टी तैयार करके उस पर सुलेख लिखा; फिर मुझे मौखिक काम मिला, दोपहर के भोजन के बाद लिखित काम मिला। पाठ खत्म होने पर मैं घर गया। घर पहुंचा तो वहां पिता जी बैठे थे। मैंने उन्हें लिखित काम के बारे में बताया, फिर पहाड़ा दोहराया।

पिता जी बहुत ख़ुश हुए।

यह उत्तर देनेवाले बालक और आज के स्कूल छात्र के बीच दसियों शताब्दियों की, तीन-चार हज़ार वर्ष की दूरी है! यह बालक दो महान नदियों—दजला और फ़रात—के बीच के मैदान में रहता था। अब यहां इराक़ देश है, तब सुमेर साम्राज्य था।

वहां बहुत कुछ वैसा नहीं था, जैसा अब हमारे यहां है। लेकिन छात्र आजकल की ही भांति कभी मौखिक, तो कभी लिखित अभ्यास करते थे। उनका भी घर का काम (होम-वर्क) जांचा जाता था, उनसे भी पाठों में अध्यापक प्रश्न पूछता था और वे उत्तर देते थे। जब वे अपना काम अच्छी तरह करते थे, तो अध्यापक उन्हें शाबाशी देते थे और उनके पिता ख़ुश होते थे।

लेकिन यदि ऐसा नहीं होता था, तो? अपने उत्तरों, निबंधों में बालक इसके बारे में भी लिखते थे।

बालक स्कूल में देर से पहुंचा—उसे डांट पड़ी। बिल्कुल आजकल की ही भांति। लेकिन इसके बाद... अध्यापक ने देखा कि बालक घर से जो काम करके लाया है, उसमें ग़लतियां हैं। तो क्या उसे "ज़ीरो" मिला? नहीं। अध्यापक ने छात्र की पिटाई की। फिर स्कूल के विशेष निरीक्षक ने भी उसे पीटा, दो बार पीटा: पहली बार इसलिए कि वह कक्षा में अध्यापक की बात ध्यान से नहीं सुन रहा था, दूसरी बार इसलिए कि उसके कपड़े अस्त-व्यस्त थे।

इस दिन चौथी बार लड़के को अध्यापक ने पीटा, क्योंकि उसकी लिखाई साफ़ नहीं थी। घर पर भी बेचारे की शामत आयी ही होगी।

बालक को सज़ा मिलती थी, सख़्त सज़ा। लेकिन वह विद्यालय में पढ़ता था, पहाड़े याद करता था, निबंध लिखता था। सभ्यता के उदय के पूर्व के समाजों में विकसित लिपि और विद्यालय में अध्यापन नहीं होता। समाज तथा उसमें संबंध पर्याप्त सीमा तक जटिल होने पर ही लिपि की आवश्यकता उत्पन्न होती है; साक्षरता का व्यापक प्रसार हो, इसके लिए यह जटिलता और भी अधिक बढ़नी चाहिए। ऊपर हमने जिस बालक की चर्चा की है, वह उन थोड़े-से सौभाग्यशाली सुमेरियों में से था, जिन्हें विद्यालय में प्रवेश मिला।

प्राचीन यूनान में भी, जिससे इतनी समृद्ध आत्मिक धरोहर हमें मिली है, सभी स्वतंत्र नागरिक साक्षर नहीं थे। स्पार्टा में सैनिक शिक्षा और प्रारंभिक संगीत शिक्षा अनिवार्य मानी जाती थी। साक्षरता को विशेष महत्व नहीं दिया जाता था।

एथेंस में (तथा दसियों दूसरे नगर-राज्यों में भी) स्थिति भिन्न थी – वहां विद्यालय थे, जिनमें सात वर्ष की आयु से बच्चे पढ़ने जाते थे। प्राथमिक शिक्षा छह से आठ वर्ष तक चलती थी। इसके बाद किशोर सरकारी जिमनेशियमों में जाते थे। ये एक प्रकार के क्रीड़ा विद्यालय थे – इनके नाम से भी यही पता चलता है। यहां जिम्नास्टिक के अभ्यासों का ध्येय युवकों को कठिन और कठोर सैनिक कार्य के लिए तैयार करना था। किंतु धीरे-धीरे ये जिमनेशियम एक प्रकार के माध्यमिक विद्यालय बन गये। ५वीं शती ई० तक यह रूपांतरण पूरा हो गया। १६वीं–२०वीं शतियों में यूरोप के कई देशों में इन्हीं का अनुकरण करते हुए माध्यमिक विद्यालयों को जिमनेशियम ही कहा जाता था।

प्राचीन यूनान में ही बच्चों को विद्यालय में शिक्षित करने की आवश्यकता का सैद्धांतिक मंडन हुआ था। ऐसा अरस्तू ने किया। उनका कहना था कि जन-कल्याण पाने के लिए पहले समाज के सदस्यों में इस बात की समझ पैदा करनी चाहिए कि यह जन-कल्याण है क्या; समाज इस बात का निर्णय करता है कि जन-कल्याण का अभिप्राय क्या है, सो, उसे शिक्षा-दीक्षा और चरित्र-निर्माण का निरीक्षण करना चाहिए, सामाजिक नियंत्रण होना चाहिए। ऐसा केवल विद्यालयों में ही हो सकता है।

प्राचीन रोम के विद्यालय रोम द्वारा विजित प्रदेशों में रोमन संस्कृति के प्रसार का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन थे। बहुत हद तक उन्हीं की बदौलत यह महान साम्राज्य इतनी सदियों तक बना रहा।

रोम के सभी नन्हे स्वतंत्र नागरिक प्राथमिक विद्यालय में जाते थे। रोमन इतिहासकार टाइटस लीवियस ने इटली के एक छोटे नगर के जीवन का वर्णन करते हुए शिल्पशालाओं के शोर और विद्यालयों में बच्चों के कोलाहल को यहां की विशिष्ट ध्वनियों में गिनाया। विद्यालय को कितना महत्वपूर्ण माना जाता था, इसका पता इस बात से भी चलता है कि ब्रिटेन को जीतकर रोमनों ने तुरंत ही यहां अपने विद्यालय खोले, ऐसा ही उन्होंने पिरेनीज़ प्रायद्वीप के सुदूर पश्चिम में, अफ़्रीका के उत्तर में तथा एशिया के पश्चिम में भी किया।

रोमन साम्राज्य के बाहरी भागों में रोमन संस्कृति स्थानीय विशेषताओं को मिटाती थी। यहां रोमन विद्यालय रोमन सेना से कहीं अधिक बड़ी भूमिका अदा करते थे। विजित क़बीलों के बच्चों को अपने-अपने देश का नहीं, रोम का देशभक्त बनाने की कोशिश की जाती थी।

ऐसी शिक्षा भी अंततोगत्वा साम्राज्य को विघटन से नहीं बचा पायी। किंतु साम्राज्य के बड़े भाग में लोग विघटन के पश्चात भी लैटिन का प्रयोग करते रहे, जो उन्होंने कभी विद्यालय में सीखी थी। यह कहा जा सकता है कि आज जो रोमन भाषा-परिवार (स्पेनी, फ़्रांसीसी, पुर्तगीज़, रूमानियाई, इत्यादि भाषाएं) है, उसका श्रेय बहुत हद तक रोमन विद्यालयों को ही है। पूर्व में – यूनान, एशिया माइनर, सीरिया और मिस्र में – ही, जहां यूनानी विद्यालयों का वर्चस्व था, लैटिन भाषा का प्रचलन नहीं हुआ।

सभ्यता के इतिहास में विद्यालय में दी जानेवाली शिक्षा के महत्व से इंकार नहीं किया जा सकता।

मनुष्य को समाज में जो भूमिका निभानी चाहिए, उसके लिए उसे तैयार करने के महान कार्यभार का दायित्व विद्यालय पर ही आता है। सात, दस, ग्यारह और बारह साल तक (अलग-अलग देशों में अलग-अलग समय तक) आवश्यक और अनिवार्य मानी गयी शिक्षा जारी रहती है।

"मनुष्य को शिक्षा पानी चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य है," प्रख्यात सोवियत शिक्षक वसीली सुखोम्लीन्स्की ने लिखा है।

पिछले दसियों हज़ार वर्ष में मस्तिष्क की क्षमता नहीं बदली है, जबकि जीवन-पथों के चयन की संभावनाएं बिल्कुल दूसरी ही हो गयी हैं। स्कूल की अंतिम कक्षा से हज़ारों, दसियों हज़ार पथ भविष्य की ओर ले जाते हैं।

यह पूछा जा सकता है कि भांवी भूगोलविज्ञानी को रसायन की, भावी खरादी को इतिहास की, भावी इतिहासवेत्ता को त्रिकोणमिति की क्या आवश्यकता है? परंतु इसके विना इस "भावी" को यह कैसे पता चलता कि वह क्या बनना चाहता है, क्या बन सकता है, क्या वनने की उसमें योग्यता है? स्कूल वह न्यूनतम ज्ञान देता है, जो समाज के विकास की निश्चित अवस्था में सभी लोगों के लिए आवश्यक होता है। स्कूल शिक्षा पाना भी सिखाता है और इसकी तो प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यकता है।

मानव-मस्तिष्क का आकार नहीं बदलता है, किंतु ज्ञान-प्राप्ति के उपाय, शिक्षण-विधियां वदलती हैं। आज के छठी कक्षा के छात्र का गणित का ज्ञान देखकर मध्ययुगीन विश्वविद्यालय का प्राध्यापक दंग रह जाता। उधर, १९वीं शती के मध्य में किसी को भी इस वात पर कोई आश्चर्य न होता कि छठी कक्षा के इस छात्र का कोई समवयस्क, जो किसी संपन्न यूरोपीय परिवार में पल

रहा है, तीन-चार या पांच तक विदेशी भाषाएं खूब अच्छी तरह जानता है, जैसेकि लैटिन, प्राचीन यूनानी, अंग्रेज़ी, जर्मन और फ़्रांसीसी।

* * *

शिक्षा-दीक्षा और चरित्र-निर्माण के एक और पहलू की ओर हम ध्यान दिलाना चाहेंगे। इसे हम अध्याय के अंत में भले ही दे रहे हैं, परंतु लालन-पालन में और जीवन में अपनी भूमिका की दृष्टि से इसका स्थान अंतिम नहीं है।

शिक्षा-दीक्षा ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है, किंतु मात्र मनुष्य नहीं। प्रत्येक जनगण के लिए लाक्षणिक सभी आदतें और प्रथाएं, आचार-व्यवहार की सभी नृजातीय विशेषताएं शिक्षा-दीक्षा और चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया में ही व्यक्ति पाता है। अपने लालन-पालन से ही कोई व्यक्ति रूसी बनता है, कोई भारतीय, कोई माउरी, तो कोई पेरुआई। निस्संदेह, प्रत्येक समाज के लिए यह बात बहुत माने रखती है कि बच्चा अपने जनगण का योग्य प्रतिनिधि बने। कुल जमा सारी मानवजाति के लिए भी यह बात माने रखती है, क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उसका सारी मानवजाति के लिए महत्व है।

मानव के लिए विश्राम आवश्यक है

मनुष्य इसीलिए मनुष्य है कि वह श्रम करता है। श्रम के बाद तो अनिवार्यतः विश्राम भी होना चाहिए।

सभी युगों में मानव का श्रम चिंतन-प्रक्रिया के साथ अटूट रूप से जुड़ा रहा है। इसलिए लोगों को शारीरिक विश्राम ही नहीं चाहिए, जोकि स्वतोस्पष्ट है, बल्कि मानसिक विश्राम भी। यह दूसरी बात कभी-कभी इतनी स्पष्टता से नहीं समझी जाती है। मांसपेशियों में तनाव कम होना चाहिए और ध्यान कम से कम कुछ समय के लिए श्रम से जुड़े विचारों से हटकर दूसरे विचारों पर जाना चाहिए।

"काम से हमें कितना भी सुख और संतोष क्यों न मिलता हो, उससे, निस्संदेह, व्यथा भी होती है, वह उदात्त व्यथा, जो हमारी सुप्त ऊर्जा को जागृत करती है," अंग्रेज़ लेखक, कलाकार और वैज्ञानिक विलियम मॉरिस लिखते हैं, "और इस व्यथा की क्षतिपूर्ति ही शारीरिक विश्राम है।... विश्राम का क्षण जब आता है, तो वह इस बात के लिए पर्याप्त लंबा होना चाहिए कि हम विश्राम का आनंद पा सकें, वह काम में व्यय हुई शक्ति को पुनः पाने के लिए आवश्यक समय से अधिक लंबा होना चाहिए। और यह भी शारीरिक विश्राम होना चाहिए, हमें किसी बात की चिंता नहीं होनी चाहिए, अन्यथा हम विश्राम का सुख नहीं भोग सकेंगे। किंतु यदि हमें ऐसा और केवल ऐसा विश्राम प्राप्त होगा, तो हम पशुओं से अधिक दूर नहीं जा पायेंगे।"

अवकाश के लिए संघर्ष

एक कहावत है: "काम के वक़्त काम, आराम के वक़्त आराम"। कहावत बहुत पुरानी है, लेकिन पिछली कुछ शताब्दियों (या, शायद, दशाब्दियों में ही) इसका अर्थ पहले से भिन्न होता गया है। पहले जहां काम और आराम,

दोनों पर समान रूप से ज़ोर दिया जाता था, वहीं अब काम पर ही अधिक ज़ोर है। इसीलिए एक दूसरी कहावत का अधिक प्रचलन हो गया है: "पहले काम, फिर आराम"।

आर्थिक दृष्टि से विकसित देशों में कार्य-सप्ताह की अवधि ४८, ४६, ४१ या ४० घंटे तक सीमित की गयी है। खाली समय व्यतीत करने के, अवकाश-पूर्ति के हज़ारों उपाय खोजे गये हैं, लेकिन साथ ही अवकाश के प्रति कुछ सतर्कतापूर्ण रुख भी पाया जाता है।

"काम सबसे पहले" – प्रायः ऐसा सुनने में आता है। और बहुधा यही माना जाता है कि हम काम करने के लिए ही जीते हैं, जबकि विश्राम काम के लिए अपने को तैयार करने का साधन मात्र ही है। किंतु जीवन के प्रति ऐसा "कामकाजी" रवैया सभी युगों और सभी जनगण में रहा हो – ऐसा नहीं है। यूरोप में इसका प्रसार पुनर्जागरण काल से ही आरंभ हुआ।

उससे पहले तो यहां प्रचलित ईसाई धर्म श्रम को दैवी वर्जना का उल्लंघन करने के कारण मनुष्य को मिले अभिशाप का परिणाम बताता था। आदम और हौवा ने भलाई-बुराई का ज्ञान देनेवाले वृक्ष का सेब चख लिया, सो, उनके वंशजों पर यह शाप है कि वे "खून-पसीना एक करके अपनी रोटी कमायेंगे"। यदि श्रम दैवी अभिशाप है, तो इसका अर्थ है कि विश्राम वरदान है। सो, रविवार का दिन और दूसरे धार्मिक पर्वों के दिन पूजा-पाठ और विश्राम में बिताये जाते थे।

आदिम समाज में (यहां भी हम उसकी चर्चा किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि वहीं से सारे मानव-समाज का इतिहास आरंभ होता है) सभी लोग श्रम और विश्राम, दोनों में समान रुचि रखते थे। किंतु पुरुषों और स्त्रियों का विश्राम भिन्न-भिन्न होता था। आज की ही भांति तब भी अबलाओं और ललनाओं को विश्राम का अवसर पुरुषों की तुलना में कहीं कम मिलता था। किंतु साथ ही स्त्रियों का श्रम पुरुषों के श्रम से कुल जमा अधिक विविधतापूर्ण था। संभव है कि अपने कामों के इस वैविध्य के कारण, दिन भर में कई तरह के काम होने के कारण ही स्त्रियों के लिए विश्राम का कम समय पर्याप्त होता था। लोगों का जीवनयापन जब तक आखेट और कंद-मूल बटोरने पर निर्भर था, तब तक उनकी दिनचर्या भी पूरी तरह प्रकृति से जुड़ी हुई थी। सफल आखेट के बाद लोग विश्राम करते थे, भंडार बनाना उन्हें आता नहीं था और भविष्य के बारे में गंभीरतापूर्वक वे सोच भी नहीं सकते थे। पर्याप्त मात्रा में खाद्य पदार्थ हासिल

करना और उन्हें देर तक बनाये रखना सीख लेने पर ही लोगों को कमोवेश नियमित रूप से विश्राम करने का अवसर मिला।

१८वीं और १९वीं शतियों में ओशियाना द्वीपसमूह पर गये यूरोपीय यात्रियों में कुछ प्रशंसापूर्वक और कुछ तिरस्कार से वहां के लोगों की "निश्चिंतता" और "लपरवाही" की चर्चा करते थे। अतिथियों की नज़र में, उन लोगों को आराम करने का बड़ा शौक़ था। किंतु ध्यान रहे कि यह वुर्जुआ समाज के सदस्यों का दृष्टिकोण था, जो यह मानते थे कि "समय धन है"।

आदिम समाज के बाद जो समाज बने, उनमें कृषक और पशुपालक वर्ष को "व्यस्त" और "शांत" ऋतुओं में बांटते थे। जुताई, फ़सल की बुआई और कटाई के दिन एक हैं, उत्तर में हिमाच्छादित जाड़ा तथा उष्ण कटिबंध में झुलसाती गर्मी या बरसातों के दिनों की बात बिल्कुल दूसरी ही है। श्रम के स्वरूप और प्राकृतिक परिस्थितियों से ही काम और विश्राम के दिन निर्धारित होते थे।

कालांतर में श्रम-विभाजन से ऐसे व्यवसाय भी प्रकट हुए, जिनके लिए ऋतुओं का विशेष महत्व नहीं था। मकान बनाना, खनिजों की खुदाई करना, धातु गलाना, कपड़े सीना, घर-गृहस्थी का सामान बनाना, इत्यादि कार्य तो बारहों महीने करने होते थे। किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इन व्यवसायों के लोगों के लिए अवकाश होता ही नहीं था। वे काफ़ी विवेकपूर्ण ढंग से श्रम और विश्राम का समय निर्धारित करते थे, काम के दिनों और उत्सवों का सिल-सिला बनाते थे। दासस्वामी भी अपने दासों को इंस बात का समय देते थे कि वे अपनी शक्ति पुनः पा सकें और उन्हें उत्सवों में भाग लेने का अवसर भी देते थे।

इस प्रसंग में प्राचीन रोम का सतरनालिया उत्सव उल्लेखनीय है। हर साल कुछ दिनों के लिए रोम गणराज्य "उस काल में लौट जाता था, जब पृथ्वी पर जुपिटर (वृहस्पति) के पिता सैटर्न (शनि) का राज था और जब दास नहीं थे"। इस उत्सव के काल में दास और स्वामी समान होते थे। यही नहीं, प्रथा की यह मांग थी कि इन दिनों में स्वामी दासों की सेवा करें। हर नयी शती के साथ यह प्रथा क्षीण पड़ती गयी थी। बहरहाल, इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि यह प्रथा क्षोभ के "बायलर" को फटने से बचाने के लिए उसमें से भाप निकालने के "वाल्व" का काम न करती होती, यदि दासों को मानसिक और शारीरिक राहत देने का औचित्य न होता, तो इस प्रथा को बहुत शीघ्र

ही मिटा दिया गया होता। धार्मिक पर्वों के अलावा, जिनमें सभी लोग भाग लेते थे, प्राचीन रोम के दस-दिवसीय खंडों में विभाजित मास में प्रत्येक ऐसे खंड में एक दिन छुट्टी का भी होता था, लेकिन यह "पवित्र" दिन नहीं था और इस दिन छुट्टी मनाना स्वतंत्र नागरिकों के लिए भी अनिवार्य नहीं था।

निस्संदेह, विभिन्न युगों में समाज के विभिन्न संस्तरों के लोगों के लिए अवकाश और विश्राम का अर्थ बिल्कुल अलग-अलग था।

अरस्तू के लिए अवकाश जीवन का सर्वोच्च रूप है, अवकाश में ही परमानंद है, वह स्वयं अपने आप में एक ध्येय है, युद्ध जहां शांति पाने के लिए किया जाता है, वहीं अवकाश की कामना स्वयं अवकाश की ख़ातिर ही की जाती है। इस महान दार्शनिक ने राजनीतिक और सैनिक "उदात्त कार्यकलाप" की उसके सौष्ठव और भव्यता के लिए प्रशंसा करना आवश्यक समझा, किंतु साथ ही इस कार्यकलाप में यह कमी भी इंगित की कि वह "अवकाश से वंचित है, सदा किसी निश्चित ध्येय की प्राप्ति की ओर लक्षित होता है, स्वयं अपने आप में ही एक ध्येय नहीं होता..."।

अवकाश से अरस्तू का अभिप्राय केवल विश्राम नहीं, अपितु संसार का अवलोकन, उस पर चिंतन-मनन भी था। यह वह अवकाश था, जिसने मानव-जाति को दर्शन, विज्ञान, लिपिबद्ध साहित्य प्रदान किया। प्राचीन मनीषियों के ऐसे अवकाश का मूल्य दासों का श्रम था।

विश्राम का अधिकार पाने के लिए श्रमिकों का संघर्ष सभ्यता के सारे इतिहास में पाया जाता है। शोषक तो सहर्ष ही श्रमिकों को छुट्टी के दिनों से वंचित कर देते, परंतु इन दिनों की आवश्यकता नैसर्गिक है, जैविक है, सो, ऐसे दिन रखने पड़े। विश्राम के दिनों की आवश्यकता को उचित ठहराने के लिए अलग-अलग आधार रखे गये, जिनमें धार्मिक आधार भी थे। सप्ताह या दस दिन में एक बार लोगों को सांसारिक कार्यों से विमुख होकर आत्मा और परमात्मा में ध्यान लगाना चाहिए। यहूदी और ईसाई धर्मों में सप्ताह में एक दिन छुट्टी मनाने का तर्क यह था कि ईश्वर ने छह दिन तक सृष्टि की रचना की और सातवें दिन आराम किया, सो, मनुष्य को भी, जो ईश्वर की अनुकृति है, ईश्वर का मान करते हुए एक दिन छुट्टी रखनी चाहिए। प्राचीन यहूदियों की ही भांति आज भी इस धर्म के अनुयायी शनिवार को विश्राम करते हैं, इस दिन कोई भी काम करना पाप समझा जाता है। ईसाइयों ने विश्राम के लिए रविवार

का दिन चुना, जब, इस मत के अनुसार, ईसा का पुनरुज्जीवन हुआ। मुसलमान जुमे के रोज़ आराम करते हैं, क्योंकि इस दिन पैग़ंबर मुहम्मद का जन्म हुआ।

धार्मिक पर्वों के दिनों में भी, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, काम करने की मनाही होती थी और ऐसे पर्व सभी धर्मों में अनेक थे। ईसाइयों के विभिन्न संप्रदायों को लें, तो इनमें कैथोलिक संप्रदाय में ही पर्वों की संख्या सबसे अधिक रही है। कुछ देशों में साल भर में सौ से अधिक पर्व होते थे। आर्थोडॉक्स संप्रदाय भी कैथोलिकों से बहुत पीछे नहीं था।

उदीयमान बुर्जुआ वर्ग द्वारा प्रोटेस्टेंट संप्रदाय का प्रवल समर्थन किये जाने का एक कारण यह भी था कि समय के इस अपव्यय को समाप्त किया जा सके, जिससे शिल्पों और विकसित हो रहे उद्योग को क्षति पहुंचती थी।

हम विश्राम कैसे करते हैं

अवकाश की पूर्ति कैसे होती है? लोगों के जीवन की प्राकृतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियां कैसी हैं, वे किस जाति, वर्ग अथवा श्रेणी के हैं, उनका समाज विकास की किस अवस्था में है — ये सभी बातें लोगों के आराम करने के ढंग में प्रतिबिंबित होती हैं। दूसरी ओर, सभी जनगण के ही नहीं, सभी युगों के सभी जानगण के विश्राम में बहुत-सी समानता पायी जाती है। उदाहरणतः, लोग अपने ख़ाली समय का बड़ा भाग सदा नाच-गाने, खेलों और क़िस्से-कहानियां सुनने-सुनाने में व्यतीत करते आये हैं। आस्ट्रेलिया के मूलनिवासी आज भी अवकाश के क्षणों में नृत्य, संगीत और गायन के ऐसे जटिल आयोजन करते हैं, जो ओपेरा की याद दिलाते हैं।

नृत्य और गीत, संगीत और अभिनय तथा अब पुस्तक और सिनेमा भी मानसिक विश्राम के, मनुष्य को उसकी दैनंदिन चिंताओं के दायरे से बाहर ले जाने, उसका नैतिक बल बढ़ाने के परखे हुए साधन हैं।

सोवियत नृजातिविज्ञानी यूरी सीम्चेन्को ने चुकोत्का प्रायद्वीप के चाप्लिनो क़स्बे के क्लब में एक एस्कीमो नृत्य देखा। दर्शकों पर इसके प्रभाव का वर्णन वह इन शब्दों में करते हैं:

"सामूहिक फ़ार्म का मैकेनिक ह्वेल के शिकार का नृत्य प्रस्तुत कर रहा था। नौजवान वादकों की ओर मुंह करके खड़ा हो गया। उन्होंने एक साथ अपनी

डफलियों पर थाप दी और एक लंबी धुन छेड़ी, जिसमें केवल कुछेक ध्वनियां ही थीं। नौजवान दोनों पांव सटाये खड़ा था, टांगें घुटनों पर ज़रा-सी मुड़ी हुई थीं। पीठ उसकी एकदम सीधी थी, कूल्हे थोड़े पीछे को बढ़े हुए थे। कोहनियों पर मुड़ी बांहें ज़रा फैली हुई थीं, हाथ ऊपर को उठे हुए थे।

"मेरे बग़ल में बैठे एस्कीमो ने दबे स्वर में मुझे इस मुद्रा का अर्थ बताया:

"'नाव धकेल रहे हैं।'

"गीत की गति बढ़ गयी। लय बदल गयी। स्वर ऊंचे हो गये। इस दृश्य से अभिभूत कोई दर्शक चिल्लाया: 'ओह...'। यह बिल्कुल वैसी ध्वनि थी जैसी किसी भारी चीज़ को धकेलते समय स्वतः ही कंठ से फूट निकलती है।

"नर्तक का चेहरा बिल्कुल निर्विकार था। हाथ-पांव निश्चल थे। केवल धड़ कसता जा रहा था और फिर बायां कंधा आगे को बढ़ा। स्पष्ट था कि नाव धकेलने के लिए ज़ोर लगाया जा रहा है।

"अब नर्तक के हाथ गीत की ताल पर हिलने लगे।

"'खे रहे हैं,' किसी ने कहा।

"इस समय नर्तक के हाथों में जो कोमल गतियां हो रही थीं, उनसे नाव खेने की गतियों का ज़रा भी आभास नहीं होता था, लेकिन फिर भी स्पष्ट था—नाव खेयी जा रही है।

"मुंदी-मुंदी-सी पलकों तले उसकी आंखें दिखा रही थीं: शिकारी एकाग्र-चित होकर ह्वेल को ढूंढ़ रहे हैं। धड़ आगे को बढ़ा, हाथ जड़वत हो गये—दिख गयी ह्वेल। गीत और नृत्य में भावावेश निरंतर बढ़ता जा रहा था। दर्शक वैसे ही चिल्ला रहे थे, जैसे हाकी-फ़ुटबाल के मैचों में खिलाड़ियों को प्रोत्साहित करने के लिए लोग चिल्लाते हैं। इस एस्कीमो नौजवान ने मुझे भी यह अनुभव करा दिया कि आखेटक का सुख कितना क्षणभंगुर है। ह्वेल हाथ से निकल गयी, तो सारा परिश्रम व्यर्थ जायेगा। कटुता और थकावट ही रह जायेगी। मैं अपने रोम-रोम से यह कामना करने लगा कि ह्वेल हाथ से निकलने न पाये। दर्शकों ने सांस थाम ली, कोई हिल-डुल नहीं रहा था। अंततः गोली चली—निशाने पर लगी!

"'हुर्रा!'—क्लब में जमा बालक एक स्वर में चिल्ला उठे।

"कुछ दर्शक पसीना पोंछ रहे थे।"

इसमें कोई संदेह नहीं कि नर्तक के साथ ऐसी सह-अनुभूति में दर्शक अपनी

सभी परेशानियों और चिंताओं को, अपने प्रतिदिन के कठोर परिश्रम की थकावट को कुछ समय के लिए भूल गये थे।

बेशक, कला की भूमिका मानसिक राहत पहुंचाने और अवकाश-पूर्ति का साधन होने तक ही सीमित नहीं है। लोगों के और समाज के जीवन में, संस्कृति के विकास में उसके दूसरे प्रकार्यों का उल्लेख हम कर चुके हैं। मनोरंजन के साधन के नाते कला की भूमिका के महत्व का अवमूल्यांकन करना भी उचित न होगा।

इस विषय पर कारेल चापेक ने लिखा है:

"मैं भली-भांति समझता हूं कि कला के दूसरे, महान और उदात्त कार्यभार भी हैं, लेकिन यहां जिस कार्यभार की चर्चा है, वह भी अंतिम नहीं है। निस्सं-देह, पत्थर की कुल्हाड़ी का प्रच्छन्न प्रयोजन मानवजाति की भौतिक प्रगति में योगदान करना ही था।... लेकिन कुल्हाड़ी का प्रत्यक्ष और अनिवार्य प्रयोजन तो भेड़िये या भालू को मारना ही था। कला का पहला, अनिवार्य प्रयोजन है जीवन की बोरियत, नीरसता और फीकेपन को मिटाना। यदि वह इससे अधिक कुछ करती है, तो बड़ी अच्छी बात है, लेकिन यदि वह अपना यह पहला कार्यभार पूरा नहीं करती है, तो वह पत्थर की ख़राब कुल्हाड़ी है, क्योंकि हमारा भक्षण कर रहे दैत्यों से हमारी रक्षा नहीं करती है।"

कतिपय दार्शनिक और समाजविज्ञानी २०वीं शती के आरंभ के पूंजीवादी समाज से भिन्न आज के पूंजीवादी समाज को उपभोक्ता सभ्यता कहते हैं, अभि-प्राय कला के उपयोगितावादी उपभोग से भी है। कभी-कभी तो आधुनिक यूरो-पीय-अमरीकी संस्कृति को मनोरंजन सभ्यता तक कहा जाता है। सिनेमा और दूरदर्शन ने प्रतिदिन ही कला का उपभोग करना, उसके मनोरंजनात्मक पहलू का उपयोग करना संभव बना दिया है। इसके अलावा मनोरंजनात्मक पुस्तकें हैं, मनोरंजनात्मक नाटक हैं।

आजकल, विशेषत: बुर्जुआ देशों में, कला को मनोरंजन का साधन मात्र मानने का जो दृष्टिकोण फैला है, उसे एक प्रकार से हमारे जीवन की अभूतपूर्व तीव्रता की क़ीमत ही समझना चाहिए। आख़िर, पहले के एक भी युग में ऐसे विराट सामाजिक परिवर्तन नहीं आये, वैज्ञानिक तकनीकी प्रगति की रफ़्तार इतनी तेज़ नहीं रही, श्रम का कभी इतना सघनीकरण नहीं हुआ, पूरी जीवन-पद्धति ही इतनी जल्दी पहले कभी नहीं बदली, न ही पहले कभी ऐसे भयानक युद्ध हुए हैं और सारी मानवजाति के अस्तित्व के लिए ही ख़तरा पैदा हुआ है।

कला के प्रति ऐसा संकीर्ण दृष्टिकोण हमें किसी भी तरह मान्य नहीं है, किंतु साथ ही एक बार फिर हम यह स्पष्ट करना चाहेंगे कि कला हमारे विश्राम के लिए भी आवश्यक है। "सिर्फ़ मनबहलाव" के लिए कहीं जाने की नौजवानों की अभिलाषा सर्वथा उचित है।

कवि अलेक्सान्द्र ब्लोक ने ठीक ही लिखा है:

> सम्मोहन से घिरा देश आंसुओं का,
> रहस्य से मुस्कान – नाम नहीं यहां लज्जा का।

हंसी और रुलाई तो मानसिक तनाव के कटने की प्रक्रिया की अभिव्यक्ति ही हैं। भावुकतापूर्ण नाटक और प्रहसनों को भी अपने इसी रूप में अस्तित्व का अधिकार है, यह अलग बात है कि भावुकतापूर्ण नाटक उदात्तकारी त्रासदी बन सकता है और प्रहसन को उदात्त होना ही चाहिए। ...

क्रीड़ारत मानव

> दूर टीले पर खेलते हैं बालक
> खेल उनके ये सदियों पुराने।
> तप्त हरियाली में चपल लपटों सी,
> चमक-चमक जाती हैं पिंडलियां।
> क्रीड़ामग्न हैं बालक धुंधलके में,
> चल रही हैं क्रीड़ाएं शतियों से।
> मिट गये राज कितने धरती पर,
> मिटता नहीं बस इक बचपन।
>
> **व्लादीमिर लुगोव्स्कोई**

संस्कृति के इतिहास के अध्येता, हालैंड के योहान्न हाइज़िंग ने आधुनिक क़िस्म के मानव का एक नया नाम भी रखा है: "होमो लुडेंस" – "क्रीड़ारत मानव"।

जीवनपर्यंत क्रीड़ाएं हमारे साथ रहती हैं। झुनझुना शैशव का एक प्रतीक ही है, फिर आते हैं गुड्डे-गुड़ियां, गेंद, मैकेनो। ... वयस्कों की अवकाश-पूर्ति भी क्रीड़ाओं से होती है। कुछ खेलों (ताश, चौपड़, आदि) को जहां समाज

का अनुमोदन प्राप्त नहीं होता, वहीं दूसरे खेल (शतरंज, फ़ुटबाल, आदि) पर सारे समाज का ध्यान केंद्रित होता है।

स्मरणातीत काल से क्रीड़ाएं मानवजाति के जीवन से जुड़ी हुई हैं। इस मामले में भी विभिन्न जनगण की संस्कृतियों में समानता और अनंत विविधता – दोनों बातें हम पाते हैं।

विभिन्न देशों और जनगण के बच्चों के खेलों में बड़ों के खेलों की तुलना में कहीं अधिक समानता पायी जाती है। अफ़्रीकी बच्चों के खेलों में जानी-पहचानी बातें देखकर एक अंग्रेज़ शोधकर्ता इतना चकित हुआ कि बोला: "इन्हें इंगलैंड ले जाया जाये, तो ये वहां के प्राय: सभी खेल खेल सकेंगे!"

जापान में ज़्यादातर खेल यूरोपीय खेलों जैसे ही हैं। हां, वहां एक-दो तरह की भंभीरियों के बजाय बच्चे तीस तरह की भंभीरियों से खेलते हैं।

उंगलियों में डोरी पहनकर जो खेल खेले जाते हैं, वे लंदन और अफ़्रीकी गांव में, साइबेरियाई देहात और दुशांबे में, इटली के क़स्बे और दिल्ली में – सभी जगह एक जैसे हैं।

पश्चिम में १७वीं शती में लोगों ने पहली बार पतंग देखी, लेकिन पूर्व में यह कई हज़ार साल से जानी जाती थी। संभव है कि यूरोपवासियों ने यह मनोरंजन पूर्व से ग्रहण न किया हो, बल्कि स्वयं इसकी खोज की हो। न्यूटन के कई जीवनी-लेखकों का कहना है कि न्यूटन ने ही अपनी किशोरावस्था में पतंग बनायी थी।

बच्चे के लिए खेल उन भूमिकाओं से परिचित होने का उपाय है, जो उसे बड़ा होने पर अदा करनी होंगी। खेल में वह अपनी शारीरिक और बौद्धिक योग्यताओं का विकास तो करता ही है, साथ ही समुदाय में आचार-व्यवहार के नियम सीखता है, अपने समाज के नैतिक मूल्यों को आत्मसात करता है। अफ़्रीकी या भारतीय देहात में, आधुनिक बहुमंज़िले मकान के अहाते में बननेवाला हमउम्र बच्चों का दल चरित्र-निर्माण की एक अत्यंत महत्वपूर्ण संस्था होता है।

"यह कहना सही नहीं है कि खेल गंभीर नहीं होता। बच्चे के लिए हर खेल गंभीर होता है, क्योंकि खेलते हुए वह जीता है। जब वह खेल रहा होता है, तभी वह जीता है, तभी अभ्यास करता है, तभी उसके मनोमस्तिष्क का, शरीर और आत्मा का विकास होता है," सोवियत लेखक, समीक्षक और राज-

नेता अनातोली लुनाचार्स्की का कहना है।

विद्वानों ने बहुत पहले ही इस बात पर ध्यान दिया है कि लोगों के बीच संसर्ग के साधन के नाते क्रीड़ा की भूमिका वाणी से भी कहीं अधिक व्यापक है। अलग-अलग देशों के छोटे बच्चे, जो एक दूसरे की भाषा नहीं समझते हैं, वे भी खेल में बड़ी आसानी से एक दूसरे की बात समझ लेते हैं।

खेल बहुत सरल और अत्यंत जटिल भी हो सकता है। बच्चा कितनी जल्दी और कितनी सफलतापूर्वक जटिल खेल सीख लेता है, इसके आधार पर उसके बौद्धिक विकास के स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है।

योहान्न हाइज़िंग का कहना है कि खेल, क्रीड़ा को संस्कृति का आधार मानना चाहिए, कि क्रीड़ा के तत्व समाज के संगठन – राजनीति, युद्ध और व्यापार, कला और विज्ञान – में पाये जा सकते हैं।

हां, इच्छा होने पर ऐसे तत्व सर्वत्र ही पाये जा सकते हैं, किंतु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि मानवजाति की संस्कृति के आधार में क्रीड़ा ही निहित है। किसी युग-विशेष के लिए लाक्षणिक मानवजाति की संस्कृति के सामाजिक, राजनीतिक और उत्पादनमूलक तत्वों का अस्तित्व बहुधा खेल से आरंभ नहीं होता, खेल में समाप्त होता है।

खेलों की दुनिया अन्य सब बातों के अलावा व्यापकतम अर्थ में संस्कृति के इतिहास का एक मौलिक संग्रहालय है।

देखिये, लेनिनग्राद के एक अहाते में बच्चे खेल रहे हैं: "मालकिन ने तुम्हारे लिए भेजे हैं सौ रूबल। जो चाहे खरीद लो, 'हां'-'ना' नहीं कहना, काला-सफ़ेद नहीं लेना।" कितनी सदियां पुराना है यह खेल? ठीक-ठीक कहना मुश्किल है, किंतु बिल्कुल स्पष्ट है कि यह खेल उन दिनों बना, जब रूस में मालिक और मालकिन (अर्थात ज़मींदार) होते थे और उनके चाकर होते थे, जो यह सपना देखते थे कि उन्हें मालकिन से सौ रूबल ईनाम में मिल जायें। दूसरे कोने में बालकों का एक दल राजा-मंत्री का खेल खेल रहा है। ऐसे मनोरंजनों को इतिहासकार और नृजातिविज्ञानी "सत्ता के खेल" कहते हैं। प्रत्यक्षतः, स्वयं "सत्ता" के प्रकट होने के साथ ही अर्थात हज़ारों वर्ष पहले लोग ये खेल खेलने लगे थे। ५वीं शती ई० पू० में हुए "इतिहास के जन्मदाता" हेरोदोत ने अपनी रचनाओं में "सत्ता के खेल" से संबंधित एक घटना के बारे में बताया है – कि किस प्रकार छठी शती ई० पू० में पूर्व में हुए एक राजा अस्तियाग को

अपना पौत्र मिला, जिसके बारे में यह सोचा जाता था कि वह मर चुका है। कालांतर में इस पौत्र ने फ़ारस के महान साम्राज्य की स्थापना की और कुरुष (साइरस) महान के नाम से जाना गया।

कहानी इस प्रकार है कि अस्तियाग राज्य के एक गांव में लड़के "राजा-मंत्री" का खेल खेल रहे थे। ऊंचे कुल के एक लड़के ने खेल में "राजा" बने लड़के का, जिसे सब नीच कुल का समझते थे, आदेश मानने से इंकार कर दिया। तब "राजा" ने अपने "सिपाहियों" को दोषी को पकड़ने का आदेश दिया और अपने हाथों उसे सज़ा दी।

फिर क्या हुआ? दंडित बालक का पिता बेटे के बदन पर पड़े नील देखते ही पहचान गया कि राजवंश का बालक ही इतने ज़ोरों से प्रहार कर सकता था! इस प्रकार सिंहासन के उत्तराधिकारी का पता चला।

लेकिन "सत्ता का खेल" भी सबसे पुराना नहीं है।

फ़्रांस के ब्रेटान प्रायद्वीप पर बच्चों का एक सबसे लोकप्रिय खेल निम्न है: सूखी लकड़ियों का छोटा-सा ढेर लगाकर आग जलायी जाती है। फिर कुछ लड़-कियां बारी-बारी से आग की रखवाली करती हैं। आखिर, एक लड़की की बारी में कोई आग बुझा देता है। इस पर बड़ी हाय-तौबा मचती है। "अपराधिन" पर "मुक़दमा" चलाया जाता है और उसे "प्राणदंड" दिया जाता है।

यहां इतिहास से थोड़ा-बहुत परिचित व्यक्ति को भी प्राचीन रोम की वेस्टा देवी के मंदिर की पुरोहितनों की याद हो आयेगी, कि किस प्रकार उन्हें पवित्र अग्नि की रक्षा करनी होती थी और उसके बुझ जाने पर उन्हें कैसा भयंकर दंड मिलता था। इससे अधिक प्राचीन धर्मों में भी पुरोहितनों का ऐसा ही दायित्व था। अंततः, अनेक सहस्राब्दियां पहले भी स्त्रियां अग्नि की रक्षा करती थीं, जो, संभवतः, तब पवित्र तो नहीं मानी जाती थी, किंतु जीवन के लिए इतनी आवश्यक थी, जिसके न रहने पर क़बीले को अकथनीय विपदाओं का सामना करना पड़ता था।

हमारे देश में एक और खेल है, जो प्रायः सभी लोगों ने अपने बचपन में खेला होगा। "जलती रहे, चमकती रहे, कभी भी न बुझने पाये!" इस प्रकार गाते हुए लड़के-लड़कियां अग्नि की प्रतीक कोई वस्तु एक दूसरे की अंजलि में देते हैं। कितने हज़ार साल पुराना है यह खेल? यह तो पुरापाषाण युग में भी आरंभ हो सकता था।

बच्चों का खेल अनगिनत विरासतों का उत्तराधिकारी होता है। वयस्कों की दुनिया में सामाजिक विरचनाएं बदलती हैं, पुराने साम्राज्य और धर्म मिटते हैं, नये प्रकट होते हैं, राजतंत्रों का पतन होता है, गणतंत्रों की स्थापना होती है, अनुष्ठान और परंपराएं, अभिरुचियां और तौर-तरीक़े बदलते हैं। बच्चों के लिए विगत एक मनोरंजन, एक खेल बन जाता है। कहा जा सकता है कि बच्चों की दुनिया में इतिहास की अनगिनत घटनाएं बारंबार दोहरायी जाती हैं।

आस्ट्रेलिया के मूलनिवासियों के लिए साधारण झुनझुना भी एक जादुई वाद्य है, जिसे विभिन्न अनुष्ठानों के समय बजाया जाता है। झुनझुने की आवाज़ से वे लोग डरते हैं, वैसे ही जैसे कि डमरू की आवाज़ से। डमरू का भी आदिम क़बीलों के ओझा प्रयोग करते हैं। ध्वनियों का यह स्रोत, जो कभी पवित्र माना जाता था, अब संसार भर में बच्चों का मनोरंजन करता है।

धनुष-वाण का आविष्कार कभी मानवजाति की एक महान उपलब्धि था। इसके साथ ही पृथ्वी की जनसंख्या के बड़े भाग ने समाज के विकास की नयी अवस्था में पदार्पण किया। ढेलवांस की खोज भी बहुत महत्वपूर्ण थी। प्राचीन रोम के शिलाप्रक्षेपक (कैटापुल्ट) को देखकर आज भी हम विमुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते। आज पहले की भांति इस अस्त्र की शक्ति हमें प्रभावित नहीं करती, वल्कि इसकी संरचना की सरलता और कारगरता ही।

तीर-कमान, ढेलवांस और कैटापुल्ट, जिसने गुलेल का रूप धारण कर लिया है, बच्चों के खेलों के "अस्त्र" बन गये हैं। वयस्कों के संसार से लुप्त होकर वे बच्चों के जगत में बने रहे हैं।

एक दिन वह भी आयेगा, जब बच्चों के लड़ाई के खेल सुदूर अतीत की याद दिलायेंगे। 'यूनेस्को कूरियर' पत्रिका के अनुसार, स्वीडन में अब यह निश्चय किया गया है कि १९१४ के बाद के युद्धों के शस्त्रास्त्रों के आधार पर बने खिलौने, ऐसे खिलौने बनाने के सेट और खेल न देश में बनाये जायेंगे, न उनका आयात होगा और न ही वे बेचे जायेंगे।

बच्चों के लिए खेल जहां मुख्यतः संसार का बोध पाने का साधन ही हैं, वहीं बड़ों के लिए खेल, जैसाकि इंगित किया जा चुका है, अवकाश बिताने का उपाय, शारीरिक और मानसिक विश्राम का साधन हैं। डाक-टिकटें जमा करने से लेकर रंग-बिरंगी मछलियां पालने तक के नाना शौक़ों में भी खेल का पुट है।

चौपड़ के पासे फेंके जाते हैं, शतरंज के मोहरे चलते हैं, ताश के पत्ते सर-

सराते हैं। इन लोकप्रिय खेलों ने विभिन्नतम परिस्थितियों में कितने ही लोगों की समय काटने में मदद की है!

सन् १९३४। सोवियत हिमभंजक पोत 'चेलुस्किन' दुर्घटनाग्रस्त हो गया। उसका कर्मीदल और यात्री एक हिमखंड पर उतरे। यह "श्मीद्त का कैंप" था। लोगों के सिरों पर भयानक खतरा मंडरा रहा था। जीवन की रक्षा के लिए और अस्तित्व की ज़रा-बहुत सहनीय परिस्थितियां बनाने के लिए लोगों को दिन-रात परिश्रम करना पड़ रहा था। वायरलैस-आपरेटर ऐन्स्र्ट क्रेंकेल के शब्दों में, खाली समय में एक तंग-से तंबू में सब लोग पालथी मारकर बैठ जाते, बीच में मेज़ के स्थान पर लकड़ी का पटरा होता और वे डोमिनोज़ या ताश खेलते। इन खेलों में पहल करनेवाले होते ओत्तो श्मीद्त – जगतप्रसिद्ध वैज्ञानिक और श्रेष्ठ संगठनकर्ता।

गोत्र-समाज में वयस्क भी खेल खेलते थे। इन खेलों में दो प्रवृत्तियां देखी जा सकती हैं, जो परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग हद तक प्रकट होती थीं।

कहीं ये ऐसे खेल होते थे, जिनमें हर हालत में, किसी भी क़ीमत पर जीतने की कोशिश की जाती थी – जोखिम भरे, सब कुछ दांव पर लगाने के खेल। क़बीलों के बीच ऐसे खेलों के फलस्वरूप कभी-कभी लड़ाइयां भी छिड़ जाती थीं।

पॉलीनीशिया के रारोइआ द्वीप पर दूसरा ही दृश्य देखा जा सकता है। यहां अल्पसंख्यक समुदाय के सदस्यों के बीच शांति बनाये रखने के नाम पर सदा इस बात की कोशिश की जाती है कि, उदाहरणतः, फ़ुटबाल के मैच सदा बराबर रहें। यदि एक टीम दूसरी से ज़्यादा ही तगड़ी है, तो रेफ़री उस टीम के खिलाड़ी को दूसरी टीम में भेज देता है और खेल ख़त्म होने की सीटी तभी बजाता है, जब दोनों टीमों के गोलों की संख्या बराबर हो।

संस्कृति की दूसरी परिघटनाओं की ही भांति खेल में भी इस या उस समाज के विकास की ठोस परिस्थितियां, उसके इतिहास की अवस्थाएं मौलिक रूप से प्रतिबिंबित होती हैं।

इसका ज्वलंत उदाहरण है भारत में आविष्कृत खेल शतरंज। इसके पुराने परंपरागत नियमों और आधुनिक नियमों में बहुत अंतर है। शतरंज का पुराना खेल बहुत धीमा है। इसमें वज़ीर किसी भी दिशा में केवल एक घर चलता है, ऊंट अपनी "आड़ी" रेखा में दो घर से ज़्यादा नहीं चल सकता। महान भौगोलिक खोजों के युग ने संसार की सीमाएं बहुत फैला दीं, और यह अनुमान लगाया

जा सकता है कि तब नये संसार में शतरंज के भी नये नियम बने – वज़ीर और ऊंट को गतियों की अधिक स्वतंत्रता मिली।

लोगों ने बहुत पहले ही खेलों का महत्व समझ लिया था, विशेषत: बच्चों के लिए उनका महत्व, और वे खिलौने बनाने लगे थे।

मिस्र में बच्चों की ममियों के बग़ल में रखे गुड्डे-गुड़ियां मिले हैं।... मृत शिशु के साथ क़ब्र में उसकी सबसे प्रिय वस्तु रखी जाती थी। मिट्टी की गुड़िया के पास उसके कपड़ों का भी ढेर लगा होता था।

यह सोचना ग़लत होगा कि प्राचीन काल में खिलौने कुछ थोड़ी-सी क़िस्मों के ही बनाये जाते थे। दाना चुननेवाले मुर्ग़ों और आजकल बननेवाले दूसरे ऐसे हिलने-डुलनेवाले खिलौनों जैसे ही लकड़ी के खिलौने प्राचीन युग में लोगों को बहुत पसंद थे। प्राचीन मिस्र में बने लकड़ी के मगरमच्छ के जबड़े भी वैसे ही खुलते-बंद होते हैं, जैसे आजकल के ऐसे खिलौने के। रांगे के छोटे-छोटे लोग प्राचीन यूनान में ही बनाये जाने लगे थे, आज बच्चों के लिए ऐसे सिपाही बनाये जाते हैं।

मध्य युग के आरंभ में अरब लोग अपने बच्चों के लिए ऐसी आकृतियां बनाते थे, जिनके अंदर लोहा लगा होता था, ताकि उन्हें चुंबक की मदद से चलाया जा सके।

बच्चों के लिए मकान, आदि बनाने के लिए घन (क्यूब) तथा रंगीन चित्र बनाने के टुकड़े भी प्राचीन यूनान में ही प्रचलित हो गये थे। प्रत्यक्षत:, कालांतर में इन खेलों को भुला दिया गया, क्योंकि अब यह माना जाता है कि बच्चों के लिए ऐसे पहले सेट स्विस विद्वान लाफ़ातेर ने बनाये।

मिस्र के फ़राऊनों और उनकी प्रजा के बच्चे भी चीथड़े या सूखी घास भरकर बनायी चमड़े की गेंद से खेलते थे।

हाथों या पांवों से फेंकी जानेवाली गेंद जैसा कोई खेल अनेक जनगण में प्रचलित था। ऐसे खेल से हाकी जैसे खेल तक लोग कैसे पहुंचे? नृजातिवर्णन के विश्वविख्यात विद्वान एडवर्ड टेलर इसका निम्न उत्तर देते हैं। हज़ार-डेढ़ हज़ार साल पहले ईरान में घोड़ों पर सवार होकर गेंद का खेल खेला जाने लगा। ऐसा खेल वल्ले जैसे किसी लंबे डंडे की मदद से ही खेला जा सकता था। बाद में पैदलों के खेल में भी ऐसे "डंडों" का उपयोग होने लगा और इस डंडे ने रैकट, वल्ले, स्टिक, आदि का रूप ग्रहण किया तथा टैनिस, क्रिकेट, हाकी, गोल्फ़

जैसे खेल प्रकट हुए।

शारीरिक अभ्यास का प्रत्यक्ष कार्यभार है मनुष्य को हृष्ट-पुष्ट बनाना, उसे भांति-भांति के कार्यों के लिए तैयार करना। किंतु बहुत पहले से ही यह न केवल खिलाड़ियों के लिए, बल्कि दर्शकों के लिए भी मानसिक विश्राम का साधन भी बन चुका है।

"जिस प्रकार उत्साह और प्रेरणा के नायक होने चाहिए, वैसे ही शक्ति के दूत और वाहक भी होने चाहिए। ये दोनों ही संस्कृति की, वह आत्मिक हो या दैहिक, नयी मंज़िलों के सूचक हैं। यही कारण है कि मानवजाति सदा उनके असाधारण पराक्रमों में, आत्मिक और दैहिक बल एवं ओज की अद्भुत अभिव्यक्ति में रुचि लेगी। कीर्तिमान भी ऐसी अभिव्यक्ति ही हैं," क्रीड़ा-जगत के एक सिद्धांतकार ने लिखा है। हां, खिलाड़ियों की शक्ति और गति में भी संस्कृति वैसे ही अभिव्यक्ति पाती है, जैसे कि कविताओं की लय में या सूत्रों की शृंखलाओं में।

भारोत्तोलन और बास्केटबाल, स्कीइंग और शतरंज, तैराकी और दौड़ के मुक़ाबले, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, मनोरंजक दृश्य भी होते हैं, जिन्हें अनेक लोग अपना काफ़ी अधिक ख़ाली समय समर्पित करते हैं। अपने चहेते खिलाड़ियों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करते हुए मनुष्य जो विश्राम पाता है, वह कुछ-कुछ वैसा ही होता है, जैसा कला के रसास्वादन से प्राप्त होता है। यह अकारण ही नहीं कि क्रीड़ा की कई विधाएं सारतः कला के रूप बन गयी हैं या बन रही हैं, जैसेकि कलात्मक जिम्नास्टिक या फ़ीगर स्केटिंग। लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिए: दर्शक केवल मानसिक राहत ही पाता है, जबकि क्रीड़ा का ध्येय शारीरिक विश्राम प्रदान करना है और वह ऐसा विश्राम प्रदान कर सकती है।

सामाजिक विकास और वैज्ञानिक-तकनीकी प्रगति के दौरान लोगों के श्रम और रहन-सहन का, उनकी जीवन-पद्धति का स्वरूप बहुत बदल गया है। पहले लोगों को भांति-भांति के अनेक शारीरिक कार्य करने होते थे, अब वे धीरे-धीरे उनसे मुक्त होते जा रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों में शारीरिक अभ्यास और क्रीड़ा की लोगों के जीवन में भूमिका बढ़नी चाहिए, उनके अवकाश में इन्हें अधिक स्थान प्राप्त होना चाहिए। यही शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य की शर्त है। शारीरिक अभ्यास और खेल-कूद सदा ही मनुष्य के चरित्र-निर्माण के, लोगों के बीच संसर्ग के सशक्त साधन रहे हैं।

संस्कृति और पारिस्थितिकी

दोहरा प्रभाव

संस्कृति प्रकृति के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। किंतु संस्कृति पर प्राकृतिक कारकों के प्रभाव के सारे महत्व के बावजूद यह मानना सरलीकरण ही होगा कि ये कारक ही संस्कृति की उत्पत्ति और विकास को पूरी तरह निर्धारित करते हैं। भौगोलिक नियतत्ववाद के नाम से ज्ञात यह धारणा पूर्णतः निराधार है। सामाजिक विकास का और तदनुरूप संस्कृति का स्तर, सर्वप्रथम, उत्पादक शक्तियों के विकास पर निर्भर होता है। इसी से प्रत्येक समाज को उपलब्ध प्राकृतिक संभावनाओं के उपयोग की उसकी क्षमता निर्धारित होती है। उदाहरणतः, आदिम समाज की उत्पादक शक्तियां यह सुनिश्चित नहीं कर सकती थीं कि पत्थर के कोयले, तेल और धातुओं का लोगों के उत्पादन-कार्यकलाप में कमोबेश व्यापक उपयोग होता, दासप्रथात्मक और सामंतवादी व्यवस्थाओं ने परमाणु ऊर्जा के उपयोग के लिए आवश्यक पूर्वाधार नहीं बनाये।

समाज की संस्कृति पर प्रभाव डालते हुए प्रकृति स्वयं भी उससे प्रभावित होती है। यह प्रभाव लोग संस्कृति के विशाल भंडार की मदद से डालते हैं। यह भंडार है "मानवीकृत" परिवेश, जो पूर्ववर्ती पीढ़ियों द्वारा निर्मित होता है और वर्तमान पीढ़ियों द्वारा निर्माणाधीन होता है। इस प्रभाव का एक परिणाम होता है सांस्कृतिक दृश्यपट – समाज द्वारा पुनर्गठित प्रकृति, उसके अस्तित्व का परिवेश। सामान्यतः सांस्कृतिक दृश्यपट के दो भेद माने जाते हैं, जो बहुत हद तक एक दूसरे से अंतर्गुंथित होते हैं – कृषि-मंडल और तकनीकी मंडल। पहला मुख्यतः सजीव प्रकृति पर मानव के प्रभाव का परिणाम है – वनस्पति और पशु-जगत पर प्रभाव का परिणाम (खेत, बाग़, चरागाहें, मानव द्वारा उपयोग में लाये जानेवाले वन, मछली पालने और पकड़ने के स्थान, इत्यादि)। तकनीकी मंडल मानव द्वारा निर्जीव प्रकृति में समाविष्ट की गयी समूची भौतिक संस्कृति ही

है। इसमें आते हैं—भवन, सड़कें, पुल, चर और अचर मशीनें, यंत्र, इत्यादि। सांस्कृतिक दृश्यपट पूर्ववर्ती पीढ़ियों के पदार्थमूलक श्रम के अवशेषों (भवनों के खंडहरों, पुराने पार्कों, परती ज़मीनों, इत्यादि) के रूप में भी अस्तित्वमान हो सकता है।

विश्व-ऐतिहासिक प्रक्रिया के क्रम में प्रकृति पर समाज के प्रभाव की विविधता, उसकी शक्ति और गहराई निरंतर बढ़ती जाती है। आजकल मानव ने प्रकृति के वशीकरण में अभूतपूर्व सफलताएं पा ली हैं। उसके औज़ारमूलक कार्यकलाप का और ऊर्जा क्षमता का परिमाण प्रकृति में होनेवाली भव्य भूगर्भीय और भूरासायनिक प्रक्रियाओं के समकक्ष हो गया है। नगरों और औद्योगिक प्रतिष्ठानों के निर्माण, ज़मीनों को खेतों में बदलने, वनों की कटाई और जलाशय बनाने, आदि के परिणामस्वरूप बना सांस्कृतिक दृश्यपट अब थल के प्रायः एक चौथाई भाग पर व्याप्त है। मनुष्य के प्रभाव में नदियां अपनी दिशा बदलती हैं, छोटे-बड़े जलाशय प्रकट होते हैं, पहाड़ टूटते हैं। कुछ आंकड़ों के अनुसार, पिछले १०० वर्षों में मानवजाति ने आवागमन की गति सौ गुनी, ऊर्जा संसाधन एक हज़ार गुने तथा सैनिक शस्त्रास्त्रों की प्रहार-क्षमता दस लाख गुनी बढ़ा ली है। आज हर साल भूगर्भ से १०० अरब टन अयस्क निकाले जाते हैं, अर्थात प्रति व्यक्ति २५ टन से अधिक। विकसित औद्योगिक देशों में प्रति व्यक्ति ऊर्जा की मात्रा मनुष्य की जैव आवश्यकताओं से सैकड़ों गुनी अधिक है।

प्रकृति के वशीकरण और दोहन का परिमाण कितना भी भव्य क्यों न हो, उस पर मनुष्य की सत्ता असीम नहीं है। प्राकृतिक विपदाएं—आग, बाढ़ें, भूकंप, सूखा, इत्यादि—समय-समय पर लोगों को इसकी याद दिलाती हैं। मनुष्य न्यूनाधिक हद तक इन नैसर्गिक शक्तियों का पूर्वानुमान लगा तथा उनका प्रभाव कम कर सकता है, किंतु इन्हें पूरी तरह मिटाने में फ़िलहाल वह असमर्थ है।

उधर, प्रकृति के साथ अपनी अन्योन्यक्रिया में मानव स्वयं ही अपने लिए ऐसे नकारात्मक परिणाम पैदा कर सकता है, जो प्राकृतिक विपदाओं जैसे या कुछ मामलों में उनसे भी अधिक भीषण होते हैं। प्राकृतिक परिवेश के मामले में लोगों की ऐसी एकतरफ़ा सक्रियता, जिसमें वे अपने प्रत्यक्ष लक्ष्यों की पूर्ति का ही ध्यान रखते हैं और प्रकृति की नियमसंगतियों की अवहेलना करते हैं, ऐसे दुष्परिणामों का कारण बन सकती है। "संस्कृति यदि सचेतन रूप से संचा-

लित न होकर स्वतोस्फूर्त ढंग से विकसित होती है, तो अपने पीछे बंजर ज़मीन ही छोड़ती है," मार्क्स ने लिखा था।

मानवजाति के इतिहास को पारिस्थितिक संकटों के एक लंबे क्रम के रूप में भी देखा जा सकता है।

अपनी संस्कृति की बदौलत मनुष्य उन जीवों की एक जाति मात्र नहीं रहा है, जो "ज़ोर-शोर से" पृथ्वी के जीव-मंडल में प्रवेश करते हैं और फिर किसी एक पारिस्थितिक कोष्ठ में अपना स्थान पाकर "शांत" हो जाते हैं। मनुष्य का प्रभाव तो लाखों वर्ष से प्रकृति के सारे जीवन में व्याप्त है और निरंतर बढ़ रहा है।

पृथ्वी के सभी जलवायु-कटिबंधों में बसा मानव और कुछ नहीं तो इस बात से ही प्राणि-जगत और वनस्पति-जगत में प्रजातियों के बीच संबंध बदलता रहा है कि वह किन्हीं विशेष वनस्पतियों को बटोरता था और दूसरी वनस्पतियों की ओर ध्यान नहीं देता था, सभी जानवरों का शिकार नहीं करता था। साथ ही अति प्राचीन काल से ही उसके हाथों में आग थी—एक ऐसा उपकरण, जो पर्यावरण पर अपरिमित प्रभाव डाल सकता है और यह प्रभाव सदा मानव की इच्छानुसार नहीं होता।

अफ़्रीका का विशाल सवाना प्रदेश आज प्रायः अछूती प्रकृति का प्रतीक माना जाता है। किंतु, अनेक विशेषज्ञों के मत में, जला डाले गये जंगलों के स्थान पर यह सवाना बना। ये जंगल मानव ने ही जलाये, सो भी, प्रायः बिना सोचे-समझे। उक्राइना की स्तेपियां और दक्षिणी अमरीका के पाम्पा मैदान भी, प्रत्यक्षतः, ऐसे ही बने हैं।

विश्व-इतिहास में और भी कई ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं, जब लोगों के उत्पादन-कार्यकलाप के कारण प्रकृति में बनी नियमन-पद्धति भंग हुई और इससे समाज के लिए अवांछनीय परिणाम हुए। इस कार्यकलाप के ऐसे परिणाम हमें ज्ञात हैं जैसे कि फलते-फूलते कृषि क्षेत्रों का मरुभूमि में बदल जाना, नदियां सूख जाना, ज़मीन का अनुर्वर हो जाना, पालतू ढोर-डंगरों द्वारा चरागाहों का रौंदा जाना, इत्यादि। एशिया माइनर, मेसोपोटामिया, उत्तरी अफ़्रीका में लोगों ने अनेक स्थानों पर ईसवी संवत से हज़ारों वर्ष पहले ही प्रकृति को जीव-संपदा से विपन्न किया। प्राचीन यूनान के बारे में कहा जाता था कि उसका वैभव बेहिसाब बढ गयी बकरियां चाट गयीं, जो वनों में सारी पौध खा जाती थीं।

संस्कृति और प्रकृति, मानव और पर्यावरण के संबंधों का चित्र काले रंगों में ही रंगना भी ठीक न होगा।

इतालवी जीवविज्ञानी, यूनेस्को के पारिस्थितिक विभाग के संचालक फ़्रांचेस्को दी कस्त्री, हमारे विचार में, उचित ही यह आह्वान करते हैं कि पारिस्थितिक जीवन तंत्रों के उद्विकास में मनुष्य की भूमिका का केवल नकारात्मक मूल्यांकन ही न किया जाये। वह याद दिलाते हैं: "कई अत्यंत विविधतापूर्ण और सामंजस्यपूर्ण भूदृश्य मनुष्य ने ही बनाये हैं: यूरोप के पर्वतों में लहलहाते मैदानों, वनों और चरागाहों का दृश्यपट, जावा और नेपाल में क्षितिज तक फैले धान के सीढ़ीनुमा खेत, नोर्मांदिया और आयरलैंड के खेत और वन, भूमध्यसागर तट और उसके द्वीपों की ढलानों पर फैली रंग-बिरंगे फूलोंवाली झाड़ियां, अंगूर और जैतून के बाग़ान, ऐंडीज़ पर्वतमाला के ऊंचे पठारों पर सीधे कगारोंवाले खेत, प्रशांत महासागर के द्वीपों पर नारियल के कुंज – ये सभी भव्य पारिस्थितिक जीवन-तंत्र मनुष्य की सहायता से ही बने हैं।" वैसे ही जैसे कि मध्य रूस के सेबों के बाग़, काकेशिया और रोडोप पर्वतों की ढलानों पर अंगूरों के बाग़ान तथा अन्य अनेक स्थल।

प्राचीन इतिहासकारों के अनुसार, इटली की अनुपम नगरी फ़्लोरेंस के चारों ओर कभी दलदल ही दलदल थे। यहां से ३० किलोमीटर दूर इन दलदलों में एक पूरी सेना डूब गयी थी। अब यहां दलदल नहीं हैं। उनके स्थान पर खेत और बाग़ हैं। क्या इसे प्रकृति को बिगाड़ना माना जा सकता है?

अपनी जन्मभूमि की प्रकृति के सौंदर्य के प्रति रूसी किसान के रुख के बारे में अकादमीशियन द्मीत्री लिखाचोव लिखते हैं:

"किसानों ने सदियों तक परिश्रम किया, हल और हेंगे से, दरांती से टीलों और निचानों को सहलाया, यही कारण है कि मध्य रूस की, विशेषतः मास्को-अंचल की प्रकृति इतनी स्नेही प्रतीत होती है। किसान वनों-उपवनों को अछूता छोड़ देता था, उनसे बचकर हल चलाता था, इसीलिए वे सुघड़ कुंजों में उगते थे, मानो फूलदान में रखे हुए हों। प्राचीन रूसी वास्तुकार मकान और गिरजे नदी या झील के ऊंचे तट पर बनाता था, मानो प्रकृति को भेंट चढ़ा रहा हो, उसकी शोभा में चार चांद लगा रहा हो।"

दी कास्त्री के मत में, "सांस्कृतिक और पारिस्थितिक विविधता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, क्योंकि जो कुछ दीर्घ परिप्रेक्ष्य में जीव-मंडल की स्थिरता

के लिए उपयोगी है, वही मानव-समाज की स्थिरता के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय और स्थानीय मौलिकता के लक्षणों को उभारता है।"

ऐसा आशावादी दृष्टिकोण रखते हुए यह देखे विना भी नहीं रहा जा सकता कि संस्कृति के संपर्क में आते हुए प्रकृति बहुत समय से अपनी स्थिरता खो रही है।

विश्वव्यापी समस्या

प्रकृति पर मनुष्य के सक्रिय प्रभाव का परिमाण बढ़ने के साथ-साथ उसके नकारात्मक परिणामों का खतरा भी निरंतर बढ़ रहा है। समाज और प्रकृति के परस्पर संबंध की समस्या आज विशेषतः प्रासंगिक हो गयी है, जब विज्ञान और प्रविधि के द्रुत विकास के कारण पारिस्थितिक संतुलन डांवांडोल हो रहा है। इसकी एक अभिव्यक्ति है पर्यावरण का बढ़ता दूषण। हर साल विराट मात्रा में कोयला, तेल और गैस जलाये जाने से, रासायनिक उत्पादन से धरती, वायु और जल का दूषण हो रहा है। भूगर्भ से हर साल जो अरबों टन अयस्क निकाले जाते हैं, उनका बड़ा भाग अंततोगत्वा अपशिष्ट पदार्थों के रूप में पर्यावरण में फेंक दिया जाता है।

पृथ्वी पर दूषित जल की मात्रा ७०० घन किलोमीटर प्रति वर्ष तक पहुंच गयी है। विकसित औद्योगिक देशों में स्थिति विशेषतः गंभीर है। संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोप के वड़े भाग की नदियों का सारा प्रवाह औद्योगिक प्रतिष्ठानों, सिंचाई और सीवेज प्रणालियों से गुज़रता है। मीठा जल ही नहीं, सागर-महासागर भी दूषित हो रहे हैं। यह पाया गया है कि तेल पदार्थों द्वारा सागरों के दूषण से आजकल हर साल ढाई लाख तक समुद्री पक्षी मारे जाते हैं, समुद्री जीवजगत नष्ट हो रहा है ; कीटनाशक पदार्थों और रेडियोधर्मी विघटन के पदार्थों से जल का दूषण बढ़ रहा है। वायु और जल से होनेवाला मिट्टी का कटाव (भू-क्षरण) तेज़ हो रहा है। इस क्षरण से ग्रस्त भूमि का कुल क्षेत्रफल संसार में जोती जानेवाली सारी ज़मीन के क्षेत्रफल का प्रायः आधा है। वनस्पतियों की कुछ प्रजातियों की संख्या घट रही है, विशेषतः उष्ण कटिबंधीय वनों का क्षेत्रफल बहुत कम हो रहा है। इस सब के साथ-साथ वन्य प्राणियों का तेज़ी से संहार हो रहा है। उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार, प्रति वर्ष औसतन पशुओं की एक प्रजाति धरती से विलुप्त हो रही है।

वायुमंडल में कार्बनिक अम्ल की मात्रा बहुत बढ़ रही है, इससे, अन्य सब बातों के अलावा, तथाकथित "तापघर प्रभाव" के फलस्वरूप पृथ्वी का तापमान खतरनाक हद तक बढ़ सकता है। उधर, कुछ देशों में उद्योगों और परिवहन-साधनों द्वारा आक्सीजन के उपभोग की मात्रा इन देशों में वनस्पतियों द्वारा पुनर्जनित आक्सीजन की मात्रा से अधिक हो गयी है।

मनुष्य अपने अस्तित्व की प्राकृतिक परिस्थितियों में जो परिवर्तन ला रहा है, उनका प्रायः स्वयं उसके लिए अत्यंत हानिकारक परिणाम हो रहा है। वायु और जल के दूषण के अलावा विकिरण की बढ़ती तीव्रता, पराध्वनि, विद्युत-चुंबकीय क्षेत्र, अत्यंत विषैले रासायनिक पदार्थ, आदि भी मनुष्य के स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव डालते हैं; मनुष्य अब विभिन्न कैंसरजनक कारकों के संपर्क में अधिक आता है; मानव के जीन-कोड के म्यूटेशनों से विकृत होने की संभावना का खतरा पैदा हो रहा है।

२०वीं शती ने अपनी भव्य वैज्ञानिक-तकनीकी उपलब्धियों के साथ हज़ारों वर्ष से चले आ रहे इस विश्वास को कि प्रकृति शाश्वत है झकझोरा ही नहीं, तहस-नहस कर दिया है। आज पारिस्थितिक संकट पर चिंता प्रकट की जा रही है, यहां तक कहा जा रहा है कि संसार पर पारिस्थितिक विनाश का खतरा मंडरा रहा है।

प्रकृति की रक्षा करते हुए लोग स्वयं अपनी और अपने सृजन की, मानव-जाति की सारी अमूल्य धरोहर की रक्षा कर रहे हैं।

अतीत में जीव-मंडल ने प्रायः मानव द्वारा उसे पहुंचाये गये "घावों" को स्वयं ही भरा है। केंद्रीय अफ़्रीका, दक्षिणी एशिया या पूर्वी यूरोप में कृषिकर्म के लिए साफ़ किये गये जंगल फिर से उग आते थे, केंद्रीय एशिया की चरागाहों में मवेशियों द्वारा रौंद डाली गयी घास फिर से उग आती थी।

लेकिन, आज हम इस भरोसे नहीं रह सकते कि जीव-मंडल मनुष्य का संरक्षक बनकर एक बार फिर उसकी त्रुटियों को छिपा लेगा, मानव द्वारा धरती को, उसके सजीव परिधान – मृदा, वायु और जल – को पहुंचाये गये घाव भर लेगा। अतीत में तो पारिस्थितिक संकट संसार के किसी छोटे-बड़े क्षेत्र में ही व्याप्त होते थे, किंतु अब सारी पृथ्वी ही ऐसे संकट से ग्रस्त है।

अपने चारों ओर के जगत को, अपने परिवेश को बदलने की मानव की क्षमता विश्वव्यापी हो गयी है। पिछली शतियों में संस्कृति का विकास ऐसी गति

से हो रहा है कि मंद गति से आत्मनियमन करनेवाला जीव-मंडल इसके साथ क़दम मिलाकर नहीं चल सकता। सो, आज संस्कृति का एक प्रमुखतम कार्यभार है ऐसी स्थिति से निकलने का उपाय खोजना।

क्या कोई उपाय है?

मनुष्य को बहुत पहले से ही प्रकृति पर अपने प्रभाव के नकारात्मक परिणामों की संभावना की किसी न किसी हद तक चेतना रही है। यह मानना तो शायद ही सही होगा कि आदि मानव ऐसे परिणामों की संभावना के प्रति उदासीन था। अपने परिवेश से अपने को अलग न करते हुए भी आदिम समाज के लोग सचेतन और प्राय: अवचेतन रूप से इस परिवेश का ध्यान रखते थे। नृजातिवर्णन विषयक सामग्री से यह पता चलता है कि गोत्र-व्यवस्था में जी रहे जनगण की प्रथागत विधि में प्राकृतिक संसाधनों के साथ संबंधों का नियमन करनेवाले मानक पाये जाते हैं (किन्हीं जंतु-विशेषों के आखेट को वर्जित घोषित करना, आखेट का काल और मात्रा सीमित करना, इत्यादि)।

अतीत में लोगों के सामान्य जीवन-क्रम को ख़तरे में डालनेवाले पारिस्थितिक संकट सदा लोगों के कार्यकलाप का ही परिणाम नहीं होते थे। हर हालत में वे संसार के एक भाग में ही, वह चाहे अपेक्षाकृत बड़ा क्यों न हो, किंतु फिर भी एक भाग में ही व्याप्त होते थे। और मनुष्य को ऐसे संकटों से निकालना आता था। बहुत संभव है कि १२-१५ हज़ार साल पहले कृषि-कार्य का आरंभ होना उस समय के नये पारिस्थितिक संकट का ही प्रत्युत्तर रहा हो। यहां यह बात माने नहीं रखती कि यह संकट जलवायु में परिवर्तन के कारण आया या इसलिए कि इस क्षेत्र में इतनी अधिक संख्या में आखेटक और कंद-मूल बटोरने-वाले जमा हो गये कि उनके लिए वन्य जीव-जंतु और कंद-मूल पर्याप्त मात्रा में पाना असंभव हो गया। कहीं अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि कृषि और पशु-पालन ने इन स्थानों की आबादी को संकट से उबारा।

सिंचाई के आविष्कार को लोगों द्वारा नये पारिस्थितिक संकट से बचने के उपायों की खोजों का परिणाम माना जा सकता है: सिंचित कृषि उसके अन्य सभी रूपों से अधिक फलप्रद होती है। किंतु यदि विशेष क़दम न उठाये जायें, तो समय बीतने के साथ सिंचाई से ज़मीन लोनी हो सकती है। प्राचीन मेसोपो-

टामिया को यह प्रहार सहना पड़ा। विश्व की प्राचीनतम सभ्यताओं को आहार प्रदान करनेवाले अनेक स्थल रेगिस्तान और अर्धरेगिस्तान बन गये। प्राचीन युग में हज़ारों-हज़ार लोग यहां ज़मीन पर निकलनेवाला लवण जमा करते थे और सिंचित भूमि से दूर ले जाते थे, लेकिन फिर भी वे इन ज़मीनों को नहीं बचा पाये।

मानवजाति के आधुनिक औद्योगिक विकास ने पारिस्थितिकी के क्षेत्र में कई दुखद टकराव सर्वप्रथम इसीलिए पैदा किये हैं कि यह विकास पूंजीवादी उत्पादन पद्धति की ऐतिहासिक सीमाओं में हुआ है। पूंजीवाद का सामाजिक-आर्थिक सार प्रकृति की रक्षा के प्रश्न में अनिवार्यतः निजी स्वामियों के और सारी मानव-जाति के हितों में टकराव पैदा करता है। समाजवाद में प्राकृतिक संसाधनों पर किन्हीं निजी कंपनियों या अलग-अलग व्यक्तियों का नहीं, बल्कि सारे समाज का स्वामित्व होता है, इसलिए यहां इस समस्या के समाधान की सबसे अधिक संभावना होती है। समाजवादी समाज में प्रकृति और श्रम-साधन सामाजिक संपत्ति होते हैं, इससे इनके अन्योन्यसंबंधों के एकीकृत दीर्घकालीन नियोजन के लिए, उत्पादक शक्तियों के अवस्थापन में पारिस्थितिक कारकों को श्रेष्ठतम ढंग से ध्यान में रखने के लिए आवश्यक पूर्वाधार बनते हैं। कहना न होगा कि ये संभाव-नाएं स्वतः ही क्रियान्वित नहीं हो जातीं। अतः, प्रकृति-रक्षा की दिशा में समाज-वादी राज्य के क़दमों का विशेष महत्व होता है।

पारिस्थितिकी की समस्या आज विश्वव्यापी है, तो भी इसका समाधान ढूंढ़ते हुए विभिन्न जनगण द्वारा अपने स्थानीय पारिस्थितिक परिवेश की रक्षा में संचित अनुभव का उपयोग किया जाना चाहिए। प्रत्येक जनगण में प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्योन्यक्रिया की अपनी विशेषताएं और परंपराएं होती हैं। जन को इसके वास के परिवेश के साथ एक समग्र नृजातीय-पारिस्थितिक जीवन-तंत्र माना जा सकता है। कुछ जनगण में, उदाहरणतः, यह परंपरा है कि आखेट के समय दो-तीन जानवरों से अधिक नहीं मारे जाते, भले ही आखेट में कई लोग भाग ले रहे हों। इस प्रकार के भांति-भांति के अनुभव का अध्ययन और उपयोग होना चाहिए।

प्रकृति की चिंता करते हुए, संस्कृति को उसकी रक्षा और परिष्कार में लगाते हुए यह भी मानना होगा कि अछूती धरती ही हमारे लिए आदर्श नहीं है, कि अछूती प्रकृति को ही मानवजाति की भावी प्रगति का प्रतीक नहीं माना जा सकता।

सोवियत लेखक यूरी त्रीफ़ोनोव ने इस विषय पर अपना यह, शायद बहुत ही आत्मनिष्ठ, मत व्यक्त किया: "...नहीं, मैं प्रकृति को कोई देवी बनाने की कोई इच्छा नहीं रखता। मैं यह नहीं मानना चाहता कि प्रकृति में सभी कुछ अच्छा है, अनुपम है। कैंसर कोशिकाएं क्या प्रकृति का अंश नहीं हैं? तूफ़ान, भूकंप, दावानल और जानलेवा गर्मी–यह सब भी तो प्रकृति ही है। और चूहे, मच्छर, बिच्छू, जहरीले सांप, त्से-त्से मक्खी क्या प्रकृति में नहीं आते? प्रकृति तलैया किनारे भोजवृक्ष ही तो नहीं है। उसमें बहुत कुछ घिनौना और भयावह है। मैं यह पुराना सत्य दोहराता हूं कि मनुष्य प्रकृति का राजा है।... लाक्षणिक अर्थ में। वह प्रकृति की शीर्षस्थ सृष्टि है और वास्तव में ही हर चीज़ का मापदंड है। इधर, कुछ लेखक अचानक मनुष्य को प्रकृति से–चीड़, भेड़िये, कुत्ते से–मापने लगे हैं। मैं प्रकृति को भी अस्वीकार नहीं करता। मुझे उससे प्रेम है, लेकिन मैं उसे पूजा की वस्तु नहीं बनाता।"

दिवंगत अकादमीशियन स्तानीस्लाव श्वार्त्स ने, जो तब सोवियत विज्ञान अकादमी के उराल केंद्र के अधीन वनस्पतियों एवं जंतुओं की पारिस्थितिकी के अनुसंधान संस्थान के डायरेक्टर थे, अपने एक भाषण में प्रकृति के सुसंगठित संचालन का शानदार कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। उन्होंने यह याद दिलाया कि प्रागौद्योगिक अर्थव्यवस्था प्राय: परिवेश के लिए औद्योगिक अर्थव्यवस्था से अधिक खतरनाक होती है।

मानवजाति अपने पथ पर पीछे नहीं जा सकती। मनुष्य का हस्तक्षेप प्रकृति के लिए इतना हानिकर नहीं है, जितना कि इसका ग़लत स्वरूप–यह हस्तक्षेप तो जारी रहेगा ही, यह अवश्यंभावी है। हमें अधिक सतर्कता से, ध्यान से काम करना चाहिए।

वनस्पतियों और जीव-जंतुओं की ऐसी समष्टियां पाने के लिए काम करना चाहिए, जो आधुनिक सांस्कृतिक परिवेश के अधिक अनुकूल होंगी। यही नहीं, अकादमीशियन श्वार्त्स के अनुसार, पूरी की पूरी नयी जीवभूसमष्टियां (बायोजिओसेनोसिस) बनानी चाहिए।

जीव-संचालन की सूक्ष्म विधियां सीख लेने पर (अकादमीशियन श्वार्त्स के मत में, मनुष्य इसके काफ़ी समीप पहुंच गया है) अभूतपूर्व संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त होगा। फ़िलहाल तो हम प्रकृति से उसकी संपदा का अत्यंत अल्प अंश ही लेते हैं–जीव-मंडल के शुद्ध "उत्पाद" का केवल एक प्रतिशत। इससे

बहुत अधिक भी लिया जा सकता है—लेकिन इस शर्त पर कि हम लेंगे ही नहीं, देंगे भी, प्रकृति की सहायता भी करेंगे। अकादमीशियन श्वार्त्स का आह्वान था कि हम "परस्पर विश्वास" के आधार पर प्रकृति के साथ अपने संबंध बनायें। ऐसे संबंध अवश्य बना लिये जायेंगे। हां, फ़िलहाल तो पारिस्थितिक संकट का बड़ा गंभीर ख़तरा बना हुआ है।

किंतु एक बार फिर हम यह कहना चाहेंगे कि हमें प्रकृति की संस्कृति से रक्षा नहीं करनी है, उनका सहअस्तित्व सुनिश्चित करना है, बल्कि इससे भी अधिक अच्छा होगा अगर हम उनका सहबंध बनायें। मानवजाति, व्यक्ति की ही भांति, कभी-कभी अपनी ग़लतियों को देर से देखती है। वह शक्ति, जिससे प्रकृति के विनाश का ख़तरा पैदा हो गया है, निर्विलंब ही प्रकृति की रक्षा में लगायी जानी चाहिए।

पारिस्थितिकी और जनसांख्यिकी

भविष्य की पारिस्थितिकी की चर्चा करते हुए जनसंख्या की समस्याओं को भी नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता। जनसंख्या संकट को भी मानवजाति के भविष्य के लिए एक ख़तरा बताया जाता है। वास्तव में ही संसार की जनसंख्या पिछली लगभग एक शती में चार गुनी से अधिक बढ़ गयी है और इसकी तीव्र वृद्धि जारी है। इससे पहले की अनेक शतियों में जनसंख्या में वृद्धि काफ़ी धीमी थी, कभी-कभी तो यह घटती भी थी।

साथ ही इतिहासकार यह भी जानते हैं कि अत्यंत प्राचीन काल में जनसांख्यिक विस्फोट की कम से कम एक लहर और आयी थी। वैसे यह भी सच है कि संसार के अलग-अलग भागों ने शताब्दियों और सहस्राब्दियों के अंतराल से इस चरण में पदार्पण किया, और कई विशाल भूक्षेत्रों के लिए इस जनसांख्यिक विस्फोट का काल आया ही नहीं। हम "नवपाषाण-युगीन क्रांति" की बात कर रहे हैं, जब हस्तगतकारी जीवनयापन का स्थान उत्पादन पर आधारित जीवनयापन ने लिया।

पहले मिस्र और मेसोपोटामिया में अलग-अलग रह रहे आखेटकों के और कंद-मूल बटोरनेवालों के अपेक्षाकृत अल्पसंख्यक क़बीले कृषकों और पशुपालकों के लाखों की आबादीवाले जन-समुदाय बन गये। उस युग में जनसंख्या में ऐसी छलांग

का कारण सर्वप्रथम यह है कि भौतिक संपदाओं के उत्पादन की पद्धति में आमूल परिवर्तन आया, जिसके फलस्वरूप एक हैक्टर उर्वरा भूमि से किसान उतना आहार पाने लगा, जितना पहले आखेटकों और कंद-मूल बटोरनेवालों को अनेक वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल से मिलता था। अब हज़ारों लोग उस स्थान पर रह सकते थे, जहां पहले थोड़े-से लोग ही गुज़र करते थे। इसमें लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं है। "नवपाषाण-युगीन क्रांति" के दौरान वर्तमान फ़्रांस जितने भूक्षेत्र में जनसंख्या पांच हज़ार से बढ़कर पचास लाख हो गयी।

यह भी पाया गया है कि औद्योगिक क्रांति शुरू होने के साथ, अर्थात १७वीं–१८वीं शतियों से यूरोप की आबादी फिर से तेज़ी से बढ़ने लगी। एशिया, अमरीका और अफ़्रीका में जनसंख्या में वृद्धि का दौर बाद में आया, क्योंकि इन महाद्वीपों पर औद्योगिक क्रांति बाद में आयी।

सच्चे अर्थों में "जनसांख्यिक विस्फोट" २०वीं शती में ही हुआ। इसका एक प्रमुख कारण वैज्ञानिक-तकनीकी क्रांति है। बात केवल यह नहीं है (हालांकि इसका अक्सर और उचित ही उल्लेख किया जाता है) कि आधुनिक आयुर्विज्ञान की सफलताओं से अनेक देशों में बाल मृत्यु-दर बहुत घटी है और लोगों का औसत जीवन-काल बढ़ा है। एक दूसरा तथ्य यह भी है कि २०वीं शती के पांचवें-सातवें दशकों में अनेक देशों में अधिक फ़सल देनेवाली क़िस्मों, उर्वरकों तथा हानिकारक कीटों से रक्षा के लिए रासायनिक साधनों के उपयोग के फलस्वरूप प्रति हैक्टर पैदावार दुगनी और तिगुनी तक बढ़ी है।

निस्संदेह, यह सब संसार में जनसंख्या की वृद्धि में सहायक है, किंतु इससे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देशों में आबादी के बड़े भाग के लिए भुखमरी की समस्या, विकसित पूंजीवादी देशों में करोड़ों बेरोज़गारों के लिए कंगाली की समस्या हल नहीं होती है। प्रत्यक्षतः, इन समस्याओं के हल के लिए आमूल सामाजिक परिवर्तन अपेक्षित हैं।

वर्तमान जनसांख्यिक विस्फोट को क्या रोका जा सकता है और क्या उसे रोका जाना चाहिए? हमारा दृढ़ विश्वास है कि इस समस्या के प्रति उच्चतः सचेतन और मानवीय रुख अपनाकर समाज की सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति के पथ पर ही इसे हल किया जा सकता है।

अनेक विद्वान इस बात पर उम्मीद लगाये हुए हैं कि समाज एक उच्चतः आत्मनियमनकारी व्यवस्था है। जीवन-स्तर में और शिक्षा के स्तर में उत्थान

के साथ जन्म-दर का गिरना एक ऐसा तथ्य है, जो २०वीं शती में प्रायः सभी देशों में देखा जा सकता है। कतिपय शोधकर्ताओं की गणनाओं के अनुसार, कुछेक दशकों के पश्चात ही संसार के अधिसंख्य देशों में जनसंख्या स्थिर हो जायेगी। ऐसा स्वतःस्फूर्त ढंग से हो रही प्रक्रियाओं के फलस्वरूप तथा सुसंगठित और सचेतन रूप से हो रहे परिवार-नियोजन कार्य के फलस्वरूप भी होगा।

सांस्कृतिक पारिस्थितिकी

प्राकृतिक परिवेश की रक्षा हमारे युग की एक सवसे अधिक महत्वपूर्ण मांग है। किंतु मनुष्य केवल प्राकृतिक ही नहीं, सांस्कृतिक परिवेश में भी रहता है। यही कारण है कि आज संसार भर में संस्कृति की रक्षा का प्रश्न भी अधिक ज़ोर से उठाया जा रहा है।

इस समस्या पर अकादमीशियन द्मीत्री लिखाचोव ने 'संस्कृति की पारिस्थितिकी' शीर्षक से एक विशद लेख लिखा है। समस्या उन्होंने निम्न शब्दों में निरूपित की है:

"जैव पारिस्थितिकी के नियमों का पालन न होने से एक जीव के नाते मनुष्य की हत्या हो सकती है, सांस्कृतिक पारिस्थितिकी के नियमों का पालन न होने से मनुष्य की नैतिक हत्या हो सकती है। इनके वीच कोई अथाह गर्त नहीं, वैसे ही जैसे प्रकृति और संस्कृति के बीच कोई सुस्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं है।"

अपने लेख में उन्होंने मानव के सांस्कृतिक परिवेश की रक्षा की ओर लक्षित क़दमों का एक पूरा कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। इसमें चर्चा सर्वप्रथम वास्तुकला के स्मारकों की है।

ये सुंदर या ऐतिहासिक स्मृति की दृष्टि से अमूल्य भवन तो सांस्कृतिक परिवेश का महत्वपूर्ण ही सही, लेकिन एक अंश ही हैं।

अकादमीशियन लिखाचोव ने सांस्कृतिक पारिस्थितिकी के नाम से जिस ज्ञान-शाखा के विकास का आह्वान किया है, उसमें, हमारे विचार में, कहीं अधिक व्यापक दायरे की परिघटनाओं पर विचार किया जाना चाहिए। वास्तु-कलात्मक परिवेश के अलावा प्रत्येक व्यक्ति एक भाषायी परिवेश में भी तो रहता है।... लोक-साहित्य के क्षेत्र की भी चर्चा की जा सकती है: शैशवावस्था में हमें लोरियां सुनायी जाती हैं, बचपन में हम लोक-कथाएं सुनते हैं, बड़े हो जाने पर

हम लोक-गीत गाते या कम से कम रेडियो पर सुनते हैं।

खेदवश आज ऐसा देखने में आ रहा है कि साहित्यकारों द्वारा रचित कलात्मक संपदा को संस्कृति में वर्ष प्रति वर्ष अधिक स्थान देते हुए हम प्रायः अपनी बोलचाल का, दैनिक जीवन की भाषा का लालित्य खोते जाते हैं।

लोक-वाङमय के जानकार इस बात पर व्यथित हैं कि परंपरागत लोरियां हमारे जीवन में कम होती जा रही हैं, कहीं-कहीं तो बिल्कुल विलुप्त ही हो गयी हैं। बात यह नहीं है कि विद्वान अपनी ज्ञान-शाखा का विषय न रहने पर चिंतित हैं। सहस्रों वर्षों के अपने अस्तित्व में लोरियों में लाल-पालन के अनुभव का निचोड़ संचित हुआ है, वे "नैसर्गिक" वरण और परीक्षण से गुज़री हैं। ऐसे गीत आश्चर्यजनक ढंग से नन्हे शिशुओं की बोध-क्षमता के, उनके मानस की विशेषताओं के अनुकूल होते हैं। इनके अध्ययन से पता चलता है कि इनमें अद्‌भुत काव्य-बिंब होते हैं, मातृभाषा की संगीतात्मक तथा अन्य संभावनाओं का बड़ी कुशलता से उपयोग किया गया होता है।

एक सर्वेक्षण से पता चला है कि नोवोसिबीर्स्क में ५० वर्ष तक की आयु की माताओं और नानियों-दादियों में से ४३ प्रतिशत ने बच्चों को लोरियां नहीं सुनायीं। ३० वर्ष तक की आयु की माताओं में तो यह संख्या ७० प्रतिशत से अधिक है। हमारे विचार में, ऐसी माताओं ने अपने शिशुओं को जीवन की एक संपदा से वंचित रखा है।

सांस्कृतिक परिवेश के नाना क्षेत्रों से लिये गये अनेक ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं।

संक्षेप में, प्राकृतिक परिवेश की ही भांति, सांस्कृतिक परिवेश की ओर भी ध्यान देने, उसकी हितचिंता करने, उसे संवारने, अधिक श्रेष्ठ बनाने की आवश्यकता है।

समस्त सांस्कृतिक परिवेश की रक्षा के लिए हमारे सम्मुख जो कार्यभार उठते हैं, वे वास्तुकला की समस्या की सारी जटिलता के बावजूद उसके हल से कहीं अधिक कठिन हैं। सौंदर्यबोधात्मक दृष्टिकोणों में किसी भी तरह का भेद क्यों न हो, तो भी वास्तुकलात्मक स्मारक का सौंदर्य स्वयं पुकारता है: मेरी रक्षा करो! उसकी आयु भी उसकी रक्षा का आधार और जीर्णोद्धार का तर्क हो सकती है। अंततः, भवन "ठोस, वज़नी, दृश्य" होता है, आंखों के सामने रहता है।

उधर, यह समस्या कितनी कठिन है कि भाषा में कौन-से नाम और कौन-से शब्द, दैनंदिन जीवन की कौन-सी प्रथाएं, कौन-से अनुष्ठान, आज की संस्कृति के कौन-से लक्षण बचाये, संजोये रखना आवश्यक है और किनको इसके विपरीत भुला देना चाहिए तथा किनका रूप बदलते हुए, आनुष्ठानिक कृत्य का स्वरूप अधिक व्यापक बनाते हुए सक्रिय विकास करना चाहिए। इस या उस परंपरा के बारे में कोई निर्णय लेना कितना कठिन होता है! यह कहने की तो कोई आवश्यकता ही नहीं कि ऐसे निर्णय को क्रियान्वित करना कहीं अधिक कठिन है।

जीर्ण-शीर्ण भवन की मरम्मत की जा सकती है, ढह गयी पच्चीकारी के टुकड़े मिलाकर उसे फिर से "जिलाया" जा सकता है, विशेषतः मूल्यवान भवन को गुंबद से ढंका जा सकता है, या, जैसाकि नोवगोरोद में किया गया है, प्राचीन काष्ठ को ऐसे घोल से संसिक्त किया जा सकता है, जिससे वह कभी गलेगा नहीं। संक्षेप में यह कि ऐतिहासिक स्मारक तो स्मारक ही हैं, उन्हें ज्यों का त्यों बनाये रखना या संभव होने पर उन्हें उनका आरंभिक रूप प्रदान करना अपूरणीय कार्य नहीं है। इससे कहीं अधिक कठिन कार्यभार ऐसा कर पाना है कि प्राचीन नगर में नये भवनों का अपने ऐतिहासिक परिवेश के साथ वैषम्य न हो, कि वे इस परिवेश के बोध में बाधक न हों, उलटे, ऐतिहासिक क्रम में नगर के विकास की जो दिशा बनी है, उसे प्रतिबिंबित करें।

शब्द और संगीत में सांस्कृतिक परिवेश के विकास की जो कहीं अधिक सजीव, अस्थिर एवं गतिमान दिशाएं हैं, उन्हें संजोना और जारी रखना तो इससे भी कितना अधिक जटिल कार्यभार है! यहां सांस्कृतिक परिवेश की रक्षा की समस्या संस्कृति में नैरंतर्य और विकास की सामान्य समस्याओं के साथ जुड़ी हुई है। इस सब पर हम पुस्तक के अगले, अंतिम अध्याय में विचार करेंगे।

हमारी साझी धरोहर

संस्कृति के नायक

> खोज करने का अर्थ प्रायः पा लेना ही है: जो एक बार खोज की राह पर निकल पड़ता है, वह गंतव्य तक पहुंचकर रहेगा। वे लोग सौभाग्यशाली हैं, जिन्होंने गंतव्य पा लिया है, किंतु जो खोजरत हैं, वे भी सौभाग्यशाली हैं।
>
> **ओलिवर क्रोमवैल**

सबसे पहले आग किसने जलायी, बीज किसने बोया, पेड़ किसने काटा, मकान किसने बनाया?

सुदूर अतीत के इन सच्चे नायकों के नाम हम नहीं जानते हैं। और कभी जान भी नहीं पायेंगे, हालांकि एक प्राचीन कहावत है: "कभी नहीं" कभी मत कहो।

हमारे पूर्वजों को पूरा विश्वास था कि वे अग्नि का, पहिये और पाल का आविष्कार करनेवालों के नाम जानते हैं, संस्कृति की नींव रखनेवाली सभी महान विभूतियों के नाम जानते हैं।

यूनानी मिथकों के अनुसार, प्रोमीथियस लोगों के लिए आग लाया; उसने ही उन्हें शिल्पों का रहस्य सिखाया। पॉलीनीशिया के माउई नामक यक्ष ने इससे भी अधिक आश्चर्यजनक पराक्रम किये। वह स्वर्ग से नहीं, पाताल लोक से लोगों के लिए अग्नि लाया, तारो नामक कंद (ओशियाना की एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण फ़सल) और मछली पकड़ने का जादुई कांटा भी उसी ने लोगों को दिया। यही नहीं, माउई ने आकाश में सूर्य की गति धीमी की, मृत्यु पर विजय पाने का प्रयास किया। पॉलीनीशियाई लोगों को पूरा विश्वास है कि शकरकंदी, नारियल और कुत्ता भी उसी की देन हैं। उसी ने पहला भाला तथा, कुछ किंवदंतियों के अनुसार, पहला फंदा भी बनाया।

मिथकों और लोक-कथाओं के "प्रोमीथियस रूपी" पात्रों को "संस्कृति के नायक" कहा जाता है। लोक-कथाएं और किंवदंतियां मानवजाति के ऐसे दसियों और सैकड़ों उपकारकों के बारे में बताती हैं।

सुमेरियों की दंतकथाओं में मत्स्य-मानव लोगों को वह सब सिखाता है, जो मनुष्य को जानना चाहिए। कुछ अफ़्रीकी, अमरीकी और भारतीय किंवदंतियों में ऐसे नायक लोगों को धान, मक्का, सागू, आदि ही प्रदान नहीं करते, उन्हें अनुष्ठान तथा आचरण-नियम ही नहीं सिखाते, उन्हें काम-कला की शिक्षा भी देते हैं।

लोगों के ये सब शिक्षक और उपकारक वास्तव में हुए हैं या नहीं? ऐसे प्रश्न का क्या उत्तर दिया जा सकता है?

हुए भी हैं और नहीं भी। हुए हैं—क्योंकि लोगों के पास आग है, अनाज वे बोते हैं, मकान बनाते हैं। सो, ऐसा कोई हुआ है, जिसने सबसे पहले यह काम किया। और, नहीं भी हुए हैं... क्योंकि वे सब, जिन्हें संस्कृति के नायक कहा जाता है, मिथकों के अनुसार, देवी-देवता से उत्पन्न हैं, और देवी-देवता तो मानव-कल्पना की ही उपज हैं।

देवी-देवताओं में लोग जहां सर्वप्रथम प्राकृतिक शक्तियों को मूर्तित करते थे—वहीं संस्कृति के नायक अर्ध देवताओं-अर्ध मानवों में मानवजाति की रचनात्मक, सृजनकारी शक्ति मूर्तिमान होती थी। प्रत्येक नायक में नूतन के सैकड़ों-हज़ारों अज्ञात रचयिताओं के लक्षणों का संयोजन होता था।

प्रोमीथियस नाम प्रत्यक्षतः उस प्राचीन शब्द से बना है, जिसका अर्थ घर्षण से आग निकालनेवाला व्यक्ति रहा होगा। जिस लकड़ी को रगड़कर आग निकाली जाती थी, उसके लिए वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त शब्द भी यही अर्थ रखता था।

संस्कृति का नायक वे पराक्रम करता है, जो हज़ारों वर्ष पहले अनेक लोग कर चुके होते हैं।

सोवियत इतिहासकार ल० स० इल्यीन्स्कया ने पंखों के "आविष्कारक" डिडालस और उसके स्वामी एवं शत्रु क्रीट के राजा माइनोस से संबंधित प्राचीन यूनानी किंवदंतियों का विश्लेषण किया है। उन्होंने सिसली में, जहां डिडालस क्रीट से भागकर (मिथक के अनुसार, उड़कर) आया था, पुरातत्वीय खुदाई में प्राप्त उन वस्तुओं की ओर विशेष ध्यान दिया है, जो क्रीट संस्कृति का प्रभाव इंगित करती हैं, तथा उन भवनों के अवशेषों की ओर भी, जो, मिथकों के अनुसार,

डिडालस ने सिसली में बनाये। संभवत:, मिथक में डिडालस के पोत के पालों ने पंखों का रूप ग्रहण कर लिया, साथ ही किसी विलक्षण शिल्पी की स्मृति भी संजोये रखी, जिसके नाम के साथ कालांतर में यूनानियों ने अनेक ऐसे कार्य जोड़ दिये, जो वास्तव में उसने नहीं किये थे।

बीहड़ प्रकृति से मानव का संघर्ष, डरावने हिंस्र जंतुओं का वनों से सफ़ाया, दलदलों को सुखाना और बांध बनाने का कौशल भी – यह सब हर्क्युलिस के बारह पराक्रमों की कथाओं में प्रतिबिंबित हुआ। नेमियन व्याघ्र, भयावह वराह, सात सिरोंवाला जल-दैत्य – ये सब मानव द्वारा अविजित प्रकृति की शक्ति के प्रतीक हैं। हर्क्युलिस की यात्राएं मानव द्वारा संसार की खोजें प्रतिबिंबित करती हैं। वह दूरवर्ती मरुभूमियों पर विजय पाता है, आकाश को अपने कंधों पर टिकाये रखता है।

संगीतकार ऑर्फ़ियस का मिथक कला की महान शक्ति पर मानव की विमुग्धता व्यक्त करता है। ऑर्फ़ियस की लाइरा के स्वर तूफ़ानी लहरों को शांत कर देते हैं, वन्य जंतुओं को वशीभूत करते हैं, उसका संगीत पत्थरों तक को गतिमान कर देता है और वे अपने आप ही चिनते जाते हैं, नगर का परकोटा बनाते जाते हैं। इस गायक और वादक से मृत्यु भी हार मान लेती है – वह मृतकों के देश में आता है और देवता उसे अपनी पत्नी यूरिडिस को अपने साथ जीवितों के लोक में ले जाने देते हैं।

ऑर्फ़ियस के मिथक में उसका जन्म स्थान सही-सही बताया गया है – यह तत्कालीन फ़्राकिया देश का एक गांव है। यह गांव आज भी बुल्गारिया में विद्यमान है। संभव है कि यथार्थ जीवन में ऑर्फ़ियस का कोई प्ररूप रहा हो, जैसेकि डिडालस का था। बहरहाल, मिथकीय ऑर्फ़ियस सहस्रों गायकों और संगीतकारों का एकीकृत रूप है। हां, पृथ्वी पर ऑर्फ़ियस रहा है, क्योंकि आज भी मानव-हृदय संगीत से वशीभूत होते हैं, जैसेकि किंवदंती में मृत्युलोक के देवता का हृदय उससे वशीभूत हुआ था।

संस्कृति के नायक मानव-कल्पना में जीवित हैं, जिसने असंख्य लोगों के वास्तविक पराक्रमों को एकाकी महाबलियों की अतिमानवीय उपलब्धियों का रूप प्रदान किया है।

वास्तव में संस्कृति के नायक संसार के सभी जनगण के सभी मिथकों के नायकों से कहीं अधिक हुए हैं, हमारे कोटि-कोटि पूर्वज ही ऐसे नायक थे, किंतु इस बात

से इन नायकों का न यश कम होता है, न ही उनके प्रति हमारी कृतज्ञता।

मानवजाति की ऐतिहासिक स्मृति में अतीत की महानतम विभूतियों के ही नाम बन रहते हैं, प्रायः उनके नाम किंवदंतियों के कुहासे में छिपे होते हैं, हालांकि उन्हें न महाबली घोषित किया जाता है, न देवता; किंतु ये महान विभूतियां इस बात के फलस्वरूप ही प्रकट हुईं कि इनसे पहले और इनके साथ-साथ सहस्रों प्रतिभावान लोगों ने संस्कृति के इतिहास में अपना योगदान किया।

हम न्यूटन को साभार याद करते हैं, लेकिन कितने लोग उनके शिक्षक बेरो का नाम जानते हैं, जिन्होंने अपने शिष्य को अपने से अधिक योग्य मानकर उसे अपने पद पर आसीन किया?

काल अपना चयन करता है। लेकिन न्यूटन के ये शब्द कि यदि वह दूर तक देख पाये तो केवल इसलिए कि महान हस्तियों के कंधों पर खड़े थे – ये शब्द उनकी विनम्रता ही नहीं दर्शाते, सच्चाई की स्वीकृति भी हैं।

संसार की खोज करने और उसे बदलनेवाले केवल महापुरुष नहीं हैं। संसार के उज्ज्वल भविष्य के लिए ईमानदारी से परिश्रम करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति संस्कृति का नायक भी है। आइन्स्टीन और पिकासो, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और पाब्लो नेरुदा, मिचूरिन और गगारिन ने संस्कृति में अपना योगदान अपने सभी समसामयिकों की ओर से किया है।

फ़्रांस में शार्त्र मठ के निर्माताओं के बारे में एक पुरानी दंतकथा है।

तीन आदमी ठेलों में पत्थर ढो रहे थे।

बारी-बारी प्रत्येक से पूछा गया कि वह क्या कर रहा है।

"देखते नहीं, पत्थर ढो रहा हूं," पहला बोला।

"बाल-बच्चों के लिए रोटी कमा रहा हूं," दूसरे ने ठंडी आह भरकर कहा।

"मैं शार्त्र मठ बना रहा हूं," तीसरे ने सगर्व उत्तर दिया।

तीनों सच कह रहे थे। पहले और दूसरे का सत्य विशाल सत्य का अंश था। लेकिन केवल तीसरा व्यक्ति ही संसार में अपना स्थान समझता था, अपने को इतिहास का अंश महसूस करता था।

तो, आइये, हम अपने लिए यह कामना करें कि हम छोटे और आंशिक कामों में ही नहीं, अपने जनगण और सारी मानवजाति के कार्यों में अपनी सहभागिता की भावना बनाये रखें। मानवजाति ने जो कुछ बनाया है, वह हमने भी बनाया है।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति – वह खराद पर पुर्ज़ा बनाता हो या अन्न उगाता हो, भौगोलिक मानचित्र बनाता हो या गुरुत्वाकर्षण का अध्ययन करता हो, या पुस्तक लिखता हो – अपने श्रम से ऐतिहासिक प्रक्रिया में भाग लेता है, मानवजाति की संस्कृति में अपना योगदान करता है।

कौन हो तुम,
कहां हो तुम,
कैसे हो तुम,
– नहीं इसमें
अमरता तुम्हारी।
विश्व-जन का
कुसुम-कुंज,
तारक-पुंज
धरतीवासियों का –
अमर है बस यही!

निकोलाई असेयेव

इतिहास के स्रष्टा

लोग स्वयं अपना इतिहास बनाते हैं – यह बात बहुत पहले से ज्ञात है। सुदूर अतीत में भी वे प्रायः अपने को ऐतिहासिक घटनाओं का कर्ता अनुभव करते थे। इतिहास में अपनी सहभागिता केवल राजा-महाराजा ही नहीं अनुभव करते थे। प्राचीन यूनानी त्रासदियों में हम आज भी उन लोगों का स्वर सुनते हैं, जिन्हें यह विश्वास था कि वे देवताओं का भी मुक़ाबला कर सकते हैं। भारतीय और लैटिन अमरीकी, ईरानी और पॉलीनीशियाई मिथक हमें ऐसे वीरों की गाथाएं सुनाते हैं, जिन्होंने आकाशवासी देवी-देवताओं की सत्ता को चुनौती दी। ये वीर तो वास्तविक लोगों के विचारों और भावनाओं का मूर्तरूप ही हैं। ईसाई धर्म में भी, जहां सदियों तक परमेश्वर की सत्ता पर कोई संदेह नहीं किया गया, श्रेष्ठ लोग अपने को दैवी इच्छा का निष्क्रिय वाहक मात्र नहीं, अपितु विश्व का निर्माता अनुभव करते थे।

इतिहास की गति की अनुभूति कब और कैसे प्रकट हुई?

प्रथम इतिहासकारों के प्रकट होने से बहुत पहले ही किंवदंतियों से और फिर कवियों के मुंह से लोग अतीत की गाथाएं सुनते आये थे। इसका अर्थ है: उन दिनों भी यह धारणा विद्यमान थी कि सदा सब कुछ वैसा नहीं रहा है, जैसा आज है, कि संसार बदलता आया है। इन परिवर्तनों की नियमसंगतियों का अहसास मनुष्य को अभी नहीं था, किंतु वह अतीत में वर्तमान की व्याख्या अवश्य खोजने लगा था।

इस प्रश्न को ही लें कि लोग अलग-अलग भाषाएं क्यों बोलते हैं। आस्ट्रेलिया के मूलनिवासी इस प्रश्न का यह उत्तर देते हैं: बहुत पहले सभी लोग एक ही भाषा बोलते थे, लेकिन इसके कारण वे अक्सर लड़ते-झगड़ते थे, सो शांति और मैत्री के हित में भाषाएं अलग-अलग हो गयीं। पश्चिमी एशिया में इस प्रश्न के उत्तर में बाबुल की मीनार की किंवदंती बनी। लोगों ने आकाश तक ऊंची यह मीनार बनाने की सोची, उनका यह दुस्साहस देखकर भगवान ने निर्माताओं की भाषाएं गड्डमड्ड कर दीं—अब वे एक दूसरे की बात नहीं समझ सकते थे।

इतिहास मानवजाति की अपनी जीतों और हारों की, सफलताओं और ग़लतियों की स्मृति है। लोग इसीलिए अतीत पर नज़र डालने, उसे समझने का प्रयत्न करने लगे, क्योंकि वे वर्तमान और भविष्य के बारे में सोचने लगे थे।

रोमन इतिहासकार टाइटस लीवियस ने अपने विशद ग्रंथ 'नगर (रोम) की स्थापना से' की भूमिका में लिखा था:

"इतिहास के अध्ययन का नैतिक लाभ और फलप्रदता इस बात में ही है कि तुम मानो एक भव्य स्मारक पर नाना उदाहरणों का अवलोकन करते हो: यहां अपने लिए और राज्य के लिए अनुकरणीय निदर्श भी पाये जा सकते हैं, और यहीं पर तुम कुछ निकृष्ट और लज्जास्पद भी पाओगे, जिससे बचना चाहिए।"

इतिहास के प्रति ऐसा दृष्टिकोण प्राचीन युग की ही अभिलाक्षणिकता नहीं है।

इतिहास के बारे में लार्ड बोलिंगब्रोक (१६७८-१७५१) के विचार भी रोचक हैं। वह अपने जमाने में ब्रिटेन के एक प्रमुख राजनेता रहे, राजनीतिक कारणों से उन्हें देश छोड़कर भी जाना पड़ा। लेखक ऐजेन स्क्रिब ने

अपनी श्रेष्ठ कामदी 'एक गिलास पानी' का एक पात्र भी उन्हें बनाया। लार्ड बोलिंगब्रोक लिखते हैं:

"इतिहास से अनुराग मानव-प्रकृति के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ प्रतीत होता है, क्योंकि वह स्वयं अपने से लगाव से अविच्छेद्य है। यही मूल कारण हमें आगे और पीछे, आगामी और विगत शतियों की ओर आकर्षित करता है। हम यह कल्पना करते हैं कि जो बातें हमें उद्विग्न करती हैं, उनमें हमारे वंशजों की भी रुचि होगी।... मेरे विचार में, इतिहास वह दर्शन है, जो उदाहरणों की मदद से हमें शिक्षा देता है।

"...महामहिम, यह सारा संसार ही उदाहरणों का विद्यालय है और इसमें शिक्षक हैं इतिहास एवं अनुभव।... हम अनुभव को आत्मसात कर पायें, इसके लिए हमें तैयार करने तथा जब तक हम यह अनुभव पा रहे हों, तब तक हमारा साथ देने के लिए, अर्थात हमारे सारे जीवन के दौरान ही इतिहास नितांत आवश्यक है।

"हम मानो विगत शतियों में लौट जाते हैं–उन लोगों से हमारा वास्ता होता है, जो हमारे से पहले हुए हैं, उन देशों में पहुंचते हैं, जो हमने कभी नहीं देखे। इस प्रकार हमारे लिए दिक् का प्रसार होता है और काल जारी रहता है। जो व्यक्ति अल्पायु से ही इतिहास के अध्ययन में रत होता है, वह कुछ वर्षों में ही... किसी कुलपति की तुलना में मानवजाति के बारे में न केवल अधिक व्यापक धारणा बना सकता है, बल्कि कहीं अधिक शतियों का अनुभव आत्मसात कर सकता है।"

आज, जबकि परिशुद्ध और प्राकृतिक विज्ञानों की उपयोगिता इतनी स्वतोस्पष्ट है, हमें प्राय: यह याद करना चाहिए कि विगत युगों के विद्वान और चिंतक मानविकी विज्ञानों की भूमिका के बारे में क्या सोचते थे। और केवल स्मरण ही नहीं करना चाहिए। मार्क्स और एंगेल्स ने अपनी शिक्षा का भवन क्या इतिहास द्वारा, दार्शनिक और आर्थिक चिंतन के इतिहास द्वारा भी, प्रदत्त आधार पर ही नहीं खड़ा किया? प्रत्येक परिघटना को उसके विकास-क्रम में देखने, वर्तमान को अतीत के साथ जोड़ने की योग्यता की बदौलत ही वे इतिहास के नियम देख पाये और यह समझ पाये कि भविष्य में इन नियमों का कार्य कैसे प्रकट होगा।

चिंतन की इतिहासपरता एक अमूल्य गुण है, जिसकी आवश्यकता केवल इतिहासकारों, केवल विद्वानों को ही नहीं है। इससे हम सबको यह समझने में

मदद मिलती है कि संसार में क्या हो रहा है। इतिहास की बदौलत हमें अपने युग के लोगों और घटनाओं की अतीत के लोगों और घटनाओं से तुलना करने का अवसर मिलता है तथा समाज के विकास के मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धांत की बदौलत हम संसार में जो कुछ हो रहा है, उसके अधिक गहन संस्तर देख पाते हैं, लोगों के कार्यों के बीच संबंध ही नहीं स्थापित कर पाते, बल्कि गहन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का स्वरूप भी प्रकट कर पाते हैं।

समाज के विकास के मूलभूत नियमों तथा फलतः संस्कृति के इतिहास के नियमों की भी खोज में मानवजाति ने सैकड़ों वर्ष लगाये हैं।

यहां हम इसके विस्तार में न जाकर प्रमुख बात की ओर ही पाठकों का ध्यान दिलाना चाहेंगे। क्या यह एक संयोग मात्र है कि इतिहास के भौतिक आधार और प्रेरक शक्ति की खोज महान क्रांतिकारियों कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स ने ही की, जो संसार की केवल व्याख्या करना ही नहीं, उसका पुनर्गठन करना भी दर्शन का कार्यभार मानते थे?

नहीं, यह संयोग नहीं है। यह नियमसंगत बात थी। वास्तव में ही संसार को केवल वही समझ सकता था, जो उसके क्रांतिकारी पुनर्गठन की आवश्यकता को समझता था। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि मार्क्सवादी शिक्षा एक खाली स्थान पर प्रकट हुई। १८वीं शती में ही वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के एक महान अग्रदूत, यूटोपियाई समाजवादी सें-सिमों वर्तमान के अनेक लक्षण केवल इसलिए देख पाये थे कि वह सर्वप्रथम भविष्य के बारे में सोचते थे। उन्होंने यह पाया कि इतिहास का प्रमुख अंतर्य शत्रुतापूर्ण वर्गों का संघर्ष ही है, वह संघर्ष, जिसके दौरान तथा जिसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवस्थाएं बदलती हैं।

मार्क्स इससे कहीं अधिक आगे बढ़े। समाज के विकास की नैसर्गिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के बारे में अपना विचार निरूपित करने के लिए उन्होंने सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में से आर्थिक क्षेत्र को तथा सामाजिक संबंधों के सभी क्षेत्रों में से उत्पादन संबंधों को मूलभूत और सभी दूसरे संबंधों का निर्धारण करनेवाले संबंधों के रूप में अलग किया। इन उत्पादन संबंधों की पद्धति में मार्क्स ने सामाजिक-आर्थिक विरचना का आधार, समाज का मूलाधार देखा, जिसपर राजनीतिक-विधिक अधिरचनाओं तथा सामाजिक चिंतन के विभिन्न रूपों का भवन खड़ा होता है। उत्पादक शक्तियों के विकास की निश्चित अवस्था में बननेवाली उत्पादन संबंधों की प्रत्येक पद्धति सभी विरचनाओं के लिए सामान्य नियमों द्वारा

तथा किसी एक विरचना के विशेष नियमों द्वारा भी शासित होती है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद ने वर्ग-संघर्ष की व्याख्या वैरभावपूर्ण वर्गों में विभाजित समाज के विकास की प्रेरक शक्ति के नाते की है, यह दिखाया है कि मजदूर वर्ग का संघर्ष अनिवार्यतः समाजवादी क्रांति तथा सर्वहारा के अधिनायकत्व की ओर ले जाता है, कि इस अधिनायकत्व का लक्ष्य सभी वर्गों को नष्ट करना तथा वर्गहीन कम्युनिस्ट समाज का निर्माण करना है।

मार्क्सवाद द्वारा खोजे गये इतिहास के प्रमुख नियम उन सभी समाजों में कार्यरत हैं, जिनसे मिलकर मानवजाति बनी है। ये नियम अप्रतिरोध्य शक्ति से कार्यरत हैं। किंतु यदि समाज के विकास के नियमों का कार्य इतना अडिग है, तो फिर इतिहास में मनुष्य का क्या स्थान है? क्या वह नियतिनिर्दिष्ट अवश्यं-भाविता के साथ कार्यरत सामाजिक नियमसंगतियों का दास मात्र है? इतिहास की लहरों में एक तिनका भर है? क्या वह ऐसा जीव है, जिसके लिए कोई विकल्प नहीं है, जिसे चुपचाप अपने भाग्य को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि उसके विरुद्ध हर विरोध का निष्फल होना पहले से ही बदा है?

इतिहास के सामाजिक नियमों के आविष्कार में मार्क्सवाद के विरोधियों ने ऐतिहासिक भाग्यवाद ही देखा। वे मार्क्स पर यही आरोप लगाते थे कि, उनके सिद्धांत के अनुसार, मनुष्य इतिहास का आज्ञाकारी साधन मात्र है।

ऐसे आलोचकों को मार्क्स ने क्या जवाब दिया?

"**इतिहास कुछ भी नहीं** करता। ... 'इतिहास' नहीं, मानव ही, वास्तविक, जीता-जागता मानव ही यह सब करता है, हर चीज का स्वामी है और हर बात के लिए संघर्ष करता है। 'इतिहास' कोई विशेष व्यक्ति नहीं है, जो अपने ध्येयों की प्राप्ति के लिए मनुष्य का एक साधन के रूप में उपयोग करता है। इतिहास और **कुछ नहीं** अपने ध्येयों की ओर अग्रसर मानव का कार्यकलाप ही है।"

सोवियत विद्वान अकादमीशियन निकोलाई कोनरद ने इतिहास में मनुष्य के महत्व का बिल्कुल सही मूल्यांकन किया है।

इतिहास में मनुष्य के पास चयन की, विकल्प की स्वतंत्रता होती है, या, जैसा कि कोनरद लिखते हैं, "यह कहना, शायद, अधिक सही होगा कि यह स्वतंत्रता होती नहीं, **प्रकट होती है**... जब यह आवश्यक होता है, तब वह प्रकट होती है। ऐसे क्षण में मानव अपना मानवीय दायित्व निभाता है।"

लोग यदि वास्तव में लोग हैं, तो वे कठपुतलियां नहीं होते। इतिहास के

मंच पर वे जो भूमिकाएं अदा करते हैं, उन्हें वे निश्चित हद तक स्वयं ही चुनते हैं।

किसी भी पैमाने के ऐतिहासिक तथ्यों के मूल्यांकन में अकादमीशियन कोनरद मानव को ही प्रस्थान-बिंदु बनाते हैं। इस "शाश्वत" प्रश्न पर विचार करते हुए भी कि इतिहास किधर बढ़ रहा है, क्या मानवजाति के विकास को उचित ही प्रगति कहा जा सकता है।

तो क्या इतिहास का विकास-क्रम प्रगति का साक्षी है?

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए पहले प्रगति का मापदंड, उसके प्रति उपागम की कसौटी और उसपर विचार का दृष्टिकोण ढूंढ़ना चाहिए। कोनरद इसका निम्न उत्तर देते हैं:

"इतिहास साक्षी है कि मनुष्य तर्कबुद्धिसंपन्न और सामाजिक जीव है। इसलिए मानव के ऐतिहासिक कार्यकलाप में प्रगतिशील उसे माना जा सकता है, जो उसकी प्रकृति के इन मूलतत्वों के अनुरूप है और उनके निरंतर अधिक पूर्ण मुकुलन में सहायक होता है।"

इसके साथ ही तर्कबुद्धि के कार्यकलाप और सामाजिक तत्व के कार्य में परस्पर समन्वय होना चाहिए।

"तर्कबुद्धिसंगतता और सामाजिकता एक समष्टि – मानव – के ही गुण हैं, और इसका अर्थ है कि वे किसी सामान्य मूलतत्व द्वारा शासित हैं।... इस मूलतत्व के... अलग-अलग नाम रखे गये हैं और विभिन्न युगों में इसे अलग-अलग ढंग से समझा गया है, किंतु इसके सार का बोध सदा एकसमान ही रहा है।"

यह मूलतत्व मानववाद है!

"मानववाद का विचार मानवजाति के सामाजिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक विकास के सारे पथ में सदा उसके साथ रहा है," अकादमीशियन कोनरद लिखते हैं। "किंतु ऐसे युग भी आये हैं, जब वह विशेषत: प्रबल शक्ति के साथ प्रकट हुआ।

"ऐसे युगों में पहला प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य में आरंभ हुआ। तब लोगों ने अपने महान शिक्षकों, मनीषियों, पैग़ंबरों के मुंह से मानववाद के बारे में सुना।... लोग एक सीधे-सादे सत्य से अवगत हुए: कोई भी दूसरा व्यक्ति भी मनुष्य है, इससे तुम्हारा यह कर्तव्य बनता है कि तुम उसे भी अपने जैसा ही समझो, उसके प्रति वैसा ही रुख़ अपनाओ, जैसा अपने प्रति। बेशक, अलग-

चित्रकार व्लादीमिर सेरोव ने इतिहास का एक अनुपम क्षण अपने चित्र में प्रतिबिंबित किया है—लेनिन रूस में १९१७ की अक्तूबर क्रांति की विजय की घोषणा कर रहे हैं।

अलग शिक्षाओं में ऐसे रुख की अभिव्यक्ति अलग-अलग थी, किंतु मर्म एक ही था।"

कोनरद के लिए मानववाद कोई अमूर्त परिघटना नहीं है, जो सभी युगों, सभी देशों तथा समाज के सभी संस्तरों की समझ में एक जैसी रहती है। कोनरद यह देखते हैं और दिखाते हैं: मानववाद निश्चित सामाजिक परिस्थितियों में जन्म लेता और विकसित होता है, युगानुसार बदलता है; मानववाद के विचार को विभिन्न सामाजिक वर्ग अलग-अलग ढंग से समझते और उसका उपयोग करते हैं; और सदा ही इस विचार का भी समाज के गठन पर प्रभाव पड़ता है।

कोनरद के शब्दों में, मानववाद वह आत्मिक अस्त्र था, जिसकी सहायता से दासप्रथात्मक व्यवस्था का अंत किया गया।

इसी क्रम में हम कह सकते हैं: बुर्जुआ वर्ग जब नवोदित और अग्रणी वर्ग था, तब सामंतवादी जगत को मिटाने के लिए बुर्जुआ क्रांतियां भी मानववाद के नारों के साथ ही हुईं। और कम्युनिस्टों का, जिन्होंने बुर्जुआ मानववाद के पाखंड का पर्दाफ़ाश किया है, कार्यक्रम सच्चे अर्थों में मानववादी है।

कोनरद कहते हैं कि आज मानववाद का प्रमुख कार्यभार सामाजिक अन्याय, उत्पीड़न और शोषण को मिटाना है तथा सभी देशों को युद्ध से विमुख कराना है, जोकि हिंसा का सबसे बड़ा कृत्य है।

इसमें मदद इतिहास के सारे अनुभव से ही मिलनी चाहिए!

"विभिन्न देशों में मानववादियों ने मानव-व्यक्तित्व का मूल्य अलग-अलग बातों में देखा: स्वाभाविक ही है कि अपने दृष्टिकोणों में वे अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों पर निर्भर थे। चीन के पुनर्जागरण काल के मनीषियों के लिए मानव-व्यक्तित्व का मूल्य आत्मपरिष्कार की मनुष्य की क्षमता में ही मुख्यतः निहित था; ईरान और मध्य एशिया के मानववादी यह मूल्य इस बात में देखते थे कि मनुष्य नैतिक उदात्तता, उदारता, मैत्री जैसे उच्च नैतिक गुण पा सकता है; इटली में पुनर्जागरण के प्रतिनिधि मानव को मुख्यतः तर्कबुद्धि, विवेक के वाहक के रूप में देखते थे, तर्कबुद्धि और विवेक को वे मानवीयता की सर्वोच्च अभिव्यक्ति मानते थे।

"इस प्रकार यह पता लगाने के लिए कि वास्तव में प्रगतिशीलता क्या है, हमारे पास स्वयं इतिहास द्वारा बनायी गयी कसौटी है। यह कसौटी है अपने दोहरे पहलू में मानववाद: मानव-प्रकृति के विशिष्ट गुणों के संज्ञापन के नाते मानववाद तथा मानव-आचरण और समस्त सामाजिक जीवन के सर्वोपरि, विवेकसंगत और

साथ ही नैतिक मूलतत्व के अर्थ में इन गुणों के मूल्यांकन के नाते मानववाद।

"इस प्रस्थापना के प्रकाश में इतिहास के सारे अंधकारमय पृष्ठों को, पीड़ा और दुख के उस महासागर को, जिसमें मानवजाति डूबी थी और आज भी डूबी हुई है, दूसरी दृष्टि से देखा जा सकता है। यह सब हुआ है और हो रहा है, किंतु मानवजाति की सच्चे अर्थों में महान उपलब्धि और, संभवतः, प्रगति की सर्वोपरि अभिव्यक्ति यह थी कि लोगों ने इस सबको पहचाना, बुराई को बुराई, हिंसा को हिंसा, अपराध को अपराध कहा। ये शब्द किन्हीं कृत्यों अथवा परिघट-नाओं के नाम मात्र नहीं हैं, ये मूल्यांकन हैं, इनकी तीव्र भर्त्सना हैं। ये शब्द पीड़ाजनित हैं, विकास और संघर्ष की प्रक्रिया में बने हैं।"

निस्संदेह, कोनरद स्पष्ट करते हैं, वर्गाधारित समाज में मानववाद की संकल्प-ना का वही अर्थ लगाया जाता है, जो इस या उस वर्ग के हितों के अनुरूप होता है।

किंतु "वर्गाधारित समाज में भी मानवजाति के श्रेष्ठ प्रतिनिधि, उसके अंतः-करण के प्रवक्ता सदा भलाई और बुराई को सभी से संबंध रखनेवाली धारणा मानते थे, अर्थात भलाई और बुराई की धारणा को सभी लोगों के सामान्य हितों के क्षेत्र में रखते थे। यह अलग बात है कि ऐसी धारणा उनके ऐतिहासिक युग में क्रियान्वित नहीं हो सकती थी। तो भी, वह विशाल भूमिका अदा करती थी — मानवजाति के ऐतिहासिक पथ पर एक भव्य मार्गचिह्न का काम देती थी।"

कोनरद ऐसे युग का स्वप्न देखते थे, जब नैतिक प्रवर्ग और सर्वप्रथम मानव-वाद के प्रवर्ग न केवल मानव-आचरण के, बल्कि सारे सामाजिक और राजकीय जीवन के मानक बन जायेंगे।

२०वीं शती के सबसे अधिक संकटपूर्ण वर्षों में भी यह विद्वान उस भविष्य के बारे में सोचता रहा, जब मानव मानवीयता का मूर्तरूप होगा।

क्या वह स्वप्नद्रष्टा थे? हां। और उनके स्वप्न का आधार था ज्ञान। इस बात का ज्ञान भी कि सभी युगों में लोगों का स्वप्न क्या रहा है।

एंगेल्स ने एक बार इस मत को बेतुका कहा था कि मार्क्सवाद इतिहास पर विचारधारा के प्रभाव की संभावना को अस्वीकार करता है। मानववाद की भूमिका ऐसे प्रभाव की वास्तविकता का एक प्रमाण है।

मानवजाति की संस्कृति के साथ-साथ वह भी विकसित और परिष्कृत होता है, जिसे व्यक्ति की संस्कृति कहा जा सकता है। आजकल आर्थिक दृष्टि से विक-सित वस्तुतः सभी देशों में अनिवार्य माध्यमिक शिक्षा लागू की जा

चुकी है, और आज के स्कूल छात्र तैयार रूप में वह ज्ञान पाते हैं, जिसे हासिल करने में सैकड़ों मेधावी लोगों ने, हज़ारों प्रतिभाओं ने और, अंततोगत्वा, कोटि-कोटि लोगों ने अपना पूरा जीवन लगाया। तकनीक के क्षेत्र में ज्ञान और उसका उपयोग करने का कौशल बढ़ा है। "उच्च विद्या" तक, कला और साहित्य के अनमोल रत्नों तक पहुंच रखनेवाले लोगों का दायरा अपरिमित हो गया है।

किंतु यहां भी एक "किंतु" है।

अमरीकी लेखक कूर्ट वोन्नगट के फ़ंतासी उपन्यास 'यूटोपिया-१४' में एक दृश्य है, जिसमें २१वीं शती के एक अमरीकी को यह समझाया जाता है कि महा-शक्तिशाली राजा जूलियस सीज़र के पास फ़्रिज नहीं था, जबकि उसके पास, एक साधारण अमरीकी के पास, फ़्रिज भी है और टेलीविजन भी। लेकिन बस बेचारे के जीवन का कोई अर्थ नहीं है, साइबरनेटिक्स के प्रभुत्ववाले देश में, जहां अल्पतंत्र का शासन है, उस बेरोज़गार के दक्ष हाथों की भी किसी को ज़रूरत नहीं है।

मानवजाति के लिए भविष्य अर्थगर्भित, हर्षमय श्रम का युग होना चाहिए और उस सुख का, जो विचारों और भावनाओं की पूर्णता से प्राप्त होता है।

इतिहास के त्रासिक क्षणों में भी लोग उज्ज्वल भविष्य के बारे में सोचते हैं, उसके लिए प्रयत्न करते हैं। सोवियत लेखकों अलेस आदमोविच और दनील ग्रानिन की 'नाकेबंदी की पुस्तक' में मानव की महिमा की अनमोल कथाएं हम पाते हैं। यह लेनिनग्राद की नाकेबंदी के बारे में पुस्तक है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। लेखक बताते हैं:

नाकेबंदी के भयंकर दिनों में विज्ञान अकादमी के अभिलेखागार के कर्मी, पुराने रूसी बुद्धिजीवी गेओर्गी क्न्याज़ेव चलने-फिरने में प्रायः अक्षम हो चुके थे, भुखमरी के कारण मृत्यु उनके सिर पर मंडरा रही थी। ऐसे में भी उन्होंने अपनी डायरी में लिखा:

"मैं कभी भी यह स्वीकार नहीं कर पाया हूं कि जीवन अर्थहीन है, कि जीना बस सांस लेना ही है, न ही दूसरी अति मुझे स्वीकार है कि मैं भविष्य के खेत में डलनेवाली खाद ही हूं।... मानवजाति का भविष्य सांस्कृतिक भविष्य है, संस्कृति का उत्कर्ष है।... यही विचार मुझे आज, मानवजाति के जीवन के इन कठोर, अंधकारमय दिनों में प्रोत्साहित करता है। यही विचार मुझे उन सबके साथ मिलकर जूझने की शक्ति देता है, जो इस भावी सुसंस्कृत मानवजाति के लिए संघर्ष कर रहे हैं।"

मार्क्सवादी इतिहास से शिक्षा पाना जानते हैं–भविष्य के निर्माण के लिए शिक्षा पाना।

मार्क्सवाद की शक्ति इसी बात में है कि नैरंतर्य के सिद्धांत को समाज और मानव-चिंतन के प्रगामी विकास की अनिवार्य शर्त घोषित करते हुए वह अतीत के अनुभव में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उसे ग्रहण करता है।

मानवजाति के इतिहास में अनेकानेक दार्शनिक पद्धतियां बनी हैं। इनमें अधिसंख्य यह घोषित करती थीं कि वे सभी पूर्ववर्ती शिक्षाओं को अस्वीकार करती हैं, ताकि पूर्णतः नया विश्व-दृष्टिकोण बना सकें। लेकिन मार्क्सवादी दर्शन के प्रवर्तकों ने पूर्ववर्ती दार्शनिक शिक्षाओं के साथ अपने मत का संबंध खुलेआम और साफ़-साफ़ इंगित किया।

मार्क्सवादी-लेनिनवादी दर्शन ने १८वीं–१९वीं शतियों के दार्शनिकों की महानतम उपलब्धियों को आत्मसात किया, किंतु केवल उन्हें ही नहीं। मार्क्स और एंगेल्स ने अनेक बार एपीक्यूरस और टाइटस लुक्रेशियस कारस के, पुनर्जागरण काल के, भारत तथा पूर्व के दूसरे देशों के महान चिंतकों के योगदान की ओर ध्यान दिलाया था।

ऐतिहासिक नैरंतर्य की अनुभूति, सहस्राब्दियों के अनवरत क्रम में अपने काल का ज्ञान अमूल्य है। क्रांतियों ने सदा अपने नेताओं को, महान लोगों को यह अनुभूति प्रदान की है।

१९१७ की क्रांति में रूसी वोल्शेविकों ने पेरिस कम्यून के अनुभव का उपयोग किया, १९१८-१९२१ के गृहयुद्ध के कठोर दिनों में उन्होंने विदेशी हस्तक्षेपकारियों से देश की रक्षा संगठित करने में तथा प्रतिक्रांतिकारी विद्रोहों से संघर्ष में जैकबि-यनों की विधियों को याद किया।

१९३४ में, जब सोवियत देश अपनी प्रतिरक्षा-क्षमता सुदृढ़ कर रहा था, कवि मिखाईल स्वेत्लोव ने लिखा:

उछला घोड़ा, सरपट दौड़ा,
काल का बंधन उसने तोड़ा!
अश्वरोही रोबसपियर का,
देखो, लेकर आया संदेश।
आज देश की प्राण-रक्षा को,
रण-कौशल तुम पुनः निखारो।

महान देशभक्तिपूर्ण युद्ध के दिनों में अतीत के विलक्षण रूसी सेनापतियों द्मीत्री दोन्स्कोइ और अलेक्सान्द्र नेव्स्की, कुज़्मा मीनिन और द्मीत्री पोभ्कार्स्की, अलेक्सान्द्र सुवोरोव और मिखाईल कुतूज़ोव का सैनिक कौशल और अनुभव भी हमारे साथ था। अतीत को जानते हुए तथा उसमें वर्तमान के योग्य जो कुछ है वह सब ग्रहण करते हुए ही भविष्य के लिए संघर्ष में जीता जा सकता है।

मनुष्य सामाजिक संबंधों की समष्टि है, किंतु ऐसा होते हुए वह कोई अमूर्त वस्तु नहीं बन जाता है। प्रत्येक मनुष्य में पूरी मानवजाति, उसका अतीत और वर्तमान, अतः भविष्य भी मूर्तित है। प्रत्येक व्यक्ति मानवजाति की संस्कृति का जीता-जागता रूप है और साथ ही उसका स्रष्टा भी।

बढ़ती एकता, बढ़ती विविधता

अभी कुछ समय पहले तक नृजातिविज्ञानी, और केवल वे ही नहीं, "अखिल-विश्व" संस्कृति की एकरूपता पर चिंता व्यक्त कर रहे थे। इस संस्कृति को पश्चिमी यूरोपीय, यूरोपीय-अमरीकी, औद्योगिक या नगरीय संस्कृति कहा जाता था। अलग-अलग नामों के पीछे सार एक ही था। पश्चिमी यूरोप के नगरों से सारे संसार में एक जीवन-पद्धति फैल रही थी—एक ओर, बुर्जुआ वर्ग की, दूसरी ओर, सर्वहारा वर्ग की।

वर्तमान राष्ट्रीय संस्कृतियों में विश्वव्यापी तत्वों तथा विशिष्ट, मौलिक, नृजातीय तत्वों का नाना प्रकार से संयोजन होता है। उत्तरी अमरीका में, अर्थात संयुक्त राज्य अमरीका और कनाडा में स्थानीय नृजातीय दलों का संस्कृति में योगदान न्यूनतम है। पश्चिमी यूरोप में स्थिति बिल्कुल भिन्न है, हालांकि यहां पर ही "अखिलविश्व" नगरीय सभ्यता के मूलाधार बने।

स० अ० अरुत्यूनोव लिखते हैं: "ठेठ शहरी रहन-सहन में भी, उदाहरणतः, हैम्बर्ग और वियेना के बीच भेद, उससे भी अधिक हद तक स्टाकहोम और मैड्रिड या लंदन और एथेंस के बीच भेद उत्तरी अमरीकी नगरों एटलांटा और टोरोंटो के बीच भेदों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। यूरोप के देशों में तो... परंपरागत संस्कृति के अनेक तत्वों को, जैसे कि समारोही परिधान, पर्वों, अनुष्ठानों, संगीत, गीतों, नृत्यों, इत्यादि को बनाये रखा गया है और पुनरुज्जीवित तक किया जा रहा है।"

लैटिन अमरीका में अधिकांश स्थानों पर नगरों और देहातों की विपरीतता पायी जाती है, नगरों में जहां "अखिलविश्व" संस्कृति की प्रधानता है, वहीं देहातों में नृजातीय रंग में रंगा परंपरागत रहन-सहन बना हुआ है, जिसमें नीग्रो या रेड इंडियनों की संस्कृति से बहुत कुछ बचा रहा है। दक्षिण अमरीका में लोक-संस्कृति के लक्षण कार्निवल तथा दूसरे उत्सवों के समय अपने पूरे वैभव में प्रकट होते हैं।

"अखिलविश्व" और राष्ट्रीय संस्कृति के तत्वों के सुसंयोजन का अनुपम उदाहरण समसामयिक जापान है। जापान के लोग "अखिलविश्व" संस्कृति की प्रमुख उपलब्धियों और विशिष्ट लक्षणों को ग्रहण करने के साथ-साथ अपनी नृजातीय, परंपरागत संस्कृति की मूलभूत विशिष्टताओं को बनाये रखने में भी सफल रहे हैं। यहां यूरोपीय पहनावे में काम पर जाया जाता है, घर पर परंपरागत जापानी वस्त्र धारण किये जाते हैं, इत्यादि। इस सिलसिले में जापानियों से बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

"अखिलविश्व" ("नगरीय") संस्कृति तथा नृजातीय संस्कृति की अन्योन्यक्रिया अलग-अलग ढंग से, अलग-अलग गति से और अलग-अलग परिणामों के साथ हो रही है। एक सामान्य लक्षण अवश्य इंगित किया जा सकता है: संसार के सभी कोनों में "नगरीय" सभ्यता के पैठने की औसत गति बढ़ रही है। ऐसे परिवर्तनों के कुछ प्रत्यक्षदर्शियों ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि २०वीं शती की सभ्यता में ऐसी भयानक शक्ति है जो सबको एक जैसा बनाती है, कि पृथ्वी को इतनी आकर्षक बनानेवाले नृजातीय भेद ही यदि पृष्ठभूमि में धकेल दिये जायेंगे, तो चारों ओर कैसी नीरस, उकताऊ एकरूपता छा जायेगी।

परंतु फिर नृजातिविज्ञानियों ने इस "अखिलविश्व" संस्कृति को अधिक ग़ौर से देखा और पाया कि, एक तो, वह इतनी एकरूपी नहीं है जितनी आरंभ में प्रतीत होती थी, दूसरे, वह इतनी शुद्धतः पश्चिमी यूरोपीय या यूरोपीय-अमरीकी भी नहीं है।

१६वीं—२०वीं शतियों में वह संस्कृति, जिसे प्रायः यूरोपीय कहा जाता है, संसार के बड़े भाग में फैल गयी। इसके साथ ही अनेकानेक सांस्कृतिक मूल्य नष्ट हुए, सर्वप्रथम, यूरोपीय देशों द्वारा पराधीन बनाये गये जनगण के मूल्य। किंतु यूरोपीय बुर्जुआ सभ्यता का विनाशकारी प्रभाव स्वयं यूरोपीय जनगण की परंपरागत जातीय संस्कृतियों पर भी पड़ा। उदाहरणतः, स्पेन में बास्कों तथा फ़्रांस में

ब्रेटनों की प्राचीन संस्कृतियों का इतना अधिक पुनर्गठन हुआ कि उनमें बहुत कुछ नष्ट हो गया। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अलास्का से आस्ट्रेलिया तक, सर्वत्र ही तथाकथित अखिलविश्व संस्कृति एकरूपता फैला रही है।

लेकिन मामले के दूसरे पहलू की ओर भी ध्यान देना चाहिए: नृजातीय संस्कृतियों पर प्रभाव डालते हुए "अखिलविश्व" संस्कृति कुछ मामलों में उनकी उत्तराधिकारिणी भी बनती है। आज के आस्ट्रेलिया में बूमरैंग से शिकार शायद ही कोई करता हो, लेकिन लंदन, पेरिस और मास्को के अहातों में बच्चे गत्ते या प्लास्टिक के बने बूमरैंग चलाते हैं। यूरोप के और कालांतर में उत्तरी अमरीका के नगर "अखिलविश्व" संस्कृति के पहले केंद्र बने। किंतु आरंभ से ही इस संस्कृति में अनेक ऐसे तत्वों का समावेश हुआ, जो न नगरीय मूल के थे और न ही यूरोपीय मूल के।

संसार के सभी देशों के नगरवासियों के आहार में चाय और काफ़ी, आलू और टमाटर, मकई और कोको, इत्यादि शामिल हैं। जहां तक पहनावे का प्रश्न है, पिछले दशकों में उत्तरी जनगण की हुडवाली जैकट, जापानियों की हवाई चप्पल, रूसी महिलाओं के घुटनों तक ऊंचे बूटों और दक्षिणी अमरीका की पोंचो शाल का दुनिया भर में प्रचलन हो गया है।

दो बॉडियों वाले कैटामरान जलपोत आज सभी महाद्वीपों के सागरों, नदियों में चलते हैं। ऐसे पोत बनाने का विचार प्रशांत महासागर के पुराने स्वामियों—पॉलीनीशियाई लोगों—के अनुभव पर आधारित है।

रूसी 'मत्र्योश्का' गुड़िया संसार भर में गृह-सज्जा की वस्तु या खिलौने के रूप में प्रचलित हो गयी है। सोवियत संघ आनेवाले विदेशी पर्यटक एक दूसरी के भीतर समानेवाली इन गुड़ियों के सेट अवश्य ले जाते हैं। सोवियत लोग भी विदेश जाते समय अपने नये मित्रों को भेंट करने के लिए मत्र्योश्का ले जाते हैं। अनेक विदेशियों के लिए यह प्यारी गुड़िया रूस का प्रतीक बन गयी है। लेकिन रूस में इसे प्रकट हुए अधिक समय नहीं हुआ है। पिछली शती के अंत में ही मास्को-अंचल के अब्रामत्सेवो गांव में कलाप्रेमी उद्योगपति साव्वा मामोंतोव की शिल्पशाला में पहली मत्र्योश्का गुड़ियां बनायी जाने लगीं। पहली मत्र्योश्का का रूप खोजते हुए कलाकार मल्यूतिन और बढ़ई ज्व्योज्दचकिन ने जापानी खिलौने दारुमा को आधार बनाया। बिना टांगों का यह खिलौना भारतीय मनीषि बोद्धिधर्म का ही चित्र था, जिन्होंने पांचवीं शती ई० में चीन में बौद्ध धर्म का

प्रचार किया। मध्य युग में उनकी शिक्षा जापान में फैली और उसके साथ ही उनके बारे में किंवदंतियां भी। जापान में वह दारुमा के नाम से प्रसिद्ध हुए। कहा जाता है कि कठोर तपस्या के कारण उनकी टांगें सूख गयीं। इस रूप में ही उनकी काष्ठ-मूर्तियां बनायी जाने लगीं, जो बाद में ठेठ जापानी खिलौना बन गयीं। जापानी शिल्पी इन गुड्डों के चेहरे में दारुमा के भारतीय नयन-नक़्श, जो जापानी लोगों के लिए असाधारण थे, विशेष बारीकी से उकेरते थे। रूसी शिल्पियों ने मत्र्योश्का को न केवल नये नयन-नक़्श प्रदान किये और नये परिधान में चित्रित किया, बल्कि एक के अंदर एक समानेवाली कई गुड़ियों के रूप में इसे बनाया।

अब भारत में, जहां डेढ़ हज़ार साल पहले बोद्धिधर्म का जन्म हुआ था, अपनी "मत्र्योश्का" गुड़ियां बनायी जाती हैं। इनका चेहरा भारतीय नारियों का होता है और वे साड़ी पहने होती हैं।

यह कहानी इस दृष्टि से ही उल्लेखनीय है कि यह कोई अद्वितीय घटना नहीं है। कितने ही ऐसे छोटे-बड़े सांस्कृतिक रत्न विभिन्न जनगण के सहसृजन से बनते हैं! हमारे चारों ओर की कितनी ही वस्तुओं में दिक् और काल में बहुत दूर की संस्कृतियों के चिह्न पाये जा सकते हैं!

कला को ही लीजिये। इसकी उन विधाओं से आरंभ करें, जो हमारे जीवन में, विशेषतः युवाजन के जीवन में, सबसे अधिक स्थान पाती हैं। हमारा अभिप्राय संगीत और नृत्य से है।

२०वीं शती की अनेक उपमाओं में एक "जाज़ युग" भी है। जाज़ की रचना अमरीका के नीग्रो लोगों ने की, जिन्होंने अफ़्रीकी लयों की प्रचुर संपदा का पूरा उपयोग किया। यूरोप, अमरीका और एशिया में आज फ़ाक्स्ट्रोट, रूम्बा, साम्बो और कई दूसरे नाच नाचे जाते हैं, जो अफ़्रीका की देन हैं।

यूरोप-इतर कला का सभ्य पुरानी दुनिया में यह प्रवेश १६वीं शती में ही आरंभ हो गया था। तब भी अमरीका के रास्ते सरबंदा नृत्य स्पेन पहुंचा था। इस नृत्य में स्पेनी, अफ़्रीकी और रेड इंडियन संगीत परंपराओं का संगम हुआ था। यूरोप में जोश-उमंग भरे इस तूफ़ानी नाच को अपने अस्तित्व के लिए भीषण संघर्ष करना पड़ा। यह नाच नाचनेवाले पुरुषों को दो सौ कोड़ों और छह वर्ष तक सैनिक पोतों पर कठोर परिश्रम की सज़ा मिलती थी। इसी "गुनाह" के लिए स्त्रियों को कोड़ों से

सज़ा देकर स्पेन से निकाल दिया जाता था। इस सबके बावजूद सरबंदा यूरोप में चल निकला, हां, इसका स्वरूप काफ़ी बदल गया। १७वीं शती में ही यह शोभा-यात्रा का नृत्य बन गया और इसकी धुन तो इतनी बदल गयी कि उसे गिरजे में बजनेवाली धुनों में स्थान मिला। यही नहीं, शोक समारोहों में भी सरबंदा नृत्य होने लगा।

१९वीं शती के मूर्धन्य यूरोपीय स्वरकारों के संगीत में दूसरे जनगण की धुनों और लयों का व्यापक समावेश हुआ और इन जनगण के परिचित तत्वों को लेकर इन तक पहुंचा।

विभिन्न संगीत परंपराओं के परस्पर प्रभाव और परस्पर समावेश के बारे में द्मीत्री शोस्ताकोविच के विचार देखिये:

"... एक बात में मेरा दृढ़ विश्वास है कि मानवजाति की संस्कृति के सम्मुख नाना राष्ट्रीय संगीत परंपराएं सिद्धांततः समान हैं। ... मेरे विचार में, बात विभिन्न संगीत पद्धतियों की "संयोज्यता" अथवा "असंयोज्यता" की नहीं है, बल्कि यह कि नृजातीय और भौगोलिक दृष्टि से भिन्न जनगण की संस्कृतियों की अन्योन्यक्रिया और परस्पर प्रभाव की समस्या किन विधियों और उपायों से हल की जाती है। ...

"मुझे यह लगता है कि राष्ट्रीय, जातीय परंपरा के विकास के स्वाभाविक और नियमसंगत रूपों में से एक अपने परिवेश के साथ, नयी सामाजिक परिस्थितियों तथा जन-चेतना में उत्थान के साथ उसका प्रत्यक्ष संबंध ही नहीं है, अपितु उसकी यह क्षमता भी कि दूसरी परंपराओं में (ये कभी-कभी बहुत भिन्न भी हो सकती हैं) वैचारिक और प्राविधिक दृष्टि से जो कुछ भी सच्चे अर्थों में प्रगतिशील है, उसे वह आत्मसात कर सके, उससे अपने को समृद्ध बना सके। ...

"बोरोदिन, बालाकीरेव, मुसोर्गस्की, रीम्स्की-कोर्साकोव द्वारा पूर्व के जनगण के लोक-संगीत के प्रतिमानों और तत्वों को ग्रहण किये जाने से क्या उनका सृजन अधिक समृद्ध नहीं हुआ है? बोरोदिन के 'पोलोवेत्स नृत्यों', बालाकीरेव के 'इस्लामेया', मूसोर्गस्की के 'फ़ारसी युवतियों के नृत्यों', रीम्स्की-कोर्साकोव के 'शहरेज़ादी' के बिना तथा पूर्व के बारे में संगीत के अन्य अनेक पृष्ठों के बिना रूसी संगीत कितना विपन्न होता। मास्को और लेनिनग्राद के कई स्वरकारों ने मध्य एशिया के जनतंत्रों में कैसा भगीरथ कार्य किया है।

उनके प्रयासों से यहां अभूतपूर्व अल्प ऐतिहासिक अवधि में स्वरकारों की अपनी शैलियां वन गयी हैं, जो अपनी जातीय समाजवादी संस्कृति के निर्माण के लिए रूसी और पश्चिमी यूरोपीय संगीत के अनुभव से लाभान्वित हो रही हैं।..."

मूर्तिकला और चित्रकला, गद्य-लेखन और काव्य-रचना भी इसी प्रकार वड़े उत्साह से अनेक जनगण के अनुभव को आत्मसात करते हैं।

यूरोपीय और सर्वप्रथम रूसी गद्य जापान में पहुंचकर वहां साहित्य-दृष्टि में क्रांति लाया, और अब जापानी लेखक – तुर्गेनेव एवं तोलस्तोय के शिष्यों के अनुयायी – अपना अनुभव विश्व-साहित्य को प्रदान कर रहे हैं।

कितनी पुरानी है यह बात, जब अनेक यूरोपीय और उत्तरी अमरीकी लोग लैटिन अमरीका की कल्पना अतीत के एक वैचित्र्यपूर्ण अभयारण्य के रूप में ही करते थे? आज लैटिन अमरीकी देशों के मेधावी लेखकों का एक पूरा वृंद विश्व-साहित्य में अपना योगदान कर रहा है। हम उनकी रचनाओं पर विमुग्ध होते हैं और उन्हें यशस्वी यूरोपीय और एशियाई लेखकों की कृतियों के समकक्ष रखते हैं। इसके साथ ही हम यह भी समझते हैं कि स्टेनडाल और टैगोर के विना पेरू के मारिओ वर्गास ल्योसा न हुए होते, होफ़मान और गोगोल के विना कोलम्बिया के गब्रीएल गार्सिया मार्केस न हुए होते। भविष्य की महान साहित्यिक कृतियों पर, उन्हें चाहे कोई भी लिखेगा, ल्योसा और मार्केस की प्रतिभा की छाप होगी, भले ही इन कृतियों के लेखक उन्हें अपना शिक्षक न कहें।

१८वीं शती के श्रेष्ठ जापानी चित्रकार यथार्थवादी चित्रकला से परिचित होने के पश्चात पुराने ढंग से, परंपरागत सांकेतिक, प्रतीकात्मक शैली में चित्र नहीं बना सकते थे। लेकिन उन्होंने अपनी मौलिकता नहीं खोयी, दो कला-परंपराओं का उन्होंने संश्लेषण किया। इस संश्लिष्ट कला का अनुपम उदाहरण हैं होकुसाई की प्रसिद्ध कृतियां। १९वीं शती में जव फ़्रांसीसी चित्रकारों ने यह जापानी कला देखी, तो वे यथार्थ के चित्रण की मौलिक विधियों पर मुग्ध हो गये और उन्होंने जापानी चित्रकारों से बहुत कुछ सीखा।

समसामयिक मूर्तिकार अतीत के अफ़्रीकी और रेड इंडियन मूर्तिकारों से शिक्षा पा रहे हैं। इसे वह १९वीं शती के अंत से कला में आया फ़ैशन मात्र मानना शायद ही उचित होता। दिग्गज जर्मन चित्रकार अल्ब्रेख्त ड्यूहरर आज से चार

सौ साल पहले हुए थे। मैक्सिको की कला पर अपना सम्मोहन उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया था:

"अपने सारे जीवन में मैंने ऐसा और कुछ भी नहीं देखा, जिस पर मेरा हृदय इतना पुलकित हुआ हो, जितना इन वस्तुओं को देखकर। इन आश्चर्यजनक कृतियों को देखकर मैं दूसरे देशों के लोगों की मेधा पर दंग रह गया।"

विभिन्न जनगण के लेखक, चित्रकार, मूर्तिकार और वास्तुकार एक दूसरे को समझते हैं और लोगों को दूसरे देशों की, भिन्न प्रकृति की आत्मा समझना सिखाते हैं।

प्रत्येक कला जातीय, राष्ट्रीय होती है और यही विश्व संस्कृति की विविधता का आधार है।

कारेल चापेक ने बिल्कुल उचित ही लिखा है:

"क्या कारण है कि डिकंस, जो इंगलैंड के सभी लेखकों में सबसे अधिक ठेठ अंग्रेज़ लेखक हैं, विश्व-लेखक बन गये हैं? किस चीज़ की बदौलत गोगोल और दूसरे वे लेखक, जिन्होंने ऐसे रूसी साहित्य की रचना की है कि उससे अधिक रूसी और कुछ हो ही नहीं सकता, विश्वविख्यात हो गये हैं? ... और ठेठ स्कैंडिनेवियाई लेखक हामसुन (हैमसन)? तथा अन्य अनेक ऐसे लेखक, जिन्होंने चाहे-अनचाहे अपने देश और अपनी जाति की आत्मा और प्रकृति की अभिव्यक्ति प्रदान की, उसके विशिष्ट चरित्रों और जीवन को चित्रित किया? ... कोई कृति जितनी अधिक ठेठ अंग्रेज़, रूसी, स्कैंडिनेवियाई होती है, उतनी ही अधिक हद तक वह विश्वव्यापी महत्व का प्रत्यक्ष एवं साधार दावा करती है। ..."

संसार में अभी कितने ही ऐसे सांस्कृतिक रत्न हैं, जो सारी मानवजाति की संपदा नहीं बने हैं, या फ़िलहाल जिनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया है, या जिन्हें भुला दिया गया है, और शायद, कितने ही विलुप्त हो चुके हैं।

दूर-दराज़ के देशों की कला अलग चर्चा का विषय है। उसका "बाज़ार" भाव बहुत ऊंचा है, देश जितना अधिक दूरवर्ती और अनजाना है, उतना ही यह भाव ऊंचा है। किंतु, हो सकता है, पश्चिमी अफ़्रीका में कहीं कोई अल्पसंख्यक क़बीला ऐसा पौधा उगाता हो, जो सारे संसार के लिए उतना ही महत्वपूर्ण सिद्ध हो, जितना कभी आलू सिद्ध हुआ था। हो सकता है, यायावर क़बीले कूबू के आखेटक दल को किसी ऐसी जड़ी-बूटी का ज्ञान हो, जो दिल के दौरे से

बचाती हो। हो सकता है, फ़िलीपीन के वाद्य रूपांतरित होकर वायलिन का स्थान ले लें, उसे पृष्ठभूमि में हटा दें, वैसे ही जैसे कभी वायलिन ने मध्ययुगीन मधुर वाद्य ल्यूट का स्थान लिया था।

क्या हम विभिन्न कटिबंधों के लोगों के जीवन और उनके द्वारा कायाकल्प किये गये भौगोलिक परिवेश का अध्ययन इस उद्देश्य से करते हैं कि उसे जानें-समझें ही नहीं, उससे कुछ ग्रहण भी करें?

संसार की प्रत्येक जाति का अनुभव आज, हमारे युग में, तथा उससे भी अधिक हद तक आनेवाले युग में, भविष्य में हमारे काम आयेगा।

उदाहरणतः, १९वीं शती में जब ध्रुव-विजय का बीड़ा उठाया गया, तो यूरोपीय यात्री एस्कीमो लोगों के वस्त्र पहनकर और स्लेजगाड़ियों में जोते जानेवाले कुत्ते लेकर अपने अभियानों पर निकले।

व्यावहारिक उपयोग के मूल्यों के अलावा कुछ अन्य मूल्य भी हैं। पॉलीनीशियाई किंवदंतियों, रूसी लोक-कथाओं और भारतीय मिथकों को तो उपयोगिता की दृष्टि से नहीं आंका जा सकता।

समस्त मानव-संस्कृति सारी मानवजाति की है।

भविष्य के लिए परंपराएं

अब अंतिम अध्याय में हम एक बार फिर उन समस्याओं पर लौटते हैं, जिन पर इस पुस्तक में हम पहले विचार कर चुके हैं, किंतु अब हम उन्हें एक नये दृष्टिकोण से देखेंगे। न चाहते हुए भी हमें यदि कुछ दोहराना पड़ेगा, तो ऐसा व्यर्थ ही नहीं होगा। निम्न बात पर ज़रा सोच-विचार कीजिये।

अज्ञात भविष्य का आभास पाने में सक्षम विज्ञान-कथा लेखक, अपने प्रशंसकों के लिए नये-नये संसारों की रचना करनेवाला चित्रकार तथा शतरंज का खिलाड़ी, जो बाज़ी को बचानेवाली ऐसी चाल ढूंढ़ लेता है कि दूसरे किसी को उसका ख्याल तक नहीं आ सकता था – उनमें से प्रत्येक, हम में से किसी भी व्यक्ति की ही भांति, प्रति दिन अपने को ऐसी स्थितियों में पाता है, जिनमें उसका आचरण अन्य सभी लोगों जैसा होता है, या, यों कहें, उसी संस्कृति के अन्य सभी लोगों जैसा। वह दशाब्दियों या शताब्दियों से चले आ रहे एक ढर्रे के अनुसार ही व्यवहार करता है। ऐसे बंधे-बंधाये आचरण के कुछ उदाहरण देखिये। पुरुष पुरुष

से मिलने पर स्वयं अभिवादन के लिए हाथ आगे बढ़ाता है, स्त्री से मिलने पर इस बात की प्रतीक्षा करता है कि कब वह हाथ आगे बढ़ाये, पूछता है: "क्या हाल-चाल है?", किसी अपरिचित व्यक्ति से वह सिगरेट मांग सकता है (लेकिन छोटे-से-छोटा सिक्का मांगने में हिचकिचायेगा), भोजन के पश्चात वह "धन्यवाद" कहता है।... फ़ौजी व्यक्ति किसी दूसरे फ़ौजी से मुलाक़ात होने पर सलामी के लिए हाथ सिर की ओर ले जाता है (बशर्ते वह टोपी पहने हो)। युवक-युवती कहीं मिलनेवाले हों, तो युवती देर से आ सकती है। पुरुषों के कमीज़, कोट, ओवरकोट के बटन एक ओर बंद होते हैं, स्त्रियों के वस्त्रों पर दूसरी दिशा में। शतरंज, मुक्केबाज़ी, कुश्ती या दूसरी किसी भी क्रीड़ा प्रतियोगिता में पराजित खिलाड़ी विजयी खिलाड़ी से हाथ मिलाता है, उसे बधाई देता है। मेहमान हज़ार बार क्यों न कहे कि वह खा-पीकर आया है, आप उसे कुछ खाये-पिये बिना घर से नहीं जाने देंगे। रूसी देहाती मकान चौकोर होता है, ज़ुलु लोगों का परंपरागत मकान गोल। जहाज़ अक्सर तो नहीं डूबते, लेकिन जब भी जहाज़ डूबे, कप्तान सबसे बाद में उसे छोड़ता है।

हमारा जीवन ऐसी स्थितियों से भरा पड़ा है, जिनके लिए कभी-कभी लिखित नियमों द्वारा, किंतु बहुधा अलिखित नियमों द्वारा एक निश्चित आचरण निर्धारित है। एकसमान स्थितियों में विभिन्न लोगों द्वारा दोहरायी जानेवाली रूढ़िबद्ध संक्रियाएं असंख्य हैं।

'येव्गेनी ओनेगिन' उपन्यास का अट्ठारह वर्षीय लेन्स्की, जो "अलसायी" कविताएं लिखता है, अपने को अपमानित समझने पर वही करता है, जो उसके रचयिता महान रूसी कवि अलेक्सान्द्र पुश्किन ने सैंतीस वर्ष की आयु में किया।

इसके पचास वर्ष पश्चात ही, १९वीं शती के अंत में, ऐसी स्थिति में द्वंद्व-युद्ध न हुआ होता। तब तक आचरण-रूढ़ि बदल चुकी थी।

...आपने कभी यह देखा है कि डेढ़ साल का बच्चा अपने आप सीढ़ियों पर कैसे उतरता है? उसके लिए यह बहुत कठिन होता है, प्रत्यक्षतः वह अत्यंत जटिल, उत्तरदायित्वपूर्ण, यहां तक कि जोखिमभरा काम कर रहा होता है। बात यह नहीं कि बच्चा छोटा है। नन्हे मानव को हर बार नये सिरे से यह तय करना होता है कि वह कौन-सा पांव आगे बढ़ाये और कैसे बढ़ाये। उसमें अभी आवश्यक यंत्रवतता विकसित नहीं हुई होती। वयस्क तो क्या, उससे थोड़े बड़े

बच्चे को भी ऐसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता, उसके पांव "स्वयं जानते हैं" कि सीढ़ियों पर उन्हें कैसे चलना चाहिए। बेशक, यह एक तुलना ही है।

मनुष्य को यदि हर स्थिति में नया निर्णय लेना होता, हर काम करते समय अपनी आचरण-पद्धति बनानी पड़ती, तो उसका जीवन अत्यधिक कठिन होता। हमें यह नहीं सोचना पड़ता कि चावल हाथ से खायें, या कांटे, चम्मच अथवा चीनी कांटे (चॉप स्टिक) से खायें। प्रत्येक संस्कृति में अपने परंपरागत उपाय हैं, वैसे ही जैसे कि अभिवादन के, परिचय पाने के, लड़ने-झगड़ने के अपने परंपरागत नियम हैं।

लिफ़्ट के केबिन में अपरिचित लोगों के बीच अपने को पाने पर हम प्राय: अटपटा महसूस करते हैं। अभिवादन करना चाहिए या नहीं, थोड़ी देर के इस साथ में लोगों की ओर देखना चाहिए या नज़रें झुका लेनी चाहिए? आचार-व्यवहार की शिक्षा में जो परंपराएं हम पाते हैं, उनमें ऐसी स्थिति का प्रावधान नहीं है।

इस या उस दृष्टि से "सामान्य" प्राय: सभी स्थितियों के लिए "सामान्य" आचरण-नियमों का होना गहन सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक अर्थ रखता है। इससे हर मामले में नये सिरे से पूर्णत: स्वतंत्र निर्णय लेने की आवश्यकता का बोझ व्यक्ति की चेतना पर नहीं रहता। पीढ़ियों का संचित, सामूहिक अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा-दीक्षा से प्राप्त होता है और उसे सामान्य, रूढ़िबद्ध स्थितियों में सामान्य कार्य करना सिखा देता है, जिसके फलस्वरूप मस्तिष्क असाधारण स्थितियों का समाधान करने और कार्यों का मूल्यांकन करने के लिए स्वतंत्र रहता है। ये समाधान और मूल्यांकन तो वास्तव में ही बंधे-बंधाये ढर्रे पर नहीं होने चाहिए।

परंपराओं द्वारा पूर्वनियत हज़ारों सामान्य स्थितियों में चिंतन की मौलिकता, प्रतिभा, असाधारण शारीरिक शक्ति – सब बराबर हो जाते हैं, कुछ समय के लिए उनकी कोई भूमिका नहीं रहती। आचार-व्यवहार के रूढ़िबद्ध नियमों में अमुक समाज (सामंतवादी, पूंजीवादी, समाजवादी), अमुक संस्कृति (रूसी, भारतीय, अमरीकी ...), अमुक जाति (बश्कीर, मैक्सिकन, फ़्रांसीसी ...), अमुक व्यावसायिक समूह (सैनिक, खनिक, किसान ...), अमुक धर्म (हिंदू, बैपटिस्ट, इस्लाम ...) के लोगों में जो कुछ सामान्य है, साझा है, उसी को

(कभी-कभी तो सारी मानवजाति के लिए ही सामान्य को) ध्यान में रखा जाता है, न कि उसको जो व्यक्तिगत है।

संसार के जनगण में से प्रत्येक ने आचार-व्यवहार के जो रूढ़िबद्ध नियम बनाये हैं, उनका भंडार ही सबसे अधिक समृद्ध, दैनंदिन जीवन के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा सबसे अधिक विविधतापूर्ण है। प्रत्येक ने आचरण-नियमों का अपना "भंडार" बनाया है। ये नियम कुछ हद तक दूसरे जनगण के नियमों जैसे ही होते हैं, कुछ बातों में उनसे भिन्न होते हैं। ये नियम समय के साथ बदलते रहते हैं और विभिन्न आयु-वर्गों, सामाजिक समूहों, व्यवसायों, इत्यादि के लोगों की चेतना में वे अलग-अलग रूप धारण करते हैं।

सामूहिक अनुभव का कितना भव्य ऐतिहासिक (किंतु वर्तमान काल को भी अपने परिसर में लेता हुआ) भंडार है यह!

इतिहास में प्रत्येक परंपरा ने जीने का अधिकार पाने के लिए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से परीक्षा दी है। निस्संदेह, इसके साथ ही आचार-व्यवहार के निरर्थक और यहां तक कि निश्चित हद तक, किंतु बहुत हद तक नहीं, हानिकारक नियम भी प्रायः बने रह सकते हैं। शायद, इसलिए भी कि सामान्य स्थितियों के लिए व्यवहार के किसी भी प्रकार के नियम न होने के बजाय किसी न किसी तरह के रूढ़िबद्ध नियमों का होना ही अच्छा है (सीढ़ी पर बच्चे के साथ तुलना याद कीजिये)। सर्वाधिक हानिकारक नियम तो शीघ्र ही विलुप्त हो जाते रहे होंगे, कभी-कभी तो उन्हें माननेवाले पूरे समुदायों के साथ ही। उदाहरणतः, ऐसा समाज देर तक नहीं बना रह सकता था, जिसमें सगे भाई-बहनों का विवाह होता था—ऐसे समाज का आनुवंशिक ह्रास होते अधिक समय न लगता!

अस्तित्व की परिस्थितियां बदलती रहती हैं। कल तक जिस परंपरा का वंश-क्रम बनाये रखने के लिए कोई महत्व नहीं था, या जो उपयोगी थी, आज हानिकारक हो सकती है, सो उसे परिवर्तित करना आवश्यक है।

कोई जाति यदि कृषि-कार्य करने लगती है, तो यायावर जीवन की उसकी आदत जाती रहती है। प्राचीन रोम का समाज जब उत्थान पर था, तो उसकी परंपराओं में यह नियम भी शामिल था: युद्ध में पराजय के पश्चात शांति-संधि नहीं करनी है। रोमन साम्राज्य के अपकर्ष के काल में इस नियम का पालन बंद हो गया। प्राचीन रूसी योद्धाओं का परंपरागत शस्त्र दुधारी तलवार थी,

मंगोलों के साथ युद्धों के अनुभव से इनका स्थान एकतरफ़ा धारवाली तलवार ने ले लिया।

सांस्कृतिक परंपरा को प्रायः नवाचारों के मुक़ाबले में रखा जाता है। किंतु इनके बीच विरोध सापेक्ष ही है। संस्कृति को उसके विकास में, गतिक्रम में देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है। लोगों के किसी समूह द्वारा आचार-व्यवहार में स्वीकृत कोई भी नवाचार अंततः स्वयं एक परंपरा बन जाता है।

आम जीवन में हम परंपराओं को कोई बहुत पुरानी, अपरिवर्तनीय और अटल बात मानते हैं। किंतु वास्तव में हमारे चारों ओर कुछ परंपराओं के परिवर्तन और पुनर्गठन की (भले ही ब्योरों में) अनवरत प्रक्रिया होती है, कुछ परंपराएं लुप्त होती हैं और कुछ प्रकट होटी हैं।

अनेक पीढ़ियों तक वही परंपराएं बनी रहती हैं, जो जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल होती हैं। एक ओर, परंपराओं तथा, दूसरी ओर, सामाजिक एवं भौगोलिक परिवेश के बीच दोतरफ़ा संबंध निरंतर कार्यरत रहता है—कुछ परंपराओं को वह पुनर्गठित करता है, कुछ को अस्वीकार। सामाजिक व्यवहार प्रत्येक समाज में प्रचलित रूढ़िबद्ध आचार-नियमों को परखता और अपने अनुकूल ढालता है।

वर्तमान ऐतिहासिक युग में सामाजिक विकास की गति अत्यंत तीव्र हो गयी है। समसामयिक समाज अभूतपूर्व गति से बदल रहा है। अन्य बातों के अलावा परंपराओं के बनने और लुप्त होने की गति भी तेज़ हो गयी है। इनमें अनेक तो इतनी तेज़ी से प्रकट और लुप्त होती हैं कि सहस्राब्दियों के दौरान बना दोतरफ़ा संबंध का क्रियातंत्र इन पर कोई प्रतिक्रिया ही नहीं कर पाता, व्यवहार में समाज के लिए उपयोगिता की परीक्षा से गुज़रे बिना ही परंपरा प्रायः विस्मृति के गर्भ में समा जाती है। उधर, सदियों से चली आ रही, जानी-परखी परंपराओं की अनु-कूलन-क्षमता भी संस्कृति के परिवर्तन की द्रुत गति के कारण क्षीण पड़ती जा रही है।

१६वीं शती के अंत—२०वीं शती के आरंभ में रूसी देहात सदियों पुरानी परंपराओं से समृद्ध था। निस्संदेह, उनमें अनेक ऐसी भी थीं, जिन पर गर्व नहीं किया जा सकता और जिनके लुप्त होने पर खेद करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

किंतु रूसी किसानों को सदियों के अंकुश से जिन विराट सामाजिक परिवर्तनों

ने मुक्त कराया, उन्हीं ने रूसी देहात की पुरानी परंपराओं के उस अंश को भी झकझोर दिया, जिसको आज भी विद्वान और लेखक ऊंचा आंकते हैं। अतीत का अध्ययन उसे न सजा-संवारकर और न ही उसका महत्व घटाकर, बल्कि उसके विविध पहलुओं का संयत मूल्यांकन करते हुए किया जाना चाहिए।

परंपराएं समाज के लिए नितांत आवश्यक हैं, वह उनके बिना जी नहीं सकता। उनकी अनुकूलन-क्षमता, उनकी भूमिका कैसे बनायी रखी जाये, जो मानवजाति के अस्तित्व के लिए इतनी महत्वपूर्ण है?

आज विमान, पनविजलीघर अथवा कोई भी दूसरा जटिल संयंत्र वास्तविक रूप में बनाने से पहले उसकी परियोजनाएं आंकी और परखी जाती हैं। इसकी एक विधि गणितीय निदर्श (माडल) बनाना भी है।

द्रुत गति से परिवर्तनशील जीवन के भावी विकल्पों के भी निदर्श बनाये जाने चाहिए। आज संसार भर में सामाजिक, प्राकृतिक और तकनीकी क्षेत्रों के विद्वान एकजुट होकर इस दिशा में काम कर रहे हैं। विश्वव्यापी सामाजिक प्रक्रियाओं के निदर्श बनाकर, उदाहरणतः, यह पता लगाने का प्रयास किया जा रहा है कि १०, २०, १०० साल बाद संसार की जनसंख्या कितनी होगी, नगर कैसे बढ़ेंगे, विज्ञान और प्रविधि की इन या उन शाखाओं का विकास किस दिशा में होगा।

कहना न होगा कि मानवजाति के ऐतिहासिक अनुभव और विश्व-जनगण की परंपराओं को ध्यान में रखे बिना ऐसे निदर्श नहीं बनाये जा सकते।

लेकिन, फ़िलहाल, सामाजिक विकास के परिप्रेक्ष्यों के निदर्श बनाने में इतिहासकारों, नृजातिविज्ञानियों और संस्कृतिविदों की सहभागिता जितनी होनी चाहिए, उससे कहीं कम है। हालांकि, जनगण और संस्कृतियों के अतीत एवं वर्तमान के विशेषज्ञों, ऐतिहासिक काल के अनुशीलन के सशक्त उपायों से लैस जानकारों से अधिक अच्छी तरह इस समस्या को और कौन समझ सकता है?

इतिहास की नदी जिस पाट में वहती आयी है, वही बहुत हद तक भावी विकल्प निर्धारित करता है। इस विशाल नदी की धारा स्थानीय इतिहासों की असंख्य छोटी-छोटी धाराओं से ही बनती है, वैसे ही जैसे मानवजाति की संस्कृति स्थानीय, नृजातीय संस्कृतियों का कुलयोग, बल्कि मात्र कुलयोग से भी बढ़कर

कुछ, है। इनमें से प्रत्येक इतिहास का सामूहिक अनुभव, जिसमें अनेकानेक परंपराएं, आचार-नियम शामिल होते हैं, विज्ञान द्वारा ध्यान में रखा जाना तथा भविष्य के लिए प्रयुक्त होना चाहिए।

–प्रत्येक जनगण के आविष्कारों में बहुत कुछ – वह सब जो सारी मानवजाति के लिए महत्व रखता है – पुराने ज़माने से ही दूसरे जनगण द्वारा भी उपयोग में लाया जाता रहा है। उदाहरणतः, सुमेर या प्राचीन यूनान में, १८वीं शती के फ़्रांस या २०वीं शती के रूस में सामाजिक विकास के पथ पर उठाये गये हर क़दम के फलस्वरूप पड़ोसी समाजों में भी और सारे संसार में भी इतिहास की गति तीव्र हुई।

किंतु महान सामाजिक आविष्कारों के अलावा जनगण ऐसे आविष्कार भी करते हैं, जो इतने विशिष्ट तो नहीं होते, किंतु फिर भी काफ़ी महत्त्वपूर्ण होते हैं।

इन्हें भी खोना नहीं चाहिए, वैसे ही जैसे अंतरग्रहीय आवागमन साधनों की खोज हो जाने पर ग्रामीण क्षेत्र की कच्ची सड़कों और उन पर चलने लायक़ मोटरगाड़ियों को नहीं भुलाना चाहिए। ... विवाह की हमारी पुरानी रस्मों और प्रथाओं में कौन-सी ऐसी हैं, जो परिवार को सुदृढ़ बनाने में सबसे अधिक सहायक हैं, पूर्वजों की स्मृति के, बड़ों के प्रति आदर-सम्मान प्रकट करने के तथा शिष्टाचार के कौन-से रूप समाज को मज़बूत बनाने के लिए, उसमें सामाजिक-मनोवैज्ञानिक वातावरण सुधारने के लिए सर्वश्रेष्ठ हैं? यहां हमने अंदाज़ से ही कुछ ऐसे प्रश्न ले लिये हैं, जिनका उत्तर मानवजाति के सामूहिक अनुभव के अध्ययन से मिल सकता है। बेशक, इसमें दत्त समाज की संस्कृति में आये सामान्य परिवर्तनों को भी ध्यान में रखना होगा।

नृजातिविज्ञान के ज्ञान-भंडार का, जिसे अभी हाल ही तक सही विश्व-दृष्टिकोण के निरूपण के लिए ही महत्वपूर्ण माना जाता था, भविष्य के निदर्श बनाने के लिए और, फलतः, इस भविष्य के विज्ञानसम्मत निर्माण के लिए भी उपयोग किया जा सकता है।

हां, यह सब अत्यंत कठिन है, किंतु आवश्यक है। सो, यह सब किया जाना चाहिए।

अंत में हम एक बार फिर वह मूल विचार दोहराना चाहेंगे, जिसे हमने इस पुस्तक में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है:

संस्कृति वह सब है, जिसकी मानवजाति ने रचना की है और कर रही है; वह विविधतापूर्ण है और एक है; वह हमारे साथ परिष्कृत होती है और हमें परिष्कृत करती है। लोग संस्कृति के रचयिता हैं और साथ ही उसकी रचना भी।

आज, जबकि मानवजाति की संस्कृति, उसकी सभ्यता के तापनाभिकीय ज्वाला में भस्म हो जाने का खतरा है, यह बात नितांत महत्वपूर्ण है कि सभी लोग उसकी अद्वितीयता को समझें और शांति की रक्षा में उठ खड़े हों।

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन इस पुस्तक की विषय-वस्तु, उसके अनुवाद और डिज़ाइन संबंधी आपके विचारों के लिए आपका अनुगृहीत होगा। आपके अन्य सुझाव प्राप्त कर भी हमें बड़ी प्रसन्नता होगी। हमारा पता है:

प्रगति प्रकाशन,
१७, ज़ूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ।

$1/\sqrt{1-\vartheta^2/c^2}$
$m=m_0/\sqrt{1-\vartheta/c^2}$